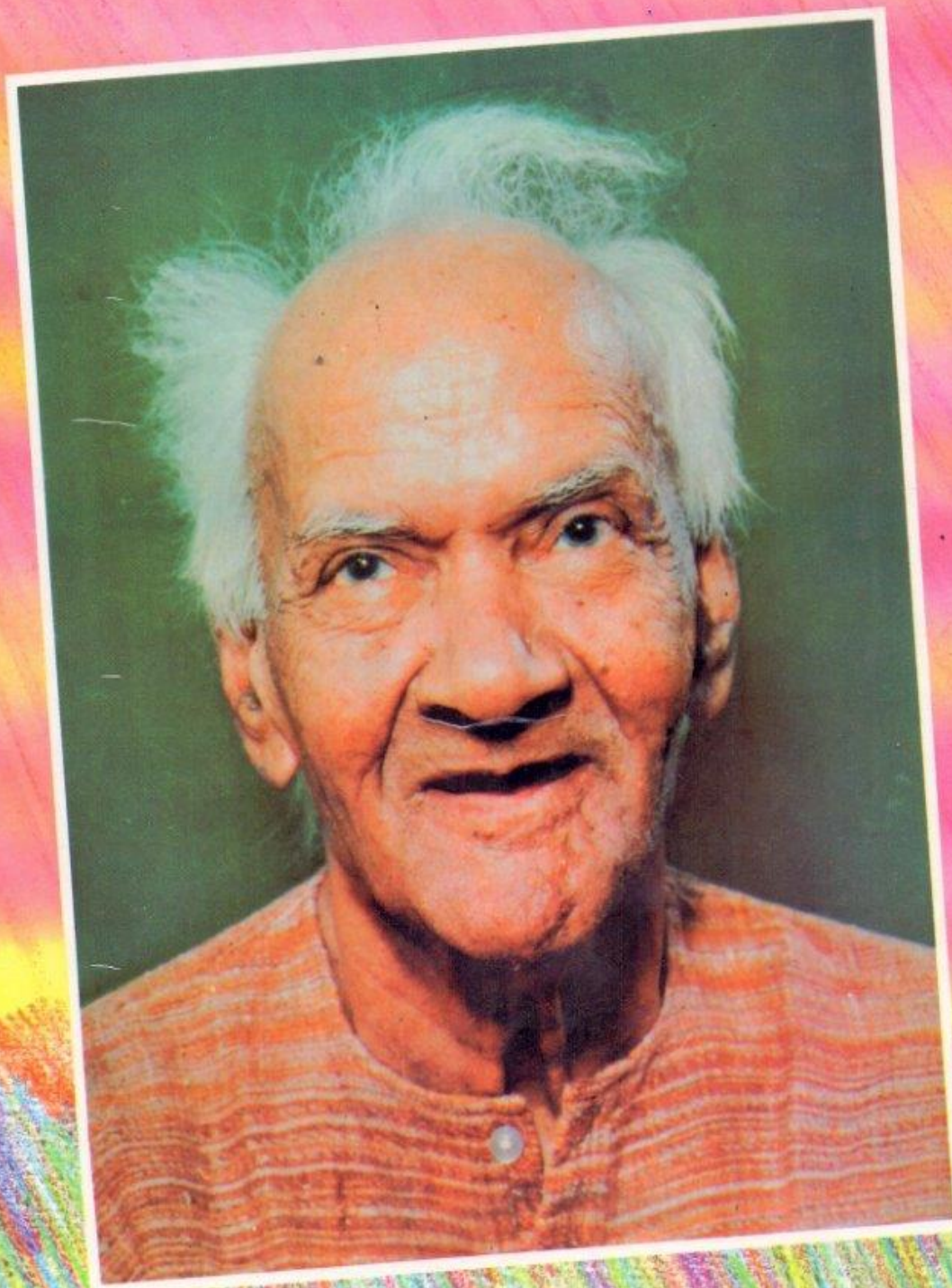


पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

मरकर भी अमर हो गये जो



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

मरकर भी अमर हो गये जो



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा - २८१००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८

www.vicharkrantibooks.org



मूल्य १२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ मातरं भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

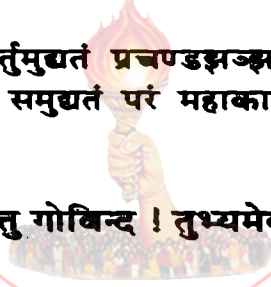
भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

www.vicharkrantibooks.org

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक

एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अद्वैत वृद्ध महिला की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनमें चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनमें प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनमें संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा-पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, ज्ञान अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे। आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्टी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्टी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शान्तिकुज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यक्षसय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनो को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेघ यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल धाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तपःपूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बताया। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तंक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

विषय सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-१		अध्याय-२	
विश्व की महान महिलायें		शौर्य और पराक्रम के कीर्तिस्तम्भ	
स्वतन्त्रता के लिये प्राण अर्पण करने वाली		वीर शिरोमणि : दुर्गादास	२.१
रानी दुर्गावती	१.१	स्वतन्त्रता के महान उपासक : महाराणा प्रताप	२.१४
उदारता और महानता की प्रतिमूर्ति		शौर्य और धर्म-निष्ठा के प्रतीक : वीर शिवाजी	२.२७
महारानी अहिल्याबाई	१.१४	पंजाब-केसरी : लाला लाजपत राय	२.४१
आदर्श वीरांगना		भारत माता के निर्भय सेनानी : सरदार पटेल	२.५४
रानी लक्ष्मीबाई	१.२८	स्वातंत्र्य यज्ञ के हुतात्मा : वीर सावरकर	२.६७
तत्त्व ज्ञान की संदेश वाहिका		स्वाधीनता के पुजारी : सुभाषचन्द्र बोस	२.८०
श्रीमती ऐनीबेसेण्ट	१.४१	अमर बलिदान के उन्नायक वीर-शिरोमणि	
भारतीय संस्कृति की अनन्य आराधिका		चन्द्रशेखर आजाद	२.९३
भगिनी निवेदिता	१.५४	मातृभूमि के सम्मान की रक्षा करने वाला	
पीड़ित मानवता की सेविका		क्रान्तिवीर भगतसिंह	२.१०७
फ्लोरेन्स नाइटिंगेल	१.६७	स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता	
मातृभूमि की सच्ची सेविका		डॉ. सनयातसेन	२.११६
श्रीमती सरोजिनी नायडू	१.८०	जन-क्रान्ति के अध्वर्यु : महापुरुष लेनिन	२.१३२
सेवा व्रत का आदर्श उपस्थित करने वाली		धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के अध्वर्यु	
अवन्तिकाबाई गोखले	१.९३	कमाल पाशा	२.१४५
भारतीय नारियों के लिये आदर्श		अध्याय-३	
राष्ट्रमाता कस्तूरबा	१.१०६	जनजागृति के प्रणेता-ज्ञानक्रान्ति के अग्रदूत	
समाज-सुधार और जन-सेवा में संलग्न		वन्दे मातरम् मन्त्र के प्रणेता : बंकिम चन्द्र	३.१
जानकी मैया	१.११६	स्वाधीनता के मंत्रदाता : लोकमान्य तिलक	३.१३
जातीयता और संस्कृति की संरक्षक		धर्मप्राण-महामना : पं. मदनमोहन मालवीय जी	३.२६
गोल्डामेयर	१.१३२	साहित्यिक-ऋषि : रवीन्द्रनाथ टैगोर	३.४०
		राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन	३.५३

भूमिका

जीवन जीते तो सभी हैं किन्तु अन्यान्यों की तरह पेट प्रजनन मात्र का जीवन न जीकर औरों के लिए कुछ करके संस्कृति-समाज-राष्ट्र की बलिवेदी पर चढ़ जाने वाले कुछ ऐसे होते हैं जो अपने आपको इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में अंकित करा अमर हो जाते हैं। ऐसे महामानव ऐसी देवियाँ जो मर कर भी अमर हो गयीं तथा जिनकी कीर्ति सदा के लिए अक्षुण्ण हो गयी-प्रेरणा देते हैं हमें सत्य पर चलने की। ऐसी ही विश्व की कुछ महान महिलाओं, शौर्य और पराक्रम के कीर्ति स्तम्भों तथा जन-जागृति के प्रणेता ज्ञान क्रांति के अग्रदूतों के जीवन वृत्तों के माध्यम से इस वाङ्मय में सबके समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इनके जीवन से यदि हम प्रेरणा प्रकाश ले सकें तो हम भी स्वयं को सामान्य से असामान्य बना सकते हैं। आज सत्संग का श्रेष्ठतम रूप स्वाध्याय है- उन महामानवों के जीवनक्रम का जो हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु जिनका जीवन जीती-जागती प्रयोगशाला-एक जगमगाता कीर्ति स्तम्भ रहा है। हमारी अनेकानेक समस्याओं का समाधान भी इन सब जीवन-वृत्तों को पढ़कर मिलता है, साथ ही आत्मिक-लौकिक प्रगति से लेकर राष्ट्र देवता की साधना-आराधना का मार्गदर्शन भी मिलता है।

रानी दुर्गावती, अहिल्याबाई एवं लक्ष्मी बाई हमारे भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा स्थान प्राप्त कर चुकी हैं कि हर स्त्री को अपने स्त्री होने पर गौरव हो सकता है। आज जब नारी को पद दलित-अपमानित-लज्जाहीन किया जा रहा है, इन तीनों के पराक्रम से-एकाकी पुरुषार्थ-बढ़े-चढ़े मनोबल से किये गये कर्तव्य हर नारी को प्रेरणा देते हैं अन्यान्य से लड़ने के लिए। मात्र विगत डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास है इनका किन्तु ये सभी अमर हो प्रेरणा का स्रोत बन गयीं। अवन्तिका बाई गोखले, सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गाँधी, जानकी मैया भी इसी तरह हमारे लिए सदा प्रेरणा का स्रोत रहेंगी। समाज सेवा-राष्ट्र की सेवा-परतंत्रता से मुक्ति में भागीदारी में गृहस्थ जीवन किसी भी तरह बाधक नहीं, यह सभी इसका प्रमाण हैं। श्रीमती एनीबेसेण्ट एवं भगिनी निवेदिता (कुमारी नोबुल) मूलतः तन से विदेशी थीं किन्तु इनका अंतरंग भारतीयता के रंग में रंगा था। दोनों ने ही अपना पूरा जीवन तत्कालीन परतंत्र भारत में परिस्थितियों को अपने-अपने मंच से अध्यात्म के माध्यम से सुधारने में नियोजित कर दिया। जहाँ एनीबेसेण्ट "थियोसॉफी" के रूप में सर्वधर्म समभाव के प्रतीक के आंदोलन के सर्वेसर्वा के रूप में उभरीं वहाँ स्वामी विवेकानन्द की शिष्या भगिनी निवेदिता ने अपनी गुरु-आराध्य सत्ता के कार्यों को-नारी जागरण के कार्यों को संपादित करने में अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहकर स्वयं को खपा दिया। फ्लोरेस नाइटिंगेल नर्सिंग आंदोलन की प्रणेता हैं। सेवा एक ऐसा धर्म है जो नारी अपनी संवेदना का स्पर्श देकर भली-भाँति सम्पन्न कर सकती है, इसका उदाहरण बर्नी नाइटिंगेल।

वीर शिरोमणि दुर्गादास, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी शिखरों पर पहुँचे हुए ऐसे पराक्रमी व्यक्तित्व हैं जिनके पुरुषार्थ की आधारशिला पर ही, भारतवर्ष जो आज का है, का इतिहास लिखा गया। ये न होते तो क्लीव-कायर-परस्पर लड़कर ही मिट जाने वाली हमारी बहुसंख्य जनशक्ति अपनी धर्म-संस्कृति को भूलकर लुप्त हो गयी होती। स्वयं तकलीफें सहकर जीवन भरण-संग्राम में अनीति से लड़ते हुए जुझारू जीवन जीने वाले ये महामानव स्वतंत्र भारत के नींव के पत्थर हैं। लाला लाजपतराय का त्याग-बलिदान, सरदार पटेल, वीर सावरकर, आजाद, भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस की राष्ट्रवेदी पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाली शौर्य भरी शहादत हमारे इस सदी के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है। ये न होते तो शायद भारत एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में आज की स्थिति में हमें न मिला होता। कम उम्र में ही फाँसी चढ़ जाने वाले भगतसिंह, आजाद हिन्द फौज बनाकर फिरंगियों से सतत संघर्ष करने वाले सुभाष एवं क्रांतिकारियों का जत्था बनाकर ब्रिटिश शासकों को भारत से जाने के लिए विवश करने वाले योद्धा

चन्द्रशेखर आजाद को कौन भूल सकता है । डॉ० सनयात सेन, लेनिन व कमाल पाशा ने क्रमशः चीन, रशिया व तुर्की में वह कार्य कर दिखाया जो क्रांतिकारियों ने हमारे देश में किया । पूज्यवर की लेखनी से इनकी जीवनी नयी तूलिका के रंग में रंग गयी है ।

ज्ञान क्रांति द्वारा जन-जागरण करने वाले महापुरुषों में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (जिनने वंदेमातरम् गीत लिखा), जेल में गीता रहस्य लिखने वाले व सतत संघर्षरत लोकमान्य तिलक, बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के संस्थापक पंडित मदनमोहन मालवीय का नाम शीर्षस्थान पर लिया जाता है । गुरुदेव कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने न केवल साहित्य द्वारा क्रांतिधर्मी वातावरण बनाया , अपनी विद्वता से नोबुल पुरस्कार भी पाया । राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने राष्ट्रीय नेशनल कांग्रेस में श्रुति की तरह सेवा करते हुए हिन्दी भाषा को जो स्थान प्राप्त कराया, वह चिरस्मरणीय रहेगा ।

विविधता से भरा यह जीवन वृत्तों का संग्रह निश्चित ही हर किसी के लिए प्रेरणा का स्रोत बनेगा ।

-ब्रह्मवर्चस



॥ विश्व की महान महिलायें ॥

स्वतन्त्रता के लिये प्राण अर्पण करने वाली रानी दुर्गावती

मानव-सभ्यता के आदिकाल से नारी का कार्यक्षेत्र घर माना गया है। वही सन्तान की जननी, पालन करने वाली और संरक्षिका है। पुरुष को वह जैसा बनाती है, वह प्रायः वैसा ही बन जाता है। इस दृष्टि से यदि उसे मानव जाति की निर्माणकर्त्री कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वैसे प्रकृति ने नारी को सभी प्रकार की शक्तियाँ और प्रतिभायें पूर्ण मात्रा में प्रदान की हैं, पर गृह-संचालन की जिम्मेदारी के कारण उसमें मातृत्व और पत्नीत्व के गुणों का ही विकास सर्वाधिक होता है। उसको अपने इस क्षेत्र से बाहर निकलने की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है, पर जब आवश्यकता पड़ती है तो वह अन्य क्षेत्रों में भी ऐसे महानता के कार्य कर दिखाती है कि दुनिया चकित रह जाती है।

यद्यपि वर्तमान समय में परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के पेशों में प्रवेश कर रही हैं और शिक्षा, व्यवसाय, कला, उद्योग-धन्ये, सार्वजनिक सेवा आदि अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त संख्या में स्त्रियाँ दिखाई पड़ने लगी हैं। यद्यपि हमारे देश में अभी यह प्रकृति आरम्भिक दशा में है, पर विदेशों में तो करोड़ों स्त्रियाँ सब प्रकार के जीवन-निर्वाह के पेशों में भाग ले रही हैं। यदि, यह कहा जाये कि इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस आदि देशों की तीन-चौथाई से अधिक स्त्रियाँ गृह-व्यवस्था के अतिरिक्त अर्थोपार्जन और समाज-संचालन के अन्य कार्यों में भी संलग्न हैं, तो इसे गलत नहीं कहा जा सकता।

पर एक क्षेत्र ऐसा अवश्य है, जिसमें हमारे देश तथा अन्य देशों की स्त्रियों ने बहुत कम भाग लिया है और वह है सेना और युद्ध का विभाग। हमारे देश में बहुत समय से नारी को कभी इस कार्य के लिये उपयुक्त माना ही नहीं गया और इसलिये उसका एक नाम 'अबला' भी रख दिया गया है। लोगों का ख्याल है कि अधिकांशतः घर के भीतर रहने से स्त्रियों में संघर्षता का वह गुण उत्पन्न ही नहीं हो पाता जो सैनिक कार्यों के लिये आवश्यक है।

पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि स्त्रियाँ इस क्षेत्र में कुछ कर ही नहीं सकतीं। यद्यपि सामाजिक परिस्थितियाँ तथा नियमों के कारण ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, लेकिन समय-समय पर ऐसी वीरांगनायें उत्पन्न हुई हैं जिन्होंने वीरता तथा युद्ध सम्बन्धी कार्यों में पुरुषों से अधिक साहस और योग्यता दिखाई है। ऐसी एक वीर नारी तो हमारे समय में ही हो चुकी है। वह थी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई जिसने सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया है। यद्यपि गदर में सैकड़ों ही सरदारों, राजाओं और नबावों ने भाग लिया था, पर इतिहासकार मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि उनमें से किसी ने भी झाँसी की रानी से बढ़कर शौर्यता, वीरता का परिचय नहीं दिया। झाँसी के किले में और कालपी तथा ग्वालियर के युद्ध-क्षेत्रों में उसने जैसा पराक्रम और युद्ध सम्बन्धी कुशलता दिखाई उस पर मुग्ध होकर अंग्रेजी सेनाओं के मुख्य सेनापति और युद्ध-कला में निष्णान्त सर ह्यारोज ने अपने संस्मरणों में स्पष्ट लिखा है कि "भारतीय विद्रोही दल में अगर कोई मर्द था तो वह झाँसी की रानी ही थी।" इसीलिये हम आज भी गाँव-गाँव और गली-गली में बच्चों के मुख से भी सुनते रहते हैं—"खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"

अकबर का मान-मर्दन करने वाली दुर्गावती

एक ऐसी ही वीरांगना आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले भी हुई थी। उस समय भी सम्राट अकबर के दबदबे से बड़े-बड़े राजा उसके आधीन हो गये थे। जबपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि के प्रसिद्ध क्षत्रिय नरेशों ने अकबर की आधीनता ही स्वीकार नहीं कर ली थी वरन् वे उसके सहायक भी बन गये थे। एकमात्र चित्तौड़ के महाराणा प्रतापसिंह को छोड़कर किसी राजा ने अकबर का सामना करने का साहस नहीं किया। पर उस समय भी नारी होते हुए भी रानी दुर्गावती ने दिल्ली-सम्राट की विशाल सेना

के सामने खड़े होने का साहस किया और उसे दो बार पराजित करके पीछे खदेड़ दिया ।

दुर्गावती कालिंजर के राजा कीर्तिराय की पुत्री थी । उनकी एकमात्र सन्तान यही थी और इसलिये उन्होंने उसे पुत्र के समान ही पाला था । उसने शस्त्र चलाने की शिक्षा बचपन से ही पाई थी और तेरह-चौदह वर्ष की आयु में ही वह सिंह, तेंदुआ आदि भयंकर वन जन्तुओं का शिकार करने लग गई थी ।

दलपतिशाह से विवाह

दुर्गावती के विवाह की घटना कम रोमांचकारी नहीं है । दलपतिशाह एक प्रसिद्ध, वीर और योग्य शासक था । उसके राज्य की व्यवस्था उत्तम थी और सुरक्षा की दृष्टि से भी उसकी सेना इतनी विशाल और समस्त साधनों से युक्त थी कि मुसलमान शासकों को उस पर आक्रमण करने का कभी साहस नहीं होता था । जब दलपतिशाह ने राजकुमारी दुर्गावती के रूप और वीरता की चर्चा सुनी तो उसने उसी को अपनी पत्नी बनाने का निश्चय किया । उसने पुरोहित और एक-दो सरदारों को कालिंजर भेजा कि वे राजा कीर्तिराय के सम्मुख इस प्रस्ताव को रखें । दुर्भाग्यवश कीर्तिराय कुछ पुराने खालों के व्यक्ति थे और जात-पाँत की मर्यादा को ही सबसे बड़ी चीज मानते थे । वे महोबा के चन्देल राजाओं के वंशज थे, जिनके दरबार में आल्हा, ऊदल जैसे भारत प्रसिद्ध वीर रहते थे । यद्यपि उनका अन्त हुए पाँच सौ वर्ष बीत चुके थे, और इस बीच मुसलमानों ने हिन्दू धर्म और जाति की खूब दुर्गति की थी, पर कीर्तिराय उन लोगों में से थे, जो इन बातों से शिक्षा ग्रहण करने के बजाय पुरानी शान में ही डूबे हुए थे । उनको मालूम हुआ कि दलपति शाह उनकी अपेक्षा कुछ नीची श्रेणी का क्षत्रिय है, बस उन्होंने अन्य सब बातों की उपेक्षा करके इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट कह दिया कि हम अपने से निम्न श्रेणी के क्षत्रिय को अपनी पुत्री नहीं दे सकते ।

जिस प्रकार दलपतिशाह, दुर्गावती के रूप, गुण की चर्चा सुनकर उसकी तरफ आकर्षित हुआ था, उसी प्रकार दुर्गावती भी उसकी प्रशंसा सुनकर अपने मन में उसे अपना पति बनाने का विचार करती रहती थी, पर उस समय यहाँ के क्षत्रियों की बुद्धि ऐसी विपरीत हो गई थी कि वे शादी विवाह के अवसर पर प्रायः लड़ाई-झगड़ा पैदा कर लेते थे । आल्हा-ऊदल की कथायें चाहे जितनी अतिशयोक्तिपूर्ण हों, पर इतना मानना पड़ेगा कि निम्नश्रेणी का होने के कारण अधिकांश राजा उनके साथ अपनी पुत्रियों का विवाह करने को राजी नहीं होते थे इसलिये उन्हें लड़कर

ही अपनी पत्नियाँ प्राप्त करनी पड़ी थीं । इतना ही नहीं, इतिहास प्रसिद्ध महाराज पृथ्वीराज चौहान भी कन्नौज के राजा जयचन्द की पुत्री को स्वयंवर में से बलपूर्वक हरण कर लाये थे और इसी के प्रतिकारस्वरूप जयचन्द ने विदेशी आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी को दिल्ली पर आक्रमण करने को प्रेरित किया था । पृथ्वीराज को पराजित कर लेने के उपरान्त पठान आक्रमणकारियों ने जिस प्रकार एक-एक करके भारत के समस्त राजाओं को पद-दलित किया और हिन्दू-धर्म के पवित्र स्थानों की जैसी दुर्दशा की वह भी इतिहास के पढ़ने वालों से छिपी नहीं है ।

सब पूछा जाये तो भारतवर्ष की पराधीनता का एक बड़ा कारण यहाँ के शासक वर्ग का यह झूठा अहंकार और जात-पाँत का भेदभाव ही था । इससे उनकी एकता नष्ट हो गई और वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटकर तीन-तेरह हो गये । उनकी देखा-देखी उनकी प्रजा में भी ऊँच-नीच और छोटी-बड़ी जाति का विष फैल गया और समस्त देश एक संगठित शक्ति होने के बजाय छोटे-छोटे भागों में विभाजित लोगों की भीड़ की तरह हो गया । ऐसी दशा देखकर विदेशियों का आकर्षित होना स्वाभाविक ही था । वे धर्म, सामाजिक आचार-विचार, वेश, भाषा आदि सब दृष्टियों से एक समान थे और इस आधार पर पूर्णतः संगठित थे । जब उन्होंने देखा कि भारतवर्ष जैसा समृद्ध तथा सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न देश ऐसे असंगठित और आपस में फूट रखने वाले लोगों के अधिकार में है तो उन्होंने उसे बलपूर्वक छीन लिया । यदि ऐसा न होता तो कोई कारण न था कि कुछ हजार आक्रमणकारी करोड़ों की आबादी वाले देश को कुछ वर्षों में पद-दलित करके यहाँ अपना शासन स्थापित कर सकते । बिहार के कई नगरों के लिये तो इतिहासकारों ने यहाँ तक लिखा है कि बख्तियार खिल्जी ने केवल अठारह सवारों को लेकर ही कब्जा कर लिया था ।

कीर्तिराय के अहंकारपूर्ण उत्तर को सुनकर दलपतिशाह को बुरा लगा और उसने एक शक्तिशाली सेना लेकर कालिंजर पर हमला कर दिया । कीर्तिराय भी वीर था, पर दलपति उसके मुकाबले में नई उम्र का जोशीला व्यक्ति था । उसने दो चार मुठभेड़ों के बाद ही जिनमें सैकड़ों वीर मारे गये कालिंजर पर अधिकार कर लिया । फिर भी उसने पराजित कीर्तिराय के प्रति किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया और उसकी कन्या दुर्गावती की उसी प्रकार याचना की मानो कोई बात ही न हुई हो । उसकी सज्जनता देखकर कीर्तिराय को अपनी करनी पर बड़ा पश्चाताप हुआ और उसने विधिपूर्वक दुर्गावती का विवाह उसके साथ कर दिया ।

१.३ मरकर भी अमर हो गये जो

पुत्र का जन्म और पति का निधन

विवाह के पश्चात् दम्पति सुखपूर्वक अपनी राजधानी गढ़मण्डला में रहने लगे और एक साल बाद ही एक पुत्र का जन्म होने से उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। पर होनहार को कौन जानता है? दो साल बाद ही दलपतिशाह बीमार पड़े और कुछ ही समय में उनके जीवन का अन्त हो गया। दुर्गावती के शोक-संताप का ठिकाना न रहा। पति के न रहने पर उसने सती होकर उसी के साथ जाने का निश्चय कर लिया, पर दलपतिशाह के शुभचिन्तकों ने तीन वर्ष के राजकुमार के अनाथ हो जाने का भय दिखाकर उसे ऐसा कृत्य करने से सर्वथा रोक दिया। पुत्र के मुख को देखकर दुर्गावती को भी विवश होकर इसे स्वीकार करना पड़ा।

पति के मरने पर दुर्गावती ने अपने पुत्र वीर नारायण को गद्दी पर बैठाया और स्वयं संरक्षिका के रूप में राज्य की व्यवस्था करने लगी। उसने यह कार्य ऐसे मनोयोग, योग्यता और परिश्रम से किया कि थोड़े ही समय में वहाँ की कायापालट हो गई। राजा के सुखी और सन्तुष्ट होने से राज्य का वैभव भी बढ़ने लगा और दुर्गावती का नाम चारों तरफ फैल गया। उसने राजकुमार की शिक्षा का भी बहुत अच्छा प्रबन्ध किया और स्वयं उसको हर तरह के हथियार चलाना और अपनी रक्षा करना सिखाने लगी। लोगों को आशा हो गई कि वीर नारायण अवश्य ही बड़ा होकर एक आदर्श नृपति बनेगा।

स्त्रीत्व का अभिशाप

पर पर्दे के पीछे दुर्गावती के लिये एक नई विपत्ति सिर उठा रही थी। जैसे-जैसे उसके राज्य की समृद्धि बढ़ती जाती थी, चारों तरफ यश फैलता जाता था, वैसे ही वैसे उससे अनेक ईर्ष्या करने वाले भी पैदा होते जाते थे। अगर कोई पुरुष शासक ऐसी उन्नति करता तो सम्भवतः लोगों का ध्यान उसकी तरफ अधिक आकर्षित न होता, पर एक स्त्री का इतना आगे बढ़ना और अधिकांश पुरुष शासकों के लिये भी उदाहरण स्वरूप बन जाना उनको खटकने लगा। वास्तव में दलपतिशाह का देहान्त हो जाने पर आस-पास के शासकों ने तो उसके गौडवाना राज्य को लावारिसी माल समझ लिया था कि यह अब हमारे ही अधिकार में आयेगा, पर जब दुर्गावती की शक्ति और सुप्रबन्ध बढ़ते जाने से उसकी स्थिति और भी मजबूत हो गई तो उनकी आँखें खुलीं, पहले तो मालवा के शासक बाज बहादुर ने गढ़मण्डला पर हमला किया, पर दुर्गावती ने उसे ऐसी करारी हार दी कि उसे अपना सब कुछ छोड़कर जान बचाकर भागना पड़ा। उसके बाद अन्य किसी छोटे शासक

की यह हिम्मत न हुई कि गढ़मण्डला की तरफ आँख उठाकर भी देख सके।

इस समय दिल्ली के तख्त पर अकबर विराजमान था, वह भी कम उम्र का ही था, पर परिस्थितियों ने उसे उसी उम्र में महत्वाकांक्षी और कूटनीतिज्ञ बना दिया था। उसने देखा कि अगर इस देश में जमकर सफलतापूर्वक शासन करना है तो यहाँ के प्रभावशाली व्यक्तियों से मिलकर ही चलना पड़ेगा। इसलिये उसने राजपूत राजाओं के साथ शादी-विवाह का प्रस्ताव किया और दो-एक स्थानों के शासकों से ऐसा सम्बन्ध स्थापित करके उनके पक्के हितैषी और मित्र भी बन गये, जो लोग इस तरह की चालों में न आये उनको ताकत के जोर से दबा दिया गया। उसने मालवा और बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया था और अब गौडवाना (मध्य प्रदेश) तथा दक्षिण की तरफ बढ़ने की कोशिश कर रहा था। रानी दुर्गावती ने भी उसके इरादों का अनुमान कर लिया था, पर इतने बड़े सम्राट का सामना करने की शक्ति गढ़मण्डला में थी नहीं। फिर भी रानी समय को निकालती हुई चुपचाप अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाती रही। उसने निश्चय कर लिया कि वह चाहे एक स्त्री ही है, तो भी अकबर के किसी अन्यायपूर्ण आदेश को नहीं मानेगी और न अपनी स्वाधीनता को सहज में नष्ट होने देगी।

अकबर की दुरभिसन्धि

अकबर ने कड़ा (प्रयाग) के सूबेदार आसफखॉ को आदेश दे रखा था कि वह गौडवाना राज्य का हाल-चाल लेता रहे और भीतर ही भीतर ऐसी तोड़-फोड़ करता रहे कि वह प्रदेश सहज में ही अपने अधिकार में आ जाये। आसफखॉ स्वयं ही गौडवाना के वैभव को देखकर ललचा रहा था कि दिल्ली से सैनिक सहायता मिल जाये तो उसका एक ही बार में सफाया कर दिया जाये। उसने अपने गुप्तचर भेजकर रानी दुर्गावती के कुछ लालची और चरित्रहीन सरदारों को भी धन और पद का लोभ दिखाकर अपनी ओर फोड़ लिया।

इतनी तैयारी की खबर पाकर अकबर युद्ध का बहाना बूँदने लगा। उसने सुन रखा था कि गढ़मण्डला का पुराना मन्त्री आधारसिंह बड़ा योग्य और स्वामिभक्त है और रानी की सफलता में उसका भी बड़ा हाथ है। बस उसने एक चाल सोची और दूत के हाथ एक पत्र दुर्गावती को भेजा कि वह मन्त्री आधारसिंह को दिल्ली भेज दे, जहाँ उससे कुछ शासन सम्बन्धी कार्य कराया जायेगा। अकबर का वास्तविक इरादा यह था कि अगर रानी आधारसिंह को भेजने से इन्कार करेगी तो इसी बहाने उस पर चढ़ाई कर

दी जायेगी और यदि वह दिल्ली आ गया तो उसे हर तरह का लालच दिखाकर अपनी तरफ मिला लिया जायेगा और उसी को आगे करके गोंडवाना पर आक्रमण किया जायेगा, जिससे वहाँ की प्रजा में भी फूट पड़ जाये ।

इस पत्र को पाकर रानी सोच-विचार में पड़ गई, वह अपने स्वामिभक्त मन्त्री को किसी प्रकार की विपत्ति में फँसने देना नहीं चाहती थी, पर वह यह समझती थी कि यदि वह बादशाह के आदेश को अमान्य कर देगी तो यही उसके लिये एक बहाना मिल जायेगा । अन्त में उसने यही निर्णय किया कि जब घटना एक दिन होनी ही है तो इसी समय क्यों न हो जाये । बर्थ में अपने सच्चे हितैषी मन्त्री के प्राण संकट में क्यों डाले जायें ? पर आधारसिंह ने स्वयं इस विचार से असहमति प्रकट की । उसने कहा कि अगर मेरे वहाँ जाने से यह बला टल जाये तो इससे अच्छा क्या होगा ? मैं कोई बच्चा या नमक हराम तो हूँ नहीं कि मुझे अकबर अपनी तरफ फोड़ ले । इसके बजाय दिल्ली जाकर मैं स्वयं उसकी योजना और चालों का पता लगाऊँगा और उनके निष्फल करने का भी प्रयत्न करूँगा । मैं आपके स्वाधीनता प्रेम का जिक्र उसके सामने अच्छे तरह कर दूँगा और समझा दूँगा कि गोंडवाना को जीतना उतना सहज नहीं है जितना उसने समझ रखा है । अगर वह किसी तरह मान जाये तो अच्छा ही है अन्यथा अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राण देना तो प्रत्येक स्वाभिमानी पुरुष का कर्तव्य ही है ।

रानी ने मन्त्री को रोकने की बहुत चेष्टा की, पर अन्त में उसका दृढ़ आग्रह देखकर वह चुप हो गई । दिल्ली पहुँचने पर आधारसिंह ने वही बात पाई जिसकी आशंका थी । अकबर ने पहले तो उसी को गोंडवाना का शासक अथवा अपना मन्त्री बनाने का लालच दिया, पर जब उस पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा तो उसको जेलखाने में बन्द कर दिया । इसके बाद उसने आसफख़ाँ को शीघ्र ही गोंडवाना पर चढ़ाई की तैयारियाँ करने का आदेश दिया ।

यद्यपि इतिहास में अकबर को महान् कहा गया है और वास्तव में भारत में मुगल-साम्राज्य की जड़ को मजबूत करने वाला वही था । वह बड़ा दूरदर्शी और प्रतिभाशाली शासक था तथा बिना पढ़ा-लिखा होने पर भी उसने वह काम कर दिखाया जो सैकड़ों विद्वानों के लिये भी सम्भव नहीं । उसने एक तरफ अपना राज्य चारों तरफ खूब बढ़ाया और दूसरी तरफ, प्रजा की रक्षा और सुख-सुविधाओं में वृद्धि करके श्रेष्ठ शासक होने की ख्याति भी प्राप्ति की । वह पक्का साम्राज्यवादी था और उत्तर से दक्षिण तक तथा पूरब से पश्चिम तक सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में कर

लेना चाहता था । इसमें उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली ।

पर फिर भी रानी दुर्गावती पर चढ़ाई करने की उसकी कार्यवाही का समर्थन हम किसी भी प्रकार नहीं कर सकते । साम्राज्यवादियों के लिये अकारण ही दूसरे राजाओं पर चढ़ाई करना और उनका राज्य छीन लेना कोई नई बात नहीं है । सिकन्दर महान् और चंगेजख़ाँ जैसे शासकों ने ही दूर-दूर के देशों पर आक्रमण नहीं किया बल्कि हमारे भारतीय पुराणों में भी सैकड़ों चक्रवर्ती नरेशों का उल्लेख है जिन्होंने उस समय तक विदित सभी देशों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी । इसका आशय यही निकलता है कि साम्राज्यवाद एक प्रकार का अभिशाप है, जो लाखों निर्दोष लोगों का संहार कर डालता है और लाखों का ही घर-बार नष्ट करके उन्हें पथ का भिखारी बना देता है ।

पर अकबर का गोंडवाना पर आक्रमण इस श्रेणी में भी नहीं आता । रानी दुर्गावती से कभी यह आशंका नहीं हो सकती थी कि वह अकबर की सत्तनत पर आक्रमण करेगी, या फिर शत्रुता ठानकर किसी प्रकार से हानि पहुँचाने का ही प्रयत्न करेगी । फिर स्त्री पर आक्रमण करना एक प्रकार से कायरता की बात समझी जाती है । दुर्गावती एक ऐसे प्रदेश में पड़ी हुई थी जो अर्द्धसभ्य मनुष्यों का निवास स्थान समझा जाता था, जो कि दिल्ली, आगरा जैसे सभ्यता के केन्द्रों से बहुत दूर था । उसका कैसा भी भला या बुरा प्रभाव मुगल साम्राज्य पर नहीं पड़ सकता था पर इनमें से किसी बात का विचार किये बिना उसने गोंडवाना को रौंद डालने का निश्चय कर लिया । सच है, धन और राज्य की लालसा मनुष्य को न्याय-अन्याय के प्रति अन्या बना देती है । वह यह विचार कर ही नहीं सकता कि इसके लिये मुझे लोग भला कहेंगे या बुरा ? लोभ उसकी आँखों पर ऐसी पट्टी बाँध देता है कि उसे सिवाय अपनी लालसापूर्ति के और कोई बात दिखाई ही नहीं देती ।

परन्तु इस प्रकार का आचरण और आदर्श मनुष्य को कभी स्थायी रूप से लाभदायक नहीं हो सकता । उसका दूषित प्रभाव दूर-दूर तक पड़ता है और सब किये-धरे पर पानी फेर देता है । इस प्रकार के मामलों में प्रायः “जैसी करनी वैसी भरनी” की कहावत ही चरितार्थ होती दिखाई पड़ती है । राज्य के लोभ से ही अकबर के इकनौते बेटे जहाँगीर ने विद्रोह किया । जहाँगीर के बेटे खुर्रम ने और भी अधिक उत्पात मचाया और औरंगजेब ने तो राज्य पाने के लिये तीनों भाइयों का सिर काटकर बाप को भी सात वर्ष तक कैद रखा । कुछ विद्वानों ने लिखा है कि अकबर

१.५ मरकर भी अमर हो गये जो

को किसी ने शाप दे दिया था कि तुम्हारे समस्त आगामी वंशज एक-दूसरे के शत्रु होंगे, पर हमारी मान्यता तो यही है कि, हम स्वयं जैसा आचरण करेंगे, वैसे ही संस्कार हमारी आगामी पीढ़ियों के भी बनेंगे। रानी दुर्गावती पर आक्रमण करने का कोई कारण न होते हुए भी केवल इस भावना से चढ़ दौड़ना कि हमारी शक्ति और साधनों का वह मुकाबला कर ही नहीं सकेगी तो उसे लूटा क्यों न जाये, उच्चता तथा श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं माना जा सकता। यों तो डाकू-दल भी अपनी संगठित शक्ति और अस्त्र-शस्त्रों के बल पर लूटमार करते हैं और अपने को बड़ा बहादुर समझते हैं पर कभी किसी डाकू का अन्त अच्छा हुआ हो, यह आज तक नहीं सुना गया।

आधारसिंह को कैद करना भी नीचता का ही कार्य माना जायेगा। एक दूसरे राज्य का व्यक्ति यदि आप पर भरोसा करके आपके यहाँ आता है तो उसके साथ किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार करना श्रेष्ठ पुरुषों का कार्य नहीं। वह एक प्रकार से दुर्गावती के प्रतिनिधि अथवा दूत की हैसियत से दिल्ली आया था। दूत यदि कोई कठोर बात कह देता है, तो भी उसे अवध्य माना जाता है और उसे अपने यहाँ से राजी-खुशी घर जाने देना आर्य संस्कृति का एक नियम है। यवन-संस्कृति में अवश्य इसके विपरीत आचरण देखने में आता है। जैसा कि औरंगजेब ने शिवाजी को बहुत विश्वास देकर बुलाया, पर बाद में अपने यहाँ कैद कर लिया। इसी प्रकार का उदाहरण अकबर ने भी उपस्थित किया तो इसे उसके लिये कलंक स्वरूप ही कहा जायेगा। श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपनी प्रतिज्ञा के विपरीत आचरण कभी नहीं करना चाहिये।

गढ़मण्डला पर आक्रमण

अकबर का आदेश पाकर और यह जानकर कि अब आधारसिंह भी दिल्ली में कैद है, आसफखान ने चटपट चढ़ाई की तैयारी की और गोंडवाना राज्य में घुस गया, पर मुगल शासक फिर भी इस वीरांगना से सशंकित थे और उन्होंने एक साथ दो 'मोर्चों' पर आक्रमण करने की योजना बनाई। एक तरफ तो बादशाही फौज मार्ग में पड़ने वाले छोटे राजाओं तथा जागीरदारों आदि को दबाती हुई आगे बढ़ने लगी और दूसरी ओर बहुत से गुप्तचर समस्त रियासत में फैल कर प्रजा में रानी के विरुद्ध प्रचार करने और अकबर की उदारता, दानशीलता, गुणग्राह्यता की प्रशंसा लोगों को सुनाने लगे। साथ ही कुछ विशेष गुप्तचरों को इसलिये भेजा गया कि वे गढ़मण्डला के कुछ उच्च अधिकारियों और फौजी अफसरों को धन और पद का लालच देकर उन्हें अपनी ओर मिला लें। दुर्भाग्यवश भारत में ऐसे लोगों की

कमी कभी नहीं रही। सन् ११०० में मुहम्मद गोरी के हमले से लेकर सन् १७५७ तक क्लाइव द्वारा बंगाल के शासक सिराजुद्दौला के पतन तथा जयचन्द और मीरजाफर जैसे देशद्रोही भी पैदा होते रहे जिन्होंने भारतभूमि पर आक्रमण करने वालों का प्रतिरोध करने के बजाय उनको सहयोग दिया और देश को दासता के बन्धनों में डालने का पाप कमाया। मुगलों को गढ़मण्डला में ऐसे कई देशद्रोही मिल गये, उनमें से बदनसिंह नाम का सरदार कुछ व्यक्तियों को लेकर अकबर से जा मिला और गढ़मण्डला के समस्त सैनिक रहस्य उसे बता दिये। इससे अकबर वहाँ के शक्तिशाली और कमजोर पहलुओं को अच्छी तरह समझ गया और उसने अपनी सेना में उन सभी साधनों तथा युद्ध-सामग्री की व्यवस्था कर दी जिसकी वहाँ आवश्यकता पड़ने वाली थी।

तोपखाने का अभाव

एक तरफ दिल्ली के साधन सम्पन्न शासकों की तरफ से गढ़मण्डला को ध्वस्त करने की इस तरह की तैयारियाँ हो रही थीं और दूसरी ओर रानी दुर्गावती अपने पूर्वजों की भूमि की रक्षा के लिये प्राणपण से संलग्न थी। उसे इस बात का बड़ा खेद था कि उसके साथियों में ही कुछ "घर का भेदिया" बनकर शत्रु को आगे बढ़ने में मदद पहुँचा रहे हैं, तो भी वह अपने मार्ग से च्युत नहीं हुई। वह अच्छी तरह जानती थी कि मुगल बादशाह के साधनों की तुलना में गढ़मण्डला के साधन अल्प ही हैं, तो भी उसने अपने मन में एक क्षण के लिये भी न तो निराशा आने दी और न कायरता। उसकी दृष्टि अपने कर्तव्यपालन की तरफ थी, फिर उसका परिणाम चाहे जो कुछ निकले।

मुगल सेना के आगे बढ़ने का समाचार पाकर रानी ने अपनी सेना को भी पूरी तरह तैयार हो जाने की आज्ञा दे दी, सिपाहियों की संख्या बढ़ाई गई और उनको कारगर हथियार दिये गये। इसके अतिरिक्त वह अपनी प्रजा में भी हर तरह से शत्रु का प्रतिरोध करने का उत्साह उत्पन्न करने लगी। वह स्वयं और उसका पुत्र वीर नारायण जो अब सोलह वर्ष का हो चुका था, चारों तरफ घूम-घूमकर सैनिक तैयारियों का निरीक्षण करते और उत्साहपूर्ण वार्तालाप से लोगों के साहस को बढ़ाते। अभी तक समस्त युद्धों में गढ़मण्डला की सेना ने जिस प्रकार वीरता दिखाकर विजय प्राप्त की थी उसकी चर्चा करके इस बार उससे भी अधिक जोर से लड़ने की सैनिकों को प्रेरणा देते। उन्होंने अपने व्यवहार और परिश्रम से लोगों में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी, जिससे वे युद्ध-भावना से भरकर मरने-मारने को उद्यत हो गये।

गढ़मण्डला की सेना की सबसे बड़ी कमजोरी तोपखाने का अभाव था। मुगल सैनिक तोप बनाने तथा चलाने में निपुण हो चुके थे और तोपों के जोर से ही अकबर के पितामह बाबर ने दिल्ली के पठान बादशाह इब्राहीम लोदी को हराकर अपनी हुकूमत कायम की थी। चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध किले पर भी तोपों और बन्दूकों से ही विजय प्राप्त की गई थी पर अभी तक भारतीय राजा इस दिशा में ज्यादा प्रगति नहीं कर सके थे। पर्याप्त संख्या में तोपों का शीघ्र बना सकना सम्भव भी न था इसलिये गढ़मण्डला की सेना को सबसे ज्यादा भरोसा अपने तीर-कमान, तलवार, भाले आदि का ही था। बन्दूकों का प्रयोग भी वे करने लगे थे। रानी दुर्गावती तो बन्दूक से अचूक निशाना लगाती थी। उसके पास छोड़े और हथियारों की भी काफी संख्या थी और अभी तक इन्हीं के द्वारा गढ़मण्डला की सेना कई शत्रुओं को हरा चुकी थी।

युद्ध का आरम्भ

जब शत्रु सेना काफी नजदीक आ पहुँची तो रानी दुर्गावती स्वयं छोड़े पर सवार होकर आगे बढ़ी। उस समय वह हाथ में नंगी तलवार लिये हुए साक्षात् दुर्गा की तरह ही दिखाई पड़ रही थी। उसने मुगलों की तोपों को व्यर्थ करने के लिये अपना मोर्चा ऐसे पहाड़ी स्थान पर लगाया, जहाँ तोपों के गोले उस स्थान तक पहुँच ही नहीं सकते थे, वह बीच में पहाड़ से टकराकर ही व्यर्थ हो जाते थे। इस प्रकार जब शत्रु की तोपें अपना बहुत-सा गोला-बारूद व्यर्थ में बर्बाद कर चुकीं, तब रानी ने मुगल सेना पर जोरों से हमला किया। उसने अपने सैनिकों में यह भावना भर दी थी कि हम धर्मयुद्ध कर रहे हैं अपनी मातृभूमि और घरों की रक्षा करना प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है, जो इस कर्तव्य-पालन से पीछे हटता है वह 'मानव' नाम का अधिकारी नहीं और निश्चय ही कुल कलंक कहा जाने योग्य है। मुगल सेना आततायी है, जो बिना कारण लूटमार के लालच से हमारे राज्य में घुस आई है। इसे मारकर खदेड़ देना ही हमारा कर्तव्य है।

अपने सैनिकों को इस प्रकार उत्साहित कर रानी ने स्वयं मुगल सेना में घुसकर ऐसी मार-काट मचाई कि मुगल सेना के छक्के छूट गये। कहाँ तो वे गढ़मण्डला के धन को लूटकर ले जाने का स्वप्न देख रहे थे और कहाँ उन्हें प्राणों के ही लाले पड़ गये। हजारों लाशों से धरती के पट जाने पर बादशाही सेना में भगदड़ मच गई और आसफख़ाँ अपने कैम्प को कई मील पीछे हटा ले गया। रानी की सेना विजय का डंका बजाती हुई अपने कैम्प में वापस आई।

युद्ध का दूसरा दौर

इस पराजय से आसफख़ाँ बड़ा दुःखी हुआ। उसकी गिनती मुगल साम्राज्य के प्रसिद्ध सेनाध्यक्षों में की जाती थी और इससे पहले वह अनेक राजाओं को जीतकर मुगल सम्राट के आधीन कर चुका था। अब एक स्त्री से हारकर वह अपना मुँह दुनिया को कैसे दिखायेगा। उसने इस बात को अपने लिये बड़ा अपमानजनक समझा और सारी बुद्धि लगाकर इसका प्रतिकार करने की युक्ति सोचने लगा। उसने नई सैनिक सहायता आने तक किसी चाल से युद्ध को स्थगित रखने का प्रयत्न किया। बादशाही पक्ष की तरफ से एक दूत सफेद झण्डा लेकर गढ़मण्डला की तरफ चला। उसके द्वारा आसफख़ाँ ने रानी के पास सन्धि का सन्देश भेजा था पर हार जाने पर भी उसने सन्धि की शर्तें ऐसी रखी थीं मानो विजय उसी की हुई हो। उसने रानी को लिखा कि, वीर नारायण को दिल्ली भेजा जाये और वह सम्राट अकबर की संरक्षकता में रहकर गोंडवाना का शासन कार्य करे तो मुगल सेना का आक्रमण रोका जा सकता है।

इस शर्त को सुनकर रानी ने दूत को उसी क्षण लौट जाने को कहा, उसने कहा कि मैंने उसी समय मुगल सेना को राज्य के बाहर तक खदेड़कर उसकी छावनी (कैम्प) में आग नहीं लगा दी, इसका अहसान तो तुम नहीं मानते और उल्टा मेरे पुत्र को दिल्ली दरबार में हाजिर होने की माँग करते हो। आसफख़ाँ रानी का उत्तर सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और मन ही मन आगे की चाल सोचने लगा। उसने अपने अधीनस्थ अधिकारियों को बहुत लानत-मलामत दी कि तुम एक औरत के सामने से पीठ दिखाकर भाग आये और फिर भी बहादुरी का दम भरते हो। सब लोगों ने मिलकर फिर दूसरी बार हमला करने का निश्चय किया। उसी समय दिल्ली से कुछ नई सेना और तोपें आ पहुँचीं; इससे आसफख़ाँ की हिम्मत बढ़ गई और उसने अपनी सेना को पुनः मजबूती के साथ संगठित करके हमला करने का आदेश दिया।

दूसरा आक्रमण

इस बार आसफख़ाँ ने अपने सिपाहियों को तोपखाने के पीछे चलने का संकेत किया। इधर रानी दुर्गावती मुगल सिपाहियों पर ही हमला करना चाहती थी। इसलिये उसने अपनी सेना को तोपों के सामने ही चलने की आज्ञा दी, यह बड़ा कठिन अवसर था। विपक्ष के सैनिक तो तोपों की आड़ लेकर लड़ रहे थे और गढ़मण्डला वालों को तोपों के अभाव में उनके गोले, गोली अपनी छाती पर झेलने पड़ रहे थे। इस तरह की असमानता का युद्ध अधिक समय

१.७ मरकर भी अमर हो गये जो

तक लड़ा जा सकना कठिन होता है। उस तीर-तलवारों के जमाने की बात तो जाने दीजिये, आजकल के वैज्ञानिक युग में होने वाले प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४ से १९१८) में जब इंग्लैण्ड ने अकस्मात् टैंक (बख्तरबन्द मोटर) से हमला किया तो थोड़े ही समय बाद जर्मन सेना को आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसके बाद जर्मन सेना बराबर दबती ही चली गई और कुछ महीनों में जर्मनी ने पराजय स्वीकार कर ली। उस अवसर पर जर्मन सेना के सर्वोच्च सेनापति, हिप्पेन बर्ग ने कहा था—“हम जनरल फ्रॉक (मित्र सेनाओं का प्रधान सेनापति) द्वारा नहीं हराये गये हैं, वरन् जनरल ‘टैंक’ ने हमको हराया है।”

यही परिस्थिति उस समय गढ़मण्डला वालों के सामने थी। वे अब तक तीर, तलवार, भाले आदि से ही लड़ते आये थे। कुछ लोग पुराने ढंग की बन्दूकों का पयोग करना भी जान गये थे। लेकिन इन हथियारों से तोप का मुकाबला नहीं किया जा सकता था। तोप की मार दो-चार मील तक होती ही थी और उसका गोला जहाँ गिरता था वहाँ दस-पाँच आदमियों को मार ही देता था। उस समय तोपों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी और तोप के बहुत भारी होने के कारण उनका इधर-उधर हटाया जाना भी कठिन होता था, पर उसकी भयंकर आवाज और गोलों द्वारा किले की दीवारों को टूटते देखकर लोगों में आतंक का भाव उत्पन्न हो जाता था, लेकिन दुर्गावती इससे न तो भयभीत हुई और न निराशा का भाव ही मन में लाई। उसने अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते हुए कहा कि “यद्यपि हमारे पास तोपें नहीं हैं, पर उससे भी शक्तिशाली आत्मबल हमारे पास है, हम स्वदेश की रक्षा के लिये सत्य और धर्म के अनुकूल युद्ध कर रहे हैं, यह कम महत्त्व की बात नहीं है। याद रखो, सत्य की सदा विजय होती है, असत्य की नहीं। ये दस-बीस तोपें मातृभूमि के मतवालों को आगे बढ़ने से कदापि नहीं रोक सकतीं।” यह कहकर उसने एक सवार (सेनानी) लेकर बड़ी तेजी के साथ तोपों पर घावा किया। यद्यपि इस संघर्ष में सैकड़ों वीर तोपों की भेंट चढ़ गये, पर रानी ने तोपों के पास पहुँचकर गोलन्दाजों का सफाया कर दिया। इस प्रकार तोपखाने को निष्क्रिय हुआ देखकर आसफख़ाँ घबराया। उस समय रानी थोड़े से साथियों को लेकर ही शत्रु दल में ऐसी मार-काट मचा रही थी कि बड़े-बड़े वीरों के होश उड़ गये। इतने में गढ़मण्डला की शेष सेना भी वहाँ आ पहुँची और बादशाही सेना पर ऐसी मार पड़ी कि वह प्राण बचाने के लिये फिर भाग खड़ी हुई।

तीसरा आक्रमण और गढ़मण्डला का पतन

इस प्रकार दो आक्रमणों में रानी दुर्गावती ने शत्रु को अच्छी तरह हरा दिया, पर न मालूम किस कारण उसकी सेना ने दुश्मन की भागती हुई सेना का पीछा नहीं किया? शायद इसका कारण क्षत्रियों का यह नियम था कि भागते हुए और शरणागत शत्रु को मारना धर्म के विरुद्ध है अथवा उनकी व्यवस्था किले के समीप ही लड़ने की हो, जहाँ से आवश्यकतानुसार युद्ध-सामग्री प्राप्त होती रहे और अवसर आने पर उसके भीतर पहुँचकर भी लड़ा जा सके। कुछ भी कारण रहा हो पर शत्रु को आधा कुचल कर छोड़ देने से वह प्रायः प्रतिशोध की ताक में रहता है और फिर से तैयार होकर आक्रमण कर सकता है। गढ़मण्डला के सेनाध्यक्षों से यही भूल हुई जिसके फलस्वरूप मुगल सेना एक के बाद एक करके तीन आक्रमण कर सकी और अन्त में सुयोग मिल जाने से उसने सफलता प्राप्त कर ली। क्षत्रियों ने युद्धों में जैसी वीरता दिखाई उसकी प्रशंसा इतिहास के पन्ने-पन्ने में लिखी हुई मिलती है, पर साथ ही साथ अवसर के अनुकूल कार्यप्रणाली न अपनाकर और केवल परम्पराओं के ही पीछे लगे रहकर उन्होंने जो बहुत बड़ी भूल की उसकी अबुद्धिमत्ता की आलोचना भी अनेक विद्वानों ने की है।

महाराज पृथ्वीराज ने प्रथम बार के आक्रमण में मुहम्मद गोरी को हराकर पकड़ लिया था लेकिन बाद में कुछ लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर मुहम्मद गोरी के क्षमा प्रार्थना करने पर उसे छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि उसने फिर से अधिक तैयारी के साथ आक्रमण किया और विजय मिलने पर पृथ्वीराज को मरवा ही डाला। हमारे नीतिकारों से भी यही कहा है कि दुष्ट शत्रु पर दया दिखाना अपना और दूसरों का अहित करना है। आजकल के व्यवहार-शास्त्र का स्पष्ट नियम है कि, दूसरों को सताने वाले दुष्टजन पर दया करना, सज्जनों को दण्ड देने के समान है क्योंकि दुष्ट तो अपनी स्वभावगत क्रूरता और नीचता को छोड़ नहीं सकता, वह जब तक स्वतन्त्र रहेगा और उसमें शक्ति रहेगी, वह निर्दोष व्यक्तियों को सब तरह से दुःख और कष्ट ही देगा। इसलिये वर्तमान युग के एक बहुत बड़े दार्शनिक बर्नार्डशॉ ने एक लेख में स्पष्ट लिखा है कि, स्वभाव से ही दुष्ट और आततायी व्यक्तियों को समाज में रहने का अधिकार नहीं है। उनका अन्त उसी प्रकार कर देना चाहिये जिस प्रकार हम सर्प और भेड़िया आदि अकारण आक्रमणकारी और घात में लगे रहने वाले जीवों का कर देते हैं।

विश्वासघातियों की करतूत

द्वितीय आक्रमण में विजय पाकर गढ़मण्डला की सेना उल्लास में आकर राग-रंग मनाने लगी और अनुशासन ढीला पड़ गया। उधर आसफख़ाँ दो बार हार जाने से बुरी तरह तिलमिला रहा था और अपने सभी सलाहकारों को इकट्ठा करके आगे की नई चाल सोच रहा था। उसी अवसर पर उससे मिले हुए गढ़मण्डला के विश्वासघाती कुछ व्यक्तियों ने उसके कैम्प में पहुँच कर खबर दी कि इस समय गढ़मण्डला की सेना राग-रंग में मस्त है, अगर इस समय आकस्मिक रूप से आक्रमण कर दिया जायेगा तो वह तैयार होने का भी अवसर न पायेगी और नगर पर कब्जा किया जा सकेगा। आसफख़ाँ तो ऐसे मौके की ताक में ही था, उसने उन घर के भेदियों को साथ लेकर उसी समय सेना को किले पर धावा बोलने की आज्ञा दे दी। जब यह समाचार रानी दुर्गावती को मालूम हुआ तो वह गम्भीर हो गई। घर के भेदियों का कुछ हाल तो उसे पहले से ही मालूम था, पर वे इस प्रकार प्रकट रूप से शत्रु से मिल जायेंगे इसका अनुमान वह न कर सकी थी। फिर भी युद्ध की अभ्यस्त होने के कारण वह घबड़ाने वाली न थी, उसने शीघ्रता में जितनी सेना इकट्ठी हो सकी उसे लेकर शत्रुओं को बीच में ही रोका और घमासान संग्राम आरम्भ हो गया।

इस बार सेना में जो कमजोरी दिखाई पड़ती थी उसको पूरा करने के उद्देश्य से उसने अपने पुत्र वीर नारायण को ही सैन्य-संचालन का भार दे दिया। उसने सोचा कि अपने राजा को इस प्रकार आगे बढ़ते देखकर सैनिकों का उत्साह बढ़ जायेगा और वे पराक्रम से शत्रुओं के छक्के छुड़ा देंगे लेकिन इसका परिणाम कुछ उल्टा ही निकला। पुराने और बड़े-बूढ़े सेनाध्यक्षों को एक सोलह वर्ष के किशोर के आदेशानुसार कार्य करना अपमानजनक प्रतीत हुआ और उन्होंने अपना हाथ ढीला कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वीर नारायण के अत्यन्त शौर्य दिखलाने और अकेले सैकड़ों शत्रुओं का सफाया करने पर भी मुगल सेना आगे बढ़ती गई और किले के फाटक के समीप पहुँच गई। रानी दुर्गावती कुछ दूरी पर युद्ध करती हुई इस स्थिति को देख रही थी और आश्चर्य कर रही थी कि ऐसा क्यों हो रहा है? अन्त में एक सिपाही ने संकेत द्वारा उसे वास्तविक कारण बतलाया। यह सुनकर वह बहुत ही दुःखी हो गई। उसने तो अपने इकलौते अल्प-वयस्क पुत्र को इसलिये सबसे आगे लड़ने को भेजा था कि लोग त्याग और बलिदान के भाव को समझें और उन्हें पूरी शक्ति से जूझने की प्रेरणा मिले। लेकिन मनुष्य के हीन अहंकार तथा ईर्ष्यावृत्ति ने

उसे कुछ और ही रूप दे दिया। मुगलों की नई सेना और युद्ध सामग्री के जोर से गढ़मण्डला उस दिन नहीं तो दूसरे दिन शत्रुओं के हस्तगत हो ही जाता, क्योंकि सेना में अव्यवस्था पैदा हो गई थी लेकिन इन पुराने सरदारों ने ऐसे कठिन अवसर पर झूठी शान के पीछे जो अकर्मण्यता दिखाई उसके लिये वे सदा निन्दा के पात्र बने रहे। उससे भीषण संघर्ष करना उनको भी पड़ा, पर रानी दुर्गावती तथा वीर नारायण का नाम आज चार सौ वर्ष बीत जाने पर भी आदर के साथ लिया जाता है, उनको देश का गौरव बढ़ाने वाला माना जाता है, वहीं उन हीन मनोवृत्तियों के सरदारों को घृणा के साथ ही याद किया जाता है। क्या यह उनका बड़ा दुर्भाग्य नहीं?

इसी समय रानी ने वीर नारायण को बहुत से शत्रु-सैनिकों से अकेले लड़ते-लड़ते घोड़े से गिरते देखा। साथ ही समाचार आया कि तोपों की मार से किले की दीवार एक स्थान पर टूट गई है। उसने समझ लिया कि बस अब अन्त आ गया। वीर नारायण के वीरगति पाने से अब उसे जीवन से तनिक भी मोह नहीं रह गया था अतः वह चुने हुए तीन सौ सवारों को लेकर मुगल सेना पर टूट पड़ी। उसने सैकड़ों शत्रुओं को यमलोक पहुँचाया पर अचानक एक तीर आकर उसकी आँख में लगा, उसने उसे अपने हाथ से बाहर खींच लिया, इतने में दूसरा तीर गर्दन में लगा, इससे उसे असह्य वेदना होने लगी। उसी समय रानी ने आधारसिंह को सामने देखकर कहा “मैं अब रक्त निकलने से असक्त होती जा रही हूँ, मैं कभी नहीं चाहती कि शत्रु मुझे जीवित अवस्था में छू सकें इसलिये तुम तलवार से मेरी जीवन-लीला समाप्त कर दो।” पर आधारसिंह इस बात को सुनकर काँप उठा और उसने भरे हुए कण्ठ से कहा—मैं असमर्थ हूँ, मेरा हाथ आप पर नहीं उठ सकता। रानी जोश में आ गई और मरते-मरते उठकर बैठ गई और अपनी कटार जोर से अपनी छाती में घुसेड़ ली। दूसरे ही क्षण उसकी निर्जीव लाश भूमि पर पड़ी दिखाई दी।

इसके पश्चात् मुगल सेना को रोकने वाला कोई न रहा। उसने नगर में घुसकर बहुत मार-काट मचाई तथा गढ़मण्डला के खजाने तथा महलों की सम्पत्ति को लूट लिया। कहा जाता है कि वहाँ पर आसफख़ाँ को बहुत अधिक सोना, चाँदी, जवाहरात आदि मिले। उनका अधिकांश भाग उसने स्वयं रख लिया, केवल पन्द्रह हाथियों पर लूट का थोड़ा-सा भाग लदवाकर दिल्ली भेज दिया। गोंडवाना के गौरव का दीपक सदा के लिये बुझ गया और आज वह एक उजाड़ नगर के रूप में ही शेष है।

१.६ मरकर भी अमर हो गये जो

दुर्गावती मर कर भी अमर है

दुर्गावती ने जिस प्रकार मातृभूमि की रक्षा के लिये विदेशी आक्रमणकारियों से युद्ध करके वीरगति पाई उस तरह की मृत्यु, शोक की नहीं बल्कि गौरव की बात मानी जाती है। अपने लाभ के लिये तो सभी प्रयत्न करते और संकट उठाते हैं, पर जो न्याय की खातिर अपनी प्रत्यक्ष हानि देखकर भी संघर्ष करते हैं उनकी गिनती महान पुरुषों में होती है। दुर्गावती अगर चाहती तो अकबर की आधीनता स्वीकार करके आजन्म सुखपूर्वक रह सकती थी, पर ऐसा करने में उसे अपना और अपने देश का अपमान जान पड़ा। हम जयपुर के राजा मानसिंह आदि को 'गद्दार' ही समझते हैं क्योंकि उन्होंने अकबर के राज्य को फैलाने और उसको मजबूत करने में ही अपनी समस्त वीरता और युद्ध कौशल को खर्च किया। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने हिन्दुओं के प्रभुत्व का अन्त करके विदेशियों की जड़ें जमाने का वह कार्य किया जिसे कभी आदरणीय नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत भारत का बच्चा-बच्चा मेवाड़ के महाराणा प्रताप का यशगान करता है क्योंकि उन्होंने हर प्रकार के कष्ट सहन करके भी अकबर के साथ वर्षों तक संघर्ष किया और देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। हम शिवाजी को भी राष्ट्र-रक्षक की पदवी देते हैं क्योंकि उन्होंने औरंगजेब जैसे निष्ठुर और हिन्दुत्व के प्रबल विरोधी बादशाह का सामना किया और अल्प साधनयुक्त होते हुए भी जानि और धर्म के झण्डे को झुकने नहीं दिया। हम गुरु गोविन्द सिंह को देश का उद्धारक इसीलिये मानते हैं कि उन्होंने चारों पुत्रों का बलिदान स्वाधीनता की बलिवेदी पर कर दिया और मुगल बादशाह को सहयोग देना स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी इन सब वीरों के चरित्र आज भी पढ़े और पढ़ाये जाते हैं, उनकी जयन्तियाँ मनाई जाती हैं और आगामी पीढ़ियों को उनसे प्रेरणा लेने को कहा जाता है। उनकी गणना महापुरुषों में की जाती है। इसके विपरीत मानसिंह, जयसिंह आदि कितने भी सफल और सम्पन्न शासक क्यों न बन गये लेकिन उनको देश और जाति का विरोधी ही घोषित किया जाता है। चाहे उस समय वे बहुत बड़े पदवीधारी कहे जाते थे और उन्होंने इतना धन भी कमाया जोकि पीढ़ियों तक काम देता रहा, पर उनकी प्रशंसा में आज तक एक शब्द भी किसी के मुँह से सुनने में नहीं आया।

रानी दुर्गावती भी इस दृष्टि से भारतीयता की रक्षक और स्वाधीनता के लिये अपना बलिदान करने वाली

वीरांगना मानी जाती है। यद्यपि परिस्थितियों के कारण विदेशी शासकों के साथ उसका संघर्ष अल्पकालीन ही रहा, महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी की तरह वह उन, जंगल और पर्वतों में घुसकर वर्षों तक संघर्ष न कर सकी, पर भारतीय स्त्रियों की तत्कालीन और आज की स्थिति को देखते हुए उसने जो कुछ किया वह उसे प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय वीरों की पंक्ति में बिठाने के लिये पर्याप्त है। जहाँ स्त्रियों को घर से बाहर निकलने का भी अधिकार नहीं है, जहाँ उनका सार्वजनिक जीवन में भाग लेना आलोचना का विषय बन जाता है, जहाँ थोड़ी-सी स्वतन्त्रता का रहन-सहन देखते ही लोग उनके चरित्र पर शंका करने लगते हैं, वहाँ दुर्गावती ने जो कुछ किया उसकी सौ मुखों से प्रशंसा की जाये तो भी कम है।

यह भारतीय पुरुषों की बहुत बड़ी त्रुटि है कि उन्होंने स्त्रियों को ऐसे बन्धनों से जकड़ दिया है कि वे देश और जाति की प्रगति के लिये कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने के योग्य ही नहीं रहीं। इससे हमारी आधी शक्ति ही बेकार नहीं हो गई वरन् अपने अज्ञान तथा जड़ता के कारण वह हमारे अग्रसर होने में भी हमें पैरों की बेड़ी के समान दिखने लगी। कौन नहीं जानता कि हमारे पिछले पचास वर्ष के स्वाधीनता आन्दोलन में लाखों व्यक्ति इच्छा और अभिलाषा रहने पर भी स्त्री और सन्तान के बन्धनों के कारण भाग नहीं ले सके। अगर स्त्रियाँ सुयोग्य और व्यवहारकुशल होतीं तो वे ऐसे अवसर पर घर का भार स्वयं संभाल कर पुरुषों को देशोद्धार के कार्य के लिये छुट्टी दे सकती थीं, पर जब हमने स्वयं ही उनको 'पिंजरे का पंछी' बनाकर रखा हुआ है तो हम उनकी शिकायत भी किस मुख से करें। ऐसी दशा में तो जो दस-पाँच देश तथा समाज की सेविकायें अपने प्रयत्न और साहस से निकल आईं उनको आज भारतीय इतिहास में अमरता प्राप्त हो गई।

वीरांगनाओं में दुर्गावती का स्थान सर्वोच्च है

यह सब कुछ होने पर भी दुर्गावती ने युद्ध-क्षेत्र में जो वीरता और कौशल दिखलाया वह अद्वितीय है। हमको भारत तथा संसार की अन्य वीरांगनाओं का इतिहास भी मालूम है, लेकिन बहुत खोज करने पर भी ऐसी दूसरी नारी दिखाई नहीं पड़ी जिसने उसके समान वर्षों तक सुशासन करके सेना को इतना दृढ़ बनाया हो कि वह अकबर जैसे प्रसिद्ध सम्राट की शक्तिशाली फौज को दो बार पराजित कर सके। साथ ही अन्य किसी स्त्री ने युद्ध के खुले मैदान में उसके समान अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करके प्रसिद्ध वीरों के छक्के छुड़ा देने का कठिन कार्य भी करके

नहीं दिखाया। इतिहास में वीराबाई, कर्माबाई आदि दो चार क्षत्राणियों के नाम ही पढ़ने में आते हैं जिन्होंने किसी आकस्मिक अवसर के उपस्थित हो जाने पर युद्ध-क्षेत्र में प्रत्यक्ष युद्ध करके शत्रु पर विजय प्राप्त की हो, लेकिन उनके सम्बन्ध में इतनी कम बातें ज्ञात हो सकी हैं कि उनके आधार पर उनका विशेष वर्णन नहीं किया जा सकता है। एक मात्र झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ही गत सैकड़ों वर्षों के भीतर ऐसी निकली हैं जिन्होंने स्त्रियों के “अबला” कहे जाने वाले “कलंक” को मिटाने के लिये एक प्रशंसा के योग्य उदाहरण सामने रखा है। देश के स्वाधीनता संग्राम में एक महत्वपूर्ण कार्य करके अपनी आहुति देने की दृष्टि से इनका “दुर्गा” और “लक्ष्मी” में कोई अन्तर नहीं दिखता पर शस्त्र-संचालन में दुर्गावती ने जो जौहर दिखाया वह बेमिसाल है।

संसार के पौराणिक इतिहास में किसी देश की महिला ने युद्ध में ऐसी वीरता और कौशल दिखाया हो इसका एक भी प्रसिद्ध उदाहरण पढ़ने में नहीं आया। हाँ, आधुनिक समय में विभिन्न देशों में ऐसी कितनी ही महिलायें सामने आई हैं जिन्होंने महत्वपूर्ण कार्य करके स्वाधीनता के लिये बलिदान दिया है। पर चूँकि इस समय युद्ध-क्षेत्र का रूप बदल गया है इसलिये तीर, तलवार या बन्दूक लेकर सैनिकों के दल से जुड़ने वाली महिलायें तो नहीं मिल सकतीं पर जिन्होंने स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये शत्रुओं से संघर्ष किया है, उनके प्रहार सहन किये हैं और स्वयं प्रहार किया है, ऐसी वीरांगनायें नगण्य संख्या में ही मिलती हैं।

ऐसी देशभक्त महिलाओं की सबसे अधिक संख्या रूस में पाई जाती है। वहाँ सत्तर-अस्सी वर्ष पहले जार का ऐसा अत्याचारी शासन कायम था कि करोड़ों की संख्या में प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी। किसान, मजदूर, दुकानदार, छोटे सरकारी कर्मचारी सबकी हालत खराब थी और सब कष्ट पा रहे थे। प्रत्येक विभाग में भ्रष्टाचार का बोल वाला था जिससे प्रजा को घोर गरीबी में निर्वाह करना पड़ता था, यह दशा देखकर अनेक स्वाभिमानी युवक, युवतियों को जोश आया और उन्होंने इस अन्याय का खात्मा करने की प्रतिज्ञा की। लेकिन उनके पास इतने साधन तो थे नहीं कि वे फौज खड़ी करके अत्याचारियों पर आक्रमण कर देते। इसलिये वे बम और पिस्तौल लेकर गुप्त रूप से अत्याचारी अधिकारियों और स्वयं जार पर भी हमला करते थे। इनमें से सोफिया नाम की युवती ने जार पर ऐसा जोरदार आक्रमण किया कि वह भाम्यवश ही बच गया। जब सोफिया को गिरफ्तार किया गया तो उसको अपने दल का भेद खोलने के लिये अमानुषिक यातनायें दी; पर वह अन्त तक अटल बनी रही और प्रसन्नतापूर्वक फाँसी पर

चढ़ गई। उसी की तरह की थरान आदि और भी बहुसंख्यक युवतियों ने क्रान्तिकारी कार्यों में भाग लिया और परिणामस्वरूप वर्षों तक रूस के “काले पानी” साइबेरिया में, जहाँ सैकड़ों मील तक बर्फ बिछी रहती है, घोर कष्ट सहन किये।

द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् १९३९ से १९४५) के अवसर पर भी जब जर्मन सेना ने अकस्मात् आक्रमण करके रूस के एक बड़े भाग पर कब्जा कर लिया और वहाँ के स्त्री-पुरुषों को घोर कष्ट दिये तब भी वहाँ अनेक स्त्रियाँ ऐसी निकलीं जिन्होंने जर्मन सेना की परवाह न करके उसके विरुद्ध संघर्ष किया। इनमें “जोया” की अठारह वर्ष की लड़की का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसके विषय में एक लेखक ने लिखा है—

“रूसी इतिहास की बीसवीं शताब्दी के चित्रपट पर “जोया” एक जीवित केन्द्र बिन्दु है, जिसने अपने देश की अन्धकारपूर्ण और भयावह घड़ी में मर्दानगी को चुनौती देकर शत्रु के नृशंस प्रहार अपने सुकुमार शरीर पर सहे और आजादी के लिये हँसते-हँसते प्राण विसर्जित कर दिये। तभी से जोया के जीवन-मृत्यु की अमरगाथा विश्व भर के लिये नवीन चेतना और शक्ति का उद्गम बन गई है। विभिन्न रूसी पत्रों में सैकड़ों लेख और निबन्ध इस अठारह वर्षीय किशोरी कन्या की बलिदान-कथा पर निकलते हैं। सार्वजनिक संग्रहालय (म्यूजियम) के लिये चित्रकार उसके चित्र बना रहे हैं। रूस का एक प्रसिद्ध नाटककार उस पर एक नाटक लिख रहा है। एक कवि ने लम्बी कविता लिखी है। दो प्रसिद्ध मूर्तिकार उसकी संगमरमर की मूर्ति बना रहे हैं और प्रख्यात् फिल्म निर्माता उसके जीवन की कल्पित फिल्म बनाने में व्यस्त हैं। नगर, सड़कें, स्कूल, कारखाने, म्यूजियम उसके नाम पर खोले जा रहे हैं। रूसी लड़कियाँ जोया के दृष्टान्त से जीवन-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करती हैं।”

एक सामान्य ग्रामीण लड़की की इतनी महिमा इसीलिये है कि उसने प्राणों की तनिक भी चिन्ता किये बिना अपने देश के शत्रुओं को नष्ट करने का हर तरह से प्रयत्न किया। वह पहले तो गुरिल्ला फौज में शामिल होकर जर्मन सेना को तरह-तरह से हानि पहुँचाने की कार्यवाहियाँ करती रही। फिर एक दिन जर्मन सेना की छावनी के पास जाकर उसमें आग लगाकर चली आई, पर जब उसे मालूम हुआ कि उसकी लगाई आग से बहुत थोड़ा नुकसान हुआ तो वह दूसरे दिन फिर आग लगाने चली, उसके साथियों ने उसे रोका भी, आज मत जाओ क्योंकि जर्मन सिपाही सतर्क होंगे, पर वह अपनी प्रतिज्ञा को पूरा

१.११ मरकर भी अमर हो गये जो

करने को चल ही दी और आग लगाते हुए पकड़ ली गई। जर्मनों ने उसे पहले तो गुरिल्ला दल का भेद पूछने के लिये कोड़ों से खूब मारा तथा अन्य यातनायें दीं और फिर फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

अल्जीरिया की तीन “जमीला” नाम की युवतियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। वहाँ के देशभक्तों ने फ्रांस की आधीनता से छुटकारा पाने के लिये जो मुक्तिसंग्राम आरम्भ किया था उसमें ये अग्रगण्य थीं। ये एक के बाद एक आन्दोलन की नेत्री बनीं और ऐसे साहस से फ्रांस की शासन सत्ता पर प्रहार किया कि सारा संसार चकित हो गया। इन तीनों को ही फ्रांस के जेलखानों में बन्द करके यातनायें दी गईं पर वे टस से मस न हुईं। अन्त में फ्रांस की सरकार को झुकना पड़ा और उसे अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देनी पड़ी।

हमारे भारत के क्रांतिकारी दल में एक ऐसी ही कुमारी “कल्पना” हुई थी जिसने देश के स्वाधीनता संग्राम की सैनिक बनकर भरी सभा में बंगाल के गवर्नर पर गोली चलाई थी। संयोगवश वे बच गये, पर कल्पना को उस अपराध में दण्डित होकर अनेक वर्ष जेलखाने की भयानक कोठरी में बन्द रहना पड़ा था।

नारी का दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता

इस प्रकार संसार में समय-समय पर कुछ महिलायें ऐसी सामने आती रही हैं, जिन्होंने देश और जाति की रक्षा के लिये पुरुषों की तरह ही सशस्त्र संघर्ष किया है और उसकी सफलता के लिये हर तरह की यातनायें सहन की हैं, प्राणों तक को अर्पण कर दिया है, पर यह कहना पड़ेगा कि इस प्रकार की साहसी और त्याग करने वाली नारियाँ अपवाद स्वरूप ही मानी जा सकती हैं। भारतीय क्रांतिकारी दल के इतिहास में ही जहाँ भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद ‘बिस्मिल’, खुदीराम, शचीन्द्र सान्याल, वीर सावरकर आदि पचासों एक से बढ़कर एक शहीदों और वीरों के चरित्र चमक रहे हैं, वहाँ उसमें भाग लेने वाली दो-चार स्त्रियों का ठीक परिचय भी थोड़े ही लोग जानते हैं। यह बात नहीं कि नारियों में त्याग और बलिदान की भावनाओं का अभाव है। ये गुण उनमें पुरुषों की अपेक्षा अधिक ही पाये जाते हैं, पर आज तक ये गुण प्रायः निजी एवं छोटे से परिवार तक ही सीमित रह जाते हैं। स्त्रियों को जन्म से मृत्यु तक ऐसे संकीर्ण वातावरण में रखा जाता है और ऐसी ही शिक्षा-दीक्षा दी जाती है कि जिससे वे अपने से सम्बन्धित कुछ व्यक्तियों के सिवाय दूरस्थ अथवा अपरिचित लोगों के प्रति अपनेपन की भावना रख ही नहीं सकतीं।

हम यह भी नहीं कहते कि नारी घर के क्षेत्र की उपेक्षा करके केवल सार्वजनिक क्षेत्र में तल्लीन हो जाये। वर्तमान समय में विदेशों की बहुसंख्यक और भारत की कुछ नारियों ने शिक्षा का आशय यह समझ लिया है कि घर के काम-धन्धे को त्यागकर फैशनबिल गोष्ठियों और समारोहों में मनोरंजन किया जाये और वाहवाही हासिल की जाये। हमारी सम्मति में यह कोई प्रशंसनीय बात नहीं। यह तो सम्भव है कि पिछले दस-पाँच हजार वर्षों में जिस प्रकार की अराजक-अवस्था से राजतन्त्र, राजतन्त्र से प्रजातन्त्र स्थापित हो गया और अब अनेक बड़े-बड़े देशों में साम्यवादी समाज की स्थापना हो रही है उसी प्रकार नया युग बदलने पर किसी ऐसे समाज का निर्माण हो जिसमें स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर कार्य विभाजन की परम्परा उठ जाये और दोनों सुविधानुसार प्रत्येक काम में हिस्सा बँटाने लगे, पर यह एक ऐसी दूरवर्ती कल्पना है जिस पर अभी से वाद-विवाद करना निरर्थक है। अभी तो हम समाज के हित की दृष्टि से इतना ही कह सकते हैं कि स्त्रियों के दृष्टिकोण को परिवार हित से बढ़ाकर समाज हित के क्षेत्र तक अवश्य विस्तृत करना चाहिये। गाँधी जी के आन्दोलन के प्रभाव से सरोजिनी नायडू, सरला देवी चौधरानी, अवन्तिका बाई गोखले, जानकी बाई बजाज, राजकुमारी अमृतकौर, विजय लक्ष्मी पण्डित आदि जो थोड़ी-सी स्त्रियाँ सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने लग गईं तो उससे यहाँ के सामाजिक वातावरण में अद्भुत परिवर्तन हो गया। उनके उदाहरण से प्रेरणा प्राप्त करके लाखों अन्य नारियों के भी बन्धन ढीले हुए और समाज-सेवा के क्षेत्र में वही उपयोगी कार्य करने लगीं।

रानी दुर्गावती का आदर्श चरित्र भी नारियों को यह शिक्षा देता है कि घर और परिवार की व्यवस्था में संलग्न रहते हुए भी उनको कूप-मण्डूक बनकर नहीं रहना चाहिये। उन्हें इतनी शिक्षा और योग्यता तो प्राप्त कर ही लेनी चाहिये कि किसी प्रकार की विपरीत परिस्थिति के सम्मुख आ जाने पर स्वयं उसका प्रतिकार कर सकें। हमें खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमान समय में अधिकांश साधन सम्पन्न घरों की स्त्रियाँ इस दृष्टि से अपंग-सी बनी रहती हैं। जब तक समय अनुकूल रहता है वे मौज-शौक, फैशन, विलास में समय बिताती हैं, घर का काम नौकरों से करा लेती हैं, पर जब समय प्रतिकूल हो जाता है तो सिवाय रोने-झींकने और भाग्य तथा भगवान को दोष देने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकतीं।

श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने एक बार एक ऐसी फारसी स्त्री का हाल बतलाया था “जिसका पति एक बड़ा व्यापारी था, लेकिन पति की मृत्यु के उपरान्त घर का वैभव

शीघ्र ही समाप्त हो गया और उसका लड़का सामान्य नौकरी करके घर का काम चलाने लगा। तब घर के खान-पान और रहन-सहन में बहुत अन्तर पड़ गया और वह सदैव इसी के लिये दुःखी होकर प्रलाप किया करती। एक बार श्री रानाडे से बात होने पर उसने कहा कि, मेरा लड़का सामान्य हालात में ही बड़ा हुआ है, इसलिये वह मामूली खाना पाकर राजी हो जाता है, पर मेरी पुराने समय की बिगड़ी हुई जीभ तो भोजन में दस तरह की चीजें हुए बिना सन्तुष्ट ही नहीं होती।” यह स्त्री न तो उद्योग और सुव्यवस्था द्वारा घर की सम्पत्ति की रक्षा ही कर सकी और न इतना संयम रख सकी कि जिह्वा के स्वाद की परवाह न करे। ऐसी स्त्रियों को अपना जीवन, भार मालूम पड़ने लगे तो इसमें क्या आश्चर्य है।

रानी दुर्गावती एक राजा की पुत्री थी, जिसे शौक-मौज और सुख-साधनों की कोई कमी हो ही नहीं सकती थी, विवाह के बाद वह और भी बड़े राजा की पत्नी बनी जहाँ सैकड़ों दास-दासी उसकी आज्ञा की राह देखा करते थे, पर यह सब होने पर भी उसने अपने भीतर शक्ति और साहस उत्पन्न किया और बड़े-बड़े शासक और सेनाध्यक्ष उससे हार मान गये। इससे सिद्ध होता है कि उतना वैभव और पद पा लेने पर भी उसने अपने उद्देश्य को नहीं भुलाया था और अपना रहन-सहन तथा खान-पान वैसा ही रखा था, जिससे वह विलासी और निर्बल चित्त की न हो जाये, इसी श्रेणी की नारी संसार में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। वे सम्पत्ति और विपत्ति में अपना सन्तुलन कायम रखती हैं और कर्तव्यपालन से पीछे कदम नहीं हटातीं। सच्चे मनुष्य का भी यही कर्तव्य और धर्म होना चाहिये।

भारतीय समाज में सुधार की आवश्यकता

किन्तु यह स्थिति तब तक नहीं आ सकती जब तक समाज के कर्णधार और मार्गदर्शक अपना दृष्टिकोण सही न कर लें। यद्यपि वैदिक काल में हमको नारी की पराधीनता अथवा उसका दर्जा निम्न होने का कोई संकेत नहीं मिलता। उल्टा कई महिलायें ऋग्वेद की ‘ऋषि’ मानी गई हैं और विवाह सम्बन्धी सूक्तों में नारी की सत्ता का बहुत प्रशंसनीय शब्दों में वर्णन किया गया है। वैदिक काल में वे स्वतन्त्रतापूर्वक समस्त-कर्म करती थीं और यज्ञों में भी भाग लेती थीं। वे घर की पूरी मालकिन और संचालक मानी जाती थीं। विदुषी स्त्रियाँ बड़े सम्मान के साथ सब जगह आदरणीय स्थान पाती थीं। उनमें से अनेक “ब्रह्मवादिनी” भी होती थीं जिसका आशय यह था कि वे अविवाहित रहकर अपना समस्त जीवन ‘ज्ञान और

अध्यात्म’ की साधना में व्यतीत किया करती थीं, युद्ध-क्षेत्र में जाकर वीरता प्रदर्शित करने के भी कुछ स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं, जैसे दशरथ के साथ कैकेयी ने युद्ध में भाग लिया था। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के उस स्वर्णकाल में स्त्रियों पर कोई प्रतिबन्ध न था और मुख्यतया गृह-व्यवस्था में लगे रहने पर भी वे आवश्यकतानुसार सार्वजनिक जीवन में भी सहयोग देती रहती थीं।

लेकिन मध्यकाल में जब हमारे देश पर विदेशियों के आक्रमण होने लगे अथवा बहुसंख्यक व्यक्ति किन्हीं कारणों से अपना देश छोड़कर यहाँ आ बसे तो उनके संसर्ग से भारतीय सामाजिक स्थिति में भी अन्तर पड़ने लगा और स्त्रियों के अधिकार सीमित किये जाने लगे। खासकर मुसलमानों के आगमन के बाद तो यहाँ के शास्त्र-ग्रन्थों में “न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति”, “स्त्री शुद्रोऽन्य धीयताम्”, “अष्टवर्षा भवेद्”, “गौरी” आदि ऐसे अनेक वाक्य सम्मिलित कर दिये गये जिनके कारण स्त्रियों की स्वतन्त्रता बहुत कुछ अपहरण कर ली गई और उनको घर के भीतर ही बन्द रहकर कैदी जैसा परतन्त्र जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया गया। तभी से भारतीय समाज का वास्तविक पतन आरम्भ हुआ और तरह-तरह की हानिकारक रूढ़ियाँ और परम्परायें प्रचलित होने लगीं। उदाहरण के लिये प्राचीन समय में इस देश में पर्दे का कहीं नाम न था, पर मुसलमानों के अनुकरण से यहाँ के लोगों में भी यह प्रथा फैल गई और फिर देखा-देखी देश के सभी वर्गों में पर्दा-प्रथा प्रचलित हो गई। इसी प्रकार बाल-विवाह भी यहाँ कभी नहीं होता था, बड़ी आयु में सोच-समझकर विवाह करने की प्रणाली अधिकांशतः प्रचलित थी। हम प्राचीन ग्रन्थों में जिन स्वयंवरों के वर्णन पढ़ते हैं वे दस-बारह वर्ष की अवस्था में कभी सम्भव न थे। तभी रामायण में यह लिखा गया था कि सीता स्वयंवर के समय उसकी आयु अठारह वर्ष की थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे समाज में प्रचलित अधिकांश सामाजिक कुरीतियाँ या तो संसर्ग से उत्पन्न हुई हैं या किसी सामाजिक परिस्थिति के कारण प्रचलित हो गई हैं। उनकी जड़ में कोई ऐसा धार्मिक सिद्धान्त या कारण नहीं है जिसके आधार पर उनमें सुधार करना या उनको त्याग देना “पाप” समझा जाये। सामाजिक प्रथायें सदा देश काल के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं, जो लोग या जातियाँ उनको शाश्वत या अमिट समझकर अपने को उनमें जकड़ लेते हैं वे स्वयं भी जड़ हो जाते हैं और उनकी प्रगति का क्रम रुक जाता है। भारतीय नारी की वर्तमान दशा इस तथ्य का एक जीता जागता प्रमाण है। जबसे वह बन्धनग्रस्त हो गई, उसे केवल पति की एक

१.१३ मरकर भी अमर हो गये जो

“सम्पत्ति” या गृह-कार्य करने वाली “दासी” की तरह समझ लिया गया तब से भारतीय समाज में तरह-तरह के दोष बढ़ने लग गये और वह उन्नति के बजाय पतन की तरफ अग्रसर होने लग गया। क्योंकि सन्तान का पालन तथा उसके चरित्र का गठन अधिकांशतः माता के ऊपर ही निर्भर होता है। यदि माता ही अशिक्षित, कुसंस्काराच्छन्न और शक्तिहीन हुई तो सन्तान के सुयोग्य, सद्गुणी और शक्तिशाली होने की आशा कैसे की जा सकती है? महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है—

“स्त्री अबला नहीं है बल्कि वह अपनी शक्ति को पहचाने तो पुरुष से भी अधिक सबला है। वह माता के रूप में जिस प्रकार बालक को गढ़ती है और पत्नी होकर पति को जिस तरह चलाती है, बहुधा पुरुष वैसे ही बनते हैं। स्त्री वास्तव में साक्षात् त्याग की मूर्ति है। जब कोई स्त्री किसी काम में जी-जान से लग जाती है तो वह पहाड़ को भी हिला देती है।”

वास्तव में भारतवर्ष का पतन तभी से आरम्भ हुआ जब से स्त्रियाँ अपनी शक्ति को पहचानना भूल गईं और अपने जीवन का उद्देश्य केवल चौका-चूल्हा और सन्तानोत्पादान ही समझने लगीं। जब कोई व्यक्ति या जाति किसी परिस्थिति में सैकड़ों वर्ष तक रह लेती है और उसकी अभ्यस्त हो जाती है, तो उसे वही स्वाभाविक और सुखकर जान पड़ने लगती है। यही दशा इस समय अधिकांशतः भारतीय स्त्रियों की हो गई है। उसने अपने को भगवान की तरफ से परतन्त्र, असहाय और अबला समझ लिया है और वह सोचती रहती है कि उसका कल्याण इसी में है कि वह घर के भीतर बैठी रहे और अपने हाव-भाव और सेवा से पति को प्रसन्न रखकर सुख-सामग्री प्राप्त करती रहे। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो यह स्थिति और मनोवृत्ति न तो सहायनीय है और न कल्याणकारी। स्त्री को भी अपने आपको समाज का एक उपयोगी अंग, एक कर्मठ सदस्य समझना चाहिये। उसे कोई भी कार्य केवल निजी स्वार्थ अथवा परिवार के लाभ की ही दृष्टि से ही नहीं करना चाहिये, वरन् इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि वह समाज की दृष्टि से भी उपयोगी है या नहीं। जिस दिन वह इस तथ्य को हृदयंगम कर लेगी और संकीर्ण दायरे से निकल कर समस्त समाज के हित की दृष्टि से कार्य करने लगेगी, उसी दिन समाज की कायापलट होने में देर नहीं लगेगी, क्योंकि स्त्री में शक्ति का अभाव नहीं है, वरन् हमारे शास्त्रकारों ने तो उसे “शक्ति” का अवतार ही माना है। विदेशी विचारकों ने ऐसा ही बताया है। कार्लटन नामक विद्वान ने लिखा है—

“कौन-सी ऐसी ऊँचाई है जहाँ स्त्री चढ़ नहीं सकती? कौन-सा ऐसा स्थान है जहाँ वह पहुँच नहीं सकती? हजारों अपराध करो वह क्षमा कर देती है। जब किसी कार्य में जुट जाये तो संसार की कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती।”

यदि हम रानी दुर्गावती के चरित्र पर ध्यान दें तो उक्त विद्वान का कथन सर्वथा सत्य जान पड़ता है। उसने एक सामान्य स्त्री की स्थिति से अपने को इतना ऊँचा उठाया कि मुगल-साम्राज्य का गुणगान करने वाले इतिहास लेखकों ने भी उसके महत्त्व को स्वीकार किया। अकबर के मुख्यमन्त्री तथा उस युग के सर्वोच्च विद्वान एवं सुप्रसिद्ध ग्रन्थ “आइन अकबरी” के लेखक अबुल फजल ने लिखा है—

“दुर्गावती में अदम्य उत्साह था, उसकी कार्यक्षमता की बराबरी आसानी से नहीं हो सकती। वह अपने राज्य और प्रजा की रक्षा में सदैव तत्पर रहा करती थी। उसका निशाना कभी नहीं चूकता था, उसकी आदत थी कि जब कहीं कोई शेर दिखाई पड़े तो उसे मारे बिना वह जल तक ग्रहण नहीं करती थी। वह दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ में अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञों को भी मात करती थी।”

एक भारतीय नारी के लिये जिसने अकबर के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया और मुगल सेना को दो बार हराया हो, अकबर के सच्चे सहयोगी और हितचिन्तक अबुल फजल की यह स्वीकारोक्ति साधारण नहीं है। इससे हम विश्वास कर सकते हैं कि रानी दुर्गावती निःसन्देह उस जमाने के वीरों में अग्रगण्य और नारी जाति का मुख उज्ज्वल करने वाली महिला थी। उसने यह सिद्ध कर दिया कि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों पर हीनता का जो आक्षेप किया जाता है वह निराधार ही है। स्त्रियाँ भी, अगर उनको उचित अवसर और धन प्राप्त हो, तो प्रत्येक क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सकती हैं। समाज और उसके संचालनकर्ताओं का कर्तव्य यही है कि स्त्रियों के प्रगति-पथ में लगे प्रतिबन्धों को दूर कर दें और जन-समुदाय को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे समाज सेवा के विविध कार्यों में स्त्रियों के प्रविष्ट होने का विरोध करना छोड़ दें। वर्तमान युग, समता का युग है—जब मजदूर पूँजीपतियों के बराबर अधिकार चाहते हैं तो कोई कारण नहीं कि स्त्रियों को केवल लिंग भेद के आधार पर उच्च और समाजोपयोगी विविध कार्यों से वंचित रखा जाये।

यद्यपि रानी दुर्गावती ने जिस क्षेत्र में अपनी विशेषता प्रकट की थी, सशस्त्र संग्राम में बड़े-बड़े पुरुष सेनापतियों को शस्त्र-संचालन में जिस प्रकार हतप्रभ किया था, अब

उसका युग समाप्त हो गया है। अगर हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई इस क्षेत्र में अन्तिम महिला थीं। अब नारियाँ तो क्या पुरुष सेनापति भी आमने-सामने के युद्ध में ऐसी वीरता नहीं दिखाते हैं। वे अपने कार्यालय में बैठकर ही बड़े-बड़े युद्धों का संचालन करते हैं। अपितु महान कार्यों के लिये नैतिक साहस, धैर्य और आत्म-त्याग आदि गुणों की अब भी वैसी ही आवश्यकता है, और हम कह सकते हैं कि यदि उपयुक्त वातावरण मिले तो भारतीय नारियाँ अब भी वैसे ही कार्य करके दिखा सकती हैं जैसे महारानी दुर्गावती, अहिल्याबाई और लक्ष्मीबाई ने किये थे। फिर यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि गत चार-पाँच सौ वर्ष के भीतर ये तीन नारियाँ ही पराक्रमी और देशभक्त हुई थीं। इतिहास में नील देवी, कर्माबाई, वीराबाई, कलावती, रानी भवानी आदि और भी अनेक वीर क्षत्राणियों का वर्णन मिलता है जिन्होंने घोर संग्राम करके शत्रुओं को पराजित किया था तथा और भी राजघरानों में अनेक वीरांगनायें इनकी समता करने वाली मिल सकती थीं, पर पर्दा-प्रथा और स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही मान लेने की मनोवृत्ति ने उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। सन्तोष की बात है कि अब समाज ने अपनी इस भूल को समझ लिया है और स्त्रियों को पुरुषों के समान सब प्रकार के अधिकार देने को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया है। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् ने कुछ समय पूर्व लिखा था—

“यह बात निर्विवाद सत्य है कि स्त्रियों को कानून द्वारा किसी भी धन्दे को करने से रोकना अनुचित है। उनको वे सभी अवसर मिलने चाहिये, जिससे वे राष्ट्र के बड़े से बड़े पद तक पहुँच सकें, परन्तु नारी के लिये यह कभी उचित न समझा जायेगा कि वे अपनी संख्या के अनुपातानुसार पुरुषों के समान नौकरियाँ माँगने लगे। मैं तो यह भविष्यवाणी कर सकता हूँ कि ऐसी परिस्थिति कभी उपस्थित हो ही नहीं सकती, चाहे स्त्रियों को कितने ही अधिकार क्यों न मिल जायें। उनमें से अधिकांश सदा यही मानेंगी कि ‘घर’ का बनना या बिगड़ना उन्हीं पर आधारित है और बिना घर के स्त्रियों और पुरुषों के जीवन की कृतकार्यता असम्भव है, पर जिन स्त्रियों के लिये घर बना सकना या घर पर रह सकना कठिन हो वे अवश्य नौकरी या कोई अन्य पेशा करेंगी और प्रत्येक सभ्य जाति का कर्तव्य है कि उनको वे सब अवसर दिये जायें जिससे वे ऊँचे से ऊँचे सम्मानयुक्त पदों तक पहुँच सकें।”

सन्तोष की बात है कि जो विचार बहुत वर्ष पूर्व प्रकट किया गया था, आज कार्यरूप में परिणित हो रहा है। आज भारतीय स्त्री-स्वाधीनता की दृष्टि से किसी अन्य देश से पीछे नहीं और यहाँ की नारियाँ ऊँचे से ऊँचे पदों के उत्तराधिकार के दायित्व का योग्यतापूर्वक निर्वाह करके महारानी दुर्गावती तथा अहिल्याबाई जैसी महान देवियों का उदाहरण प्रस्तुत कर रही हैं।

उदारता और महानता की प्रतिमूर्ति महारानी अहिल्याबाई

उज्ज्वल मन और उन्नत आत्माओं की चमक मनुष्य के व्यक्तित्व में अवश्य परिलक्षित होती है, जिसको बुद्धिमान व्यक्ति एक झलक में ही परख लेते हैं। इसीलिये मुख को अन्तर का दर्पण कहा गया है।

इसी प्रकार के अपने आलोकित व्यक्तित्व और गुण गरिमा के कारण अहिल्याबाई एक दिन इन्दौर की महारानी बनीं किन्तु, महारानी बनकर भी अहिल्याबाई ने सेवा, सौम्यता, सरलता और सादगी की अपनी विशेषताओं का परित्याग नहीं किया। स्थिति अथवा अवस्था के बदल जाने पर जो व्यक्ति अपनी उन्नति के मूल आधारों का त्याग कर देता है, अन्ततः उसे पतन के गर्त में गिरना होता है अतएव, बुद्धिमान व्यक्ति अपने उन मूल कर्तव्यों को

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी नहीं छोड़ते हैं और बड़े से बड़ा मूल्य चुका कर, दृढ़ता, धैर्य और साहस के साथ उनकी रक्षा करते हैं।

अहिल्याबाई का जन्म सन् १७३५ में महाराष्ट्र के पाथडरी नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम मनकोजी सिंधिया था। मनकोजी एक सामान्य गरीब आदमी थे, थोड़ी-सी भूमि, दो बैल और एक हल के बल पर उनकी नौका एक तरह से सूखे में चली आ रही थी। मनकोजी सच्चाई के साथ पूरा परिश्रम करते थे। जो कुछ पैदा हो जाता था उसी में सन्तोषपूर्वक अपनी गुजर-बसर चलाते हुए प्रसन्न रहा करते थे, नित्य प्रति भगवान की पूजा-अर्चना करना उनके जीवन का एक अंग

१.१५ मरकर भी अमर हो गये जो

था । इसी उपासना की दिनचर्या ने उनको और उनके परिवार को संसार के सारे विकारों और माया-मोहों से बचाये रखा । घोर गरीबी में उनकी पवित्र जीवनधारा प्रसन्नतापूर्वक बही चली जा रही थी, उन्हें न तो कभी अभाव सताता था और न वे कभी लोभ से प्रभावित होते थे । उनके इसी शारीरिक तथा मानसिक तप के फलस्वरूप उनकी एकमात्र सन्तान अहिल्याबाई परमात्मा के कृपा-प्रसाद के समान सिद्ध हुई ।

अहिल्याबाई न तो अपूर्व सुन्दरी थी और न आकर्षक कलावती । वह एक सीधी, सरल और भोली-सी ग्रामीण कन्या थी । स्वभाव की नैसर्गिक सरलता तो उसे अपनी उस सन्तोषवृत्ति से मिली थी, जिसका विकास कर लेने से बाहरी परिस्थितियों में गरीब होते हुए भी मनुष्य अन्दर से बड़ा ही सम्पन्न और परिपूर्ण बना रहता है । अभाव तथा आवश्यकतायें अधिकांशतः मनुष्य की चपल वृत्तियों की उपज होती हैं, लोभ जिनमें उर्वरक का काम करके उन्हें विस्तृत ही नहीं कण्टकित भी बना देता है । ऐसे चपलवृत्ति के लोग अकारण ही अपने को निर्धन, अभावग्रस्त अनुभव किया करते हैं, वे जब भी किसी को नूतन प्राप्ति में देखते हैं, उनका हृदय तड़प कर कह उठता है—हाय, ये वस्तुयें हमारे पास नहीं हैं । यह व्यक्ति हमसे अधिक सम्पन्न तथा सुखी है । इतना ही क्यों बहुत बार तो वे अपनी उपलब्धियों को भी न्यूनता की दृष्टि से देखते हुए अपने को हठात् निर्धन तथा अभावग्रस्त अनुभव करते रहते हैं । ऐसे लोलुप तथा लिप्सालु व्यक्ति की स्थायी आवश्यकतायें तो कम नहीं ही होती हैं साथ ही उन्हें नित्य नई, कृत्रिम तथा अनावश्यक आवश्यकतायें घेर रही हैं । वह सदैव दुःखी तथा विपन्न ही बना रहता है, न तो उसे जीवन का आनन्द मिलता है और न प्राप्ति का सुख ।

इसके विपरीत अपनी वृत्तियों में सन्तोष को समाहित कर लेने वाले स्थिर व्यक्ति की आवश्यकतायें प्राकृतिक सीमा तक ही प्रतिबन्धित रहती हैं, जिसके फलस्वरूप न तो उसे अभाव सताता है और न लिप्सा अथवा दयनीयता का दुर्भाव ही उसे आक्रान्त कर पाता है । आवश्यकताओं की कमी स्वयं ही अपने में एक सम्पन्नता है, एक ऐसी सम्पन्नता जिसका पोषण करने के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है और न पदार्थों की ।

भोलापन उसकी आत्मा की वह शान्ति थी जो अधिक संसार लोलुप न होने से आप ही मिल जाती है । इस प्रकार आत्मा और मन के पवित्र होने से अहिल्याबाई का मन भगवान के पूजन में बहुत लगता था । वह नित्यप्रति नियम से शिवजी के मन्दिर में पूजा करने जाती थी । कोई

भी बाधा, कोई भी कठिनाई और कोई भी परिस्थिति अहिल्या को उसके इस व्रत से विरत न कर पाती थी । मूसलाधार वर्षा के समय भी वह एक स्वस्थ बल्लरी की भाँति भीगती हुई अपने पथ पर चली जाती थी और शीतकाल में हिम-पात भी उसे अपने नियम से विचलित न कर पाता था । वह स्वयं ही दृढ़निष्ठा की प्रतिमूर्ति के समान अकम्पित गति से अपने नियम-निर्वाह की प्रसन्नता प्राप्त करती रहती थी । अहिल्याबाई की वह छोटी-सी पूजा ही उसकी संलग्नता, अखण्डता और ऐकान्तिकता से एक विशाल तपस्या के रूप में विकसित हो गई थी, जिसकी पूर्णता ने उसमें एक ऐसे तेज की स्थापना कर दी कि वह सामान्य-सी ग्रामीण कन्या देवी-सी प्रतीत होने लगी थी । लोग उसे आदर और भक्ति-भाव से देखने लगे थे ।

अहिल्याबाई की यह अटूट निष्ठा देखकर अनेक बार उसकी सहेलियाँ पूछा करती थीं—“अहिल्या ! तुम भोले बाबा की बड़ी सेवा करती हो । उनसे कौन-सा वरदान माँगना चाहती हो ।”

“मैं तो कोई भी दान-वरदान नहीं चाहती, यों ही जल-फूल चढ़ाकर चली आती हूँ ।” अहिल्या उत्तर देती ।

‘कुछ माँगो जरूर करो’—सहेलियाँ कहतीं और उत्तर पातीं—“जब मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है तब माँगू क्या ?”

और वास्तव में उस सरलता एवं सन्तोष की प्रतिमा को कुछ चाहिये भी न था । सन्तोष जिसका धन हो और पवित्रता जिसका सम्बल, उस भाग्यवान् को फिर आवश्यकता भी क्या रह जाती है ? उसकी सम्पूर्ण याचकता, अकिंचनता और अधिकता आराध्य की अमोघ भक्ति से स्थानापन्न होकर सदा के लिये पन्तुष्ट हो जाती है और वह एक आलोकित आत्मा के साथ आनन्द से उस आध्यात्मिक अंश का आस्वादन किया करता है जो आलोक-परलोक सभी प्रकार के सुखों का आदि स्रोत होता है ।

किन्तु भक्त की निष्कामना भगवान में कामना बनकर गूँजने लगी । भगवान की इच्छा हुई कि अहिल्या रानी बने, फिर क्या था योग जुड़ गया । नहीं तो, कहाँ एक गाँव की किसी झोंपड़ी में पलने वाली अहिल्या और कहाँ इन्दौर की गद्दी । परमात्मा न तो अपने हाथ से किसी को कुछ देता है और न छीनता है । वह इन दोनों के लिये मनुष्यों की आन्तरिक प्रेरणा द्वारा परिस्थितियाँ उत्पन्न करा देता है, आप तटस्थ भाव से मनुष्यों का उत्थान-पतन देखा करता है ।

इन्दौर के महाराज मल्हार राव होल्कर, पूना आते समय मार्ग में पाथरी गाँव के उसी शिवालय के पास ठहरे जिसमें अहिल्या नित्य पूजन करने आती थी।

प्रभात हुआ, पक्षियों के कलरव में कर्त्तव्यों की प्रेरणा मुखर हो उठी। ऊषादेवी ने प्राची दिशा में नई आशाओं और नूतन उत्साह का प्रतीक अपना केसरिया अंचल विस्तार किया, प्रातःकाल की पवित्र वायु ने प्राणों में नवस्फूर्ति का संचार किया, तालाबों में कमल और लताओं में फूल पुरुषार्थियों के भाग्य के समान खिल उठे, चारों ओर का वातावरण स्वास्थ्यपूर्ण सात्त्विकता से ओत-प्रोत हो उठा। मनुष्य जागे और उस देव-मुहूर्त में अपने नित्य-नैमित्तिकों में लग गये। निशाचर और असुर-वृत्ति के जीवों के पलक झपकने लगे और वे निभृत अंधकारों में आलसी के प्रारब्ध की भाँति जाकर सो गये।

देवदूतों की प्रभात-फेरी के समान अहिल्या पूजा करने आई। मन्दिर के चारों ओर बड़ी चहल-पहल थी। हाथी, घोड़े, रथ और आदमियों की भीड़ ही भीड़ थी किन्तु, अहिल्या बिना किसी ओर देखे सत्पुरुषों के विचार की भाँति अपने लक्ष्य मूर्ति-मन्दिर की ओर, उपराम भाव से चलती गई। लोग मौन होते और मार्ग छोड़ते गये। कन्या ने नित्य की भाँति एकाग्र मन से यथावत पूजन किया और उसी अलिप्त भाव से वापस चली गई। उस पर न तो उस भीड़-भाड़ का ही कोई प्रभाव पड़ा और न वह दुर्चिन्ता हुई, न उसके मन में किसी प्रकार के भय अथवा संकोच का भाव आया। वह निर्विकार भाव से आई और निर्विघ्न भाव से वैसे ही चली गई जैसे निष्काम-कर्मयोगी संसार में अपना कर्त्तव्यपालन कर प्रस्थित हो जाते हैं। अहिल्या अपनी गति में इतनी एकाग्र आई-गई जैसे वहाँ कोई था ही नहीं, सब ओर सन्नाटा और सूनापन था। उसको सबने आते-जाते देखा किन्तु, उसने जैसे किसी को नहीं देखा। यह उसकी मानसिक पूर्णता का लक्षण था जो आत्मस्थ एवं अचंचल व्यक्तियों में सहज ही सिद्ध हो जाता है।

महाराज मल्हार राव ने भी देखा किन्तु, उनका देखना विचार क्रिया में बदल गया। वे सोचने लगे, क्या संसार में ऐसा भी सम्भव है कि महाराजा का वैभवपूर्ण शिविर लगा हो, चारों ओर घोड़े हिनहिना रहे हों, हाथी झूम रहे हों और कोई एक, वह भी साधारण-सी ग्रामीण लड़की आये और बिना किसी प्रभाव के इतने तटस्थ भाव से चली जाये, मानो वहाँ राजा तो राजा एक छोटा-सा प्राणी भी न हो। जबकि अच्छे से अच्छे स्थैर्यवान् राजवैभव को भय और विस्मय के भाव से देखने पर विवश होते हैं और कुछ नहीं तो कम से कम राजैश्वर्य असामान्य एवं अस्वाभाविक

विशेषता के कारण कौतूहल का विषय तो होता ही है। महाराज होल्कर के हृदय में अहिल्या की यह तटस्थता, तन्मयता एवं निर्भयता श्रद्धा बनकर बैठ गई। वे बेचैन हो उठे।

यह राजत्व पर सात्त्विकता की विजय थी। स्वत्व पर सन्तोष और अभीप्सा पर निस्पृहता की श्रेष्ठता थी। महाराज मल्हार राव का बेचैन होना स्वाभाविक ही था, जिस राज-वैभव को उन्होंने और उनके पूर्वजों ने नीति और शस्त्र दोनों के समन्वित प्रयत्न से संचय किया था और जिसके आधार पर वे एक महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित थे उसका अवमूल्यन हो गया था। आज की घटना से हृदय की विशालता, गम्भीरता और आत्म-गौरव की महानता में उनका विश्वास और भी बढ़ गया था और वास्तविक वैभव मनुष्य के अन्तस् में निवास करता है, यह नूतन अनुभव भी उनके जीवन-चिन्तन में जुड़ गया था। निःसन्देह सात्त्विक भाव ही वह उपलब्धि है जो बिना किसी बाह्याडम्बर के मनुष्य को चिरसम्पन्न बनाये रखती है।

महाराज मल्हार राव ने अपनी अशान्ति का चिरस्थायी हल निकाल लिया। किसी की महानता से होने वाली संतप्त प्रतिक्रिया के समाधान का इससे सुन्दर और कल्याणपूर्ण उपाय हो ही नहीं सकता कि उसकी महानता स्वीकार की जाये और उसे अपना बनाया या स्वयं उसका बन जाया जाये। इस प्रकार किसी की महानता का अनुबन्धन अपने से भी हो जाता है। आत्मभाव की स्थापना से किसी की वह महानता जो हीनतापूर्ण प्रतिक्रिया का कारण हो सकती है, सम्बन्धाभिमान का हेतु बनकर सन्तोषदायक हो जाती है, अहंकार की पीड़ा के स्थान पर गौरव-गरिमा का अनुभव होने लगता है। इसी आध्यात्मिक लाभ के कारण ही तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है।

महाराज मल्हार राव ने पता लगवाया और अहिल्या के पिता को बुलवा कर कहा—“सिंधिया ! मैं आपकी सुलक्षणा बेटी को अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहता हूँ। आशा है आप मुझे निराश न करेंगे।”

महाराज इन्दौर का इतना कह देना भी अधिक से अधिक था और यह एक सामान्य व्यक्ति पर महती कृपा थी तथापि गुणवती अहिल्या का मूल्य उनकी दृष्टि में इतना हो गया था कि एक बार शंका हुई कि कहीं मनकोजी इन्कार न कर दें। इसे ही तो कहते हैं—गुणज्ञता एवं गुणग्राहकता जो किसी निरस्तेय गुणज के लिये ही सम्भव है। महाराज मल्हार राव एक ऐसे ही उदार गुणज्ञ थे। उन्होंने दोहराया—“क्यों सिंधिया ! क्या मेरा प्रस्ताव....”

१.१७ मरकर भी अमर हो गये जो

महाराज का वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि मनकोजी सहसा कह उठे—“नहीं ! नहीं ! महाराज ।”

मनकोजी आपे में ही न थे, महाराज की बात सुनकर उन्हें तारे दीखने लगे थे । सहसा कानों पर विश्वास ही न हुआ था, उनकी छोटी-सी जीवन परिधि में इतना बड़ा आलोक-पुंज अप्रत्याशित रूप से चमक उठा था कि वे चकाचौंध होकर इस प्रकार विस्मय विमूढ़ हो गये थे जिस प्रकार कोई असिद्ध साधक अकस्मात् ही परमात्म-तेज पाकर आत्म-विभोर होकर समझ नहीं पाता कि यह क्या हो गया है ? तभी तो वे महाराज के प्रस्ताव का सहसा उत्तर न दे पाये थे । महाराज ने उन्हें आश्वस्त किया और वे ईश्वरीय अनुग्रह से प्रकृतिस्थ तथापि आनन्द-विह्वल सिद्ध के समान वापस चल दिये ।

मनकोजी भागे-भागे घर आये और उन्होंने सौ सपूतों से भी अधिक मूल्यवती अपनी बेटी को करुणाग्र गौरव से देखा । अहिल्या उस समय गौ का गोबर उठाकर हाथ धोने जा रही थी । पिता ने उसके दोनों हाथ पकड़कर खुद धुलाते हुए गद्गद् कण्ठ से कहा—“बेटा ! अब तेरे यह हाथ गोबर में कभी न सनेंगे । अब यह इन्दौर की राज-सत्ता में सहायक होंगे । अहिल्या को तो अपने पिता का यह क्रिया-कथन ही नहीं समझ में आया, उसकी माता भी विस्मय के साथ यह कहती हुई आ गई कि आज आप यह क्या कर रहे हैं और क्या कह रहे हैं ?

हाँ, ठीक कह रहा हूँ । इन्दौर के महाराज मल्हार राव होल्कर ने अहिल्या को अपनी पुत्र-वधू बनाने के लिये आज ही सबेरे तो मुझसे माँग लिया है, इसी याचना के लिये ही तो उन्होंने मुझे बुलाया था । अहिल्या सुनते ही कोठरी में भाग गई और वे दोनों उसे ऐसे देखते रहे मानो वे अहिल्या के माता-पिता होने योग्य न थे ।

माता-पिता बेटी की विदाई के विषय में कुछ बात करने ही वाले थे कि तब तक बाहर से आवाज आई, “मनकोजी ! कन्या को अभी जैसी बैठी हो भेज दीजिये, महाराज ने पड़ाव उठा दिया है ।” मनकोजी ने बाहर आकर देखा—चाँदी के डण्डों और जरीदार मखमली उहार की पालकी द्वार पर रखी हुई थी, महाराज का प्रधान-प्रबन्धक खड़ा प्रतीक्षा कर रहा था । साथ में अनेक दूत और सिपाही भी थे ।

अहिल्या के पास कोई और वस्त्र थे ही नहीं, बदलाये भी क्या जाते ? उसी सफेद मोटे गाढ़े की धोती में, जोकि वह पहने हुए थी, पालकी में आदर और आर्द्रतापूर्ण वातावरण में बिठा दी गई । सिसकती हुई अहिल्या को लेकर पालकी ऐसे चल दी जैसे अनासक्त कर्मयोगी की

साधना उसके उत्सर्ग पुष्पों को पावन दिशा में ले जाती है और भारी हृदय से घर आकर मनकोजी ने अपने को ऐसा हल्का अनुभव किया कि मानो वे जीवन-मुक्त हो गये हों ।

अरे ! मनुष्य में देवत्व के प्रतिनिधियों ! अभ्युदय के प्रत्यूष-पर्व के समान सौभाग्य के प्रतीको ! सात्विकता की सन्तान सद्गुणो ! तुम्हारी जय हो ! तुम्हें अपनाकर जमीन का एक जरा भी आकाश का चाँद बन जाता है तब अहिल्या तो एक कन्या थी, पवित्र मानवी थी ।

महाराज होल्कर इन्दौर लौट चले । अहिल्या के आगे-आगे अपनी सवारी में वे इतने प्रसन्न, पुलकित एवं उत्साहपूर्वक जा रहे थे मानो दिग्विजय करके लौटे हों । राजधानी पहुँचकर मल्हार राव ने अहिल्या का विवाह अपने पुत्र खाण्डेराव के साथ कर दिया ।

अब अहिल्या इन्दौर की युवरानी बन गई थी । यद्यपि वह न तो राजपुत्री थी और न राज-घरानों से उसका कोई सम्पर्क ही रहा था । तथापि उसे राज-वधुत्व के निर्वाह में कोई कठिनाई नहीं हुई । उसके पास, शील, शालीनता, अनुशासन, विनम्रता, गम्भीरता और धीरता, आज्ञापालक के ऐसे मूल गुण थे, जिनके आधार पर किसी भी समाज और किसी भी स्थिति में सफलतापूर्वक व्यवहार किया जा सकता है ।

एक छोटी स्थिति से इतनी बड़ी पदवी पर आ जाने पर भी अहिल्या के हृदय में किसी प्रकार के अभिमान का अनुभव नहीं हुआ । उसने अभिमान के स्थान पर उत्तरदायित्व का ही अधिक अनुभव किया । ऐश्वर्यपूर्ण राजमहल की परिस्थितियों में पहुँचकर भी उसकी सादगी तथा सरलता में कोई अन्तर न आया । बल्कि उसके आगमन से राजमहल के वातावरण में ही सात्विकता का समावेश हो गया ।

युवरानी हो जाने पर भी स्थैर्यवती अहिल्या ने सादे वस्त्र, साधारण भोजन और सरल व्यवहार का परित्याग नहीं किया था । मनुष्य को अपनी उन्नति के आधारों का पता रहता है और जिनको पता नहीं रहता उनकी उन्नति एक योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुगत नहीं होती । वह एक आकस्मिकता, संयोग अथवा घटना मात्र होती है । ऐसी अनजान उन्नति पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं रहता और वह जिस प्रकार संयोग के समान आती है वैसे ही घटना के समान बीत जाती है ।

इसका कारण यह होता है कि आयोजक व्यक्ति को अपनी उन्नति के कारणों तथा आधारों का ज्ञान नहीं रहता, अस्तु वह अपनी अस्त-व्यस्तता में उनकी रक्षा नहीं कर पाता । आधार उखड़ जाने से उसकी उन्नति का भवन

टूटकर गिर पड़ता है। इसके विपरीत जो कर्मयोगी अपने जीवन का विकास क्रमबद्ध योजना के अनुसार किया करते हैं उन्हें अपनी सफलता के कारण आधार ज्ञात रहते हैं और वे हर मूल्य पर उनकी रक्षा करके अपनी सफलता तथा उन्नति को स्थायी बना लेते हैं। इसी को बुद्धिमत्तापूर्ण जीवन-यापन कहते हैं।

यद्यपि अहिल्या ने किसी अलभ्य जीवनोन्नति के लिये उसके आधार पर अपने सात्त्विक गुणों का आराधन नहीं किया था, यह उसके सहज स्वभाव के ही अंग थे तथापि, जब उसे न चाहते हुए भी अप्रत्याशित रूप से उन गुणों का पुरस्कार मिल ही गया तो अवश्य ही उसने उस पर विचार किया और समझ लिया कि यह सब सम्मान उसका नहीं उसके उन गुणों का है, जिन्हें वह अपने निश्छल तथा निर्लिप्त पद्धति के परिणाम स्वरूप निसर्ग क्रम से पा सकी थी, निदानस्वरूप वह अपनी उन्नति के उन आधारों के प्रति अधिकाधिक निष्ठावती हो गई और सावधानीपूर्वक उनकी रक्षा करने लगी। सावधानी अब उसके लिये अपेक्षित भी थी। एक तो वह अपने उस ग्रामीण जीवन से ठीक विपरीत परिस्थितियों तथा वातावरण में आ गई थी, जहाँ पूर्व जीवन में प्राप्त वातावरण उसके सात्त्विक तथा सरल गुणों का सहायक तथा सहयोगी था, वह वर्तमान स्थिति उसकी विरोधी न सही परीक्षक अवश्य थी। साथ ही अब वह अल्हड़ और निरपेक्ष जीवन क्रम से ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान पर आ गई थी, जिस पर रहकर मनुष्य का प्रत्येक कार्य एक अर्थ, एक प्रभाव और एक दूरगामी परिणाम रखता है। अतएव ऐसी अर्थ-द्योतक स्थिति में उदात्त उत्तरदायित्व ही सम्बल होता है जिसके निरीक्षण में ही हर कदम प्रमाणिक तथा निरापद रूप से उठा सकना सहज एवं सम्भव होता है। अहिल्या ने वह उत्तरदायित्व धारण किया और अपने उच्च आचरण के कारण किसी को यह अवसर न दिया कि कोई उसके वर्तमान को लेकर उसके पूर्व जीवन की ओर संकेत कर सकता। गुणवती अहिल्या को अपने ग्रामत्व के साथ राजत्व का सामंजस्य कर लेते देर न लगी। जो धैर्यवान अपने तथा अपनी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर सकने के अभ्यासी होते हैं वे किसी भी स्थिति में सन्तुलन बनाये रखने में सफल रहा करते हैं। उसने अपने आदि गुणों को छोड़ना तो क्या, प्रस्तुत परिवर्तन से और भी नूतन तथा महान बना लिया।

अहिल्या के सारल्य में उसके सेवा भाव ने और भी चमत्कार पैदा कर दिया। उसने पति, सास, ससुर तथा अन्य गुरुजनों की सेवा इस एकाग्र मन से की कि वह सबकी प्राणथ्यारी बन गई। उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा कि यदि अहिल्या उनके जीवन में न आई होती तो कदाचित् वे उस

सुख, उस शान्ति और उस सन्तोष से अपरिचित रह जाते जो सत्संतानों से मिला करता है। अहिल्या की सेवा से द्रवित उस राजकुल का स्वाभाविक शासन का कठोर भाव बहुत कुछ विनम्र हो गया, जिसकी शीतलता उनके लिये एक नया अनुभव था। उन्होंने अपनी आत्मा में इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि शासनजन्य अहंकार की अपेक्षा स्नेहजन्य शालीनता में अधिक सुख और गौरव है। अहिल्या ने कनिष्कों को इतना स्नेह और सेवकों को इतनी करुणा प्रदान की कि वे सब उसकी रक्षा के लिये अधिक सजग तथा अनुशासित हो गये। स्वामियों की सौम्यता और सेवकों की अनुशासनवृद्धि से राजमहल में जिस सन्तुलन का समावेश हुआ उसके कारण अब भय का नहीं मानवता का शासन स्थापित हो गया। राजमहल का आतंकपूर्ण तनाव शिथिल हो गया और सभी अपने-अपने स्थान पर एक स्वाभाविक सरलता का अनुभव करने लगे। एक दीपक के जल उठने से कक्ष की सारी वस्तुयें अपने सहज अस्तित्व में आ जाती हैं। एक अहिल्या के आगमन से यदि राजमहल के कृत्रिम जीवन में स्वाभाविकता का समावेश हो गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। एक सत्य संसार को प्रभावित कर लेता है और एक मनुष्य समाज को बदल डालता है। सात्त्विकता से सुशोभित गुणों में ऐसी ही अपरिचित शक्ति तथा सुन्दरता होती है।

इतना सब होने पर भी अहिल्या अपने पूर्व जीवन को कभी न भूलती थी। उसे अपनी उस गरीबी के प्रति बड़ी करुणा और ममता थी। उसकी इस विगत स्मृति ने उसमें गरीबों तथा अभावग्रस्त लोगों के प्रति न केवल दया ही बल्कि आदर भावना को भी विकसित कर दिया। उसे संसार के सारे गरीब अपने बन्धु जैसे अनुभव होते थे और वह यथासाध्य उनकी सहायता करती रहती थी। दया और दान-शीलता के गुण उसके पहले गुणों में जुड़कर स्थिर हो गये। पूजा का वह क्रम जो उसके जीवन का एक अंग बना हुआ था आज भी चल रहा था। आज की सम्पन्न स्थिति में भी उसने भगवान की पूजा के उपकरणों में वही फूल और जल ही रखे थे। उसने उनमें पकवान, मिष्ठान अथवा अन्य धन द्योतक वस्तुओं को शामिल नहीं किया था। अब वह अपनी प्रार्थना में इतना अवश्य कहने लगी थी कि “हे भगवान ! मैं आपकी वही अहिल्या हूँ, इस परिवर्तित स्थिति से उसे बदली हुई कोई दूसरी अहिल्या न समझें; और वह शक्ति देते रहें जिससे वह आजीवन वही सेविका बनी रहे जो अपने विगत जीवन में थी। इस धन, इस वैभव और इस सम्पदा का समुचित उपयोग तो कर सकूँ किन्तु, यह सब माया मुझमें भोगवृत्ति का दोष उत्पन्न न कर सके। आपने जो कुछ दिया, उसे आपका ही समझती

१.१६ मरकर भी अमर हो गये जो

रहूँ और आपके ही मार्ग में उसका उपयोग करती रहूँ । अहंकार, दम्भ और वासनाओं के अभिशाप से बचाये रहें । मुझको ऐसी बुद्धि, ऐसा विवेक और ऐसी स्मृति दें कि मैं मानवता के सुन्दर गुणों से विरत न हो सकूँ ।”

अहिल्या ने अपने पूजा उपकरणों में वैभव का समावेश नहीं किया क्योंकि वह जानती थी कि ऐसा करने से उसके दोष से हृदय में अहंकार, सम्पन्नता तथा धनाढ्यता का भाव जाग सकता है । अधनता से प्रभावित भक्ति भाव में जो निर्वेद और जो आध्यात्मिक दैन्य रहा करता है जो कि परमात्मा की करुणा का सम्पादन करता है, न रहेगा । उसकी पूजा नीरस तथा भावनाहीन होकर निष्प्रभता के कारण हल्की हो जायेगी । धन से देवता की पूजा करने के बजाय वह उसको परमार्थ पथ में व्यय करने को अधिक उपयुक्त मानती थी । अहिल्या अपनी इस मान्यता को कार्यान्वित भी करती थी । अहिल्या को अपनी व्यक्तिगत वृत्ति राजकोष से मिलती थी, वह उसका बहुत बड़ा अंश तो परमार्थ एवं परोपकार में खर्च करती थी । वह भोजन करने से पहले कई भूखों को भोजन देती थी, नंगों को वस्त्र और आवश्यकताग्रस्त पात्रों को धन भी दिया करती थी । अनेक विधवाओं को सहायता और छात्रों को वृत्ति दिया करती थी । अहिल्या के इन सत्कर्मों ने उसको न केवल अधिकाधिक तेजवती ही बना दिया था बल्कि जनता में भी बड़ी ही श्रद्धा तथा लोकप्रियता का पात्र भी बना दिया था ।

परिस्थितियों के कारण अहिल्या को विद्याध्ययन का अवसर न मिल सका था । उसकी यह इच्छा मन में ही रह गई थी, पर ज्योंही उसकी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हुईं उसने अध्ययन का कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया । इस प्रगति में उसे बहुत कुछ सहायता अपने पति खाण्डेराव से मिली तथापि, वह सहायता पर्याप्त नहीं थी, राज-काज के कारण बहुत बार खाण्डेराव कई-कई दिन तक अहिल्या को कुछ पढ़ा न पाते थे । अहिल्या ने अपनी यह इच्छा अपने समुद्र पर प्रकट की, कहना था कि, तत्काल अहिल्या की पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया गया ।

जो वृद्ध महाशय अहिल्या को पढ़ाने आते थे, अहिल्या उनके प्रति बड़ा आदर का भाव रखती थी । एक छात्र के अनुशासन और विनम्रता के गुणों का वह पालन पूरी तरह करती थी । वह अपने गुरु के सम्मुख युवराज्ञी के रूप में कभी न आती थी । गुरु के सम्मुख उसका आगमन एक सुशील छात्रा तथा शिष्या के रूप में ही होता था । उसकी इस शिष्टता ने गुरु की सारी सद्भावनायें प्राप्त कर लीं, विद्यार्थी का अध्यवसाय और गुरु की सद्भावना जब दोनों

ही अध्ययन काल में परस्पर जुड़ जाते हैं तब अध्ययनार्थी की प्रतिभा में सरस्वती का जागरण आप से आप होने लगता है । अहिल्या के साथ भी वैसा ही हुआ । उसे रोज का पाठ रोज ही याद होने लगा और इस प्रकार वह शीघ्र ही एक अच्छी विद्यावती बन गई । शिक्षा के प्रकाश ने अहिल्या के गुण-गौरव को और चमत्कृत कर दिया । अशिक्षा के एक दोष के कारण अहिल्या का जो गुणी जीवन अभी अपूर्ण-सा दीखता था वह जल्दी ही पूर्ण हो गया ।

सेवा, उत्तरदायित्व, कर्तव्यनिष्ठा और अब शिक्षा से प्रसन्न होकर मल्हार राव ने अहिल्याबाई को राजकाज की शिक्षा भी देनी शुरू कर दी । उन्हें पुत्र की अपेक्षा अपनी पुत्र-वधू के गुणों में अधिक विश्वास था, यह एक आदरपूर्ण उपलब्धि थी, एक गहरा सम्मान था तथापि, अहिल्या में इससे भी कोई मनोविकार न आया और यथावत् सौम्य, सरल तथा शालीन बनी रही ।

हल्के धरातल वाली स्त्रियाँ प्रायः पति से आगे बढ़ जाने पर दम्भी तथा निरंकुश हो जाया करती हैं और पति पर शासन करने का प्रयत्न किया करती हैं किन्तु अहिल्याबाई ऐसी हल्की अथवा उथली मनोभूमि वाली नारी न थी । उसमें भारतीय ललना का आदर्श कूट-कूट कर भरा हुआ था, वह दाम्पत्यजीवन में शासन भावना को पारस्परिक प्रेम के लिये अभिशाप समझती थी, वह जानती थी कि जो सुख, जो सन्तोष और जो शीतलता पारस्परिक प्रेम में होती है वह शासन अथवा अधिकार भावना में नहीं होती । वह शासन के मद पर दाम्पत्य सौम्यता को बलिदान करने वाली नारी न थी । सेवा के सुख का अनुभव कर लेने वाली सत्कारियाँ निरंकुशता की तीक्ष्णता को कभी पसन्द नहीं करतीं । जो सुख और जो सुरक्षा पति के आधीन रहने में होती है वह उच्छृंखल, निरंकुश अथवा स्वच्छन्द रहने में कहाँ ?

पति के प्रति पत्नी का सम्पूर्ण आत्म-समर्पण ही तो वह वशीकरण है जो पुरुष को नारी की सुकुमार मुट्ठी में दृढ़ता से ला दिया करता है । बुद्धिमती अहिल्या ललनाओं के इस जादू से अनभिज्ञ नहीं थी । अपनी प्रिया की महत्ता बढ़ते देखकर खाण्डेराव का प्रेम उस पर और बढ़ गया । वे यह सोचकर अधिक प्रसन्न तथा पुलकित रहने लगे कि राज्य संचालन में उनके लिये एक बहुत ही विश्वस्त, अभिन्न तथा अनुकूल साथी, सचिव एवं अन्तरंग साथी का निर्माण हो रहा है । सोने जैसी अहिल्या अलंकार के रूप में गढ़ी जा रही थी और उसकी अनुकूलता, उपयुक्तता एवं पात्रता पूर्णतः सिद्ध होती जा रही थी ।

बहु हो तो अहिल्या जैसी पर ससुर भी हो तो महाराज मल्हार राव जैसा, उदार तथा महान ! अहिल्या को राज-काज का व्यावहारिक प्रशिक्षण देने के लिये, जब कभी वे किसी काम से बाहर जाते थे तो शासन सूत्र अहिल्या को सौंप जाते थे । अहिल्या इस उत्तरदायित्व का पूरी तत्परता, संलग्नता तथा सत्यता के साथ पालन करती थी । वह प्रमाद में पड़कर न तो किसी काम को कर्मचारियों पर टालती थी और न किसी काम में विलम्ब करती थी । जो काम जिस समय करना आवश्यक होता था उस काम को वह उसी समय ही करती थी । उतावली अथवा विलम्ब को वह अपने पास भटकने न देती थी । दीर्घ-सूत्रता अथवा उपेक्षा उसकी सीमा से बाहर की बात थी । काम छोटा हो अथवा बड़ा वह उसको एक जैसी तत्परता तथा लगनशीलता से किया करती थी । इसका परिणाम यह हुआ कि वह राज-काज में आश्चर्यजनक रूप से दक्ष हो गई । उसने प्रयत्नपूर्वक आत्मोत्पुष्कता से राज्य के सभी विभागों के कामों को प्रायः समझ-बूझ लिया था । अहिल्या को शासन-सूत्र देकर जाने के बाद जब महाराज मल्हार राव वापस आते थे तो पाते कि अहिल्या ने सौंपा हुआ काम इतनी निपुणता से किया है, जितनी कि उन्हें आशा न थी । इस प्रकार अवसर का लाभ उठाकर और अपनी समग्र मन, बुद्धि की शक्ति लगाकर अहिल्या जल्दी ही एक कुशल शासिका बन गई । श्रम एवं संलग्नता एक ऐसा आधारभूत गुण है जो अपने को आश्रित करने वाले को ऐसा कोई काम नहीं, जिसमें कुशल न बना दे । इन गुणों के धनी लोग सेवा से लेकर शासन और शिल्प से लेकर व्यापार तक के काम को एक ही तत्परता, लगन तथा पूर्णनिष्ठा के साथ समान रूप से ही किया करते हैं जिससे उन्हें किसी भी क्षेत्र में क्यों न डाल दिया जाये वे उसमें सफल होकर दिखला देते हैं । अहिल्या योग्य होती गई और मल्हार राव का विश्वास अपनी पुत्र-वधू की योग्यता में दिनो-दिन बढ़ता गया । अहिल्याबाई की यह प्रतिष्ठा उसकी उस कर्तव्यनिष्ठा का पुरस्कार ही समझना चाहिये जिसका विकास उसने अपने जीवन में क्रम से नियम एवं संयमपूर्वक किया था ।

विवाह के बाद अहिल्याबाई के एक पुत्र और एक पुत्री दो सन्तानें हुई । जिनका नाम मालीराव और मुक्ताबाई रखा गया । इस प्रकार नौ वर्ष तक शिक्षा-दीक्षा के बीच आनन्द और उत्साह के साथ जीवन बिताने के बाद अहिल्याबाई की अग्नि-परीक्षा प्रारम्भ हुई । धैर्यवती अहिल्याबाई को जिस अग्नि-परीक्षा के बीच से गुजरना पड़ा उसमें से अविचलित रहकर निकल जाना उन जैसे ही लक्ष्यवान व्यक्तियों का काम है । अपने जीवन की अग्नि

परीक्षाओं को अहिल्याबाई ने अपने उस आत्म-विश्वास एवं आत्म-संयम के बल पर ही उत्तीर्ण किया जिसका संचय उन्होंने सतत् उपासना के आधार पर किया था ।

उपासना के माध्यम से परमात्मा के समीप रहने वाले व्यक्तियों पर जिन गुणों का अनुग्रह होता है उनमें से धैर्य तथा सहिष्णुता मुख्य हैं । संसार में दुःखद घटनायें सदा सम्भाव्य मानी गई हैं, वे प्रायः सभी के जीवन में आती हैं, तथापि धीर व्यक्ति उनको सामान्य घटनाओं की तरह सहकर अपनी आत्मा को प्रभावित नहीं होने देते । अहिल्याबाई में धैर्य तथा सहिष्णुता की कमी नहीं थी । निदानस्वरूप वे हर दुःख, हर तकलीफ और हर असम्भाव्य को समान मन से सहन करती हुई अपने पवित्र कर्तव्य का पालन करती रही । जीवन और जगत् को ठीक से समझ लेने वाले बुद्धिमान व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने को विचलित नहीं होने देते और ज्वाला के समान जलते हुए संयोगों के बीच से अप्रभावित हुए निकल जाते हैं ।

उन दिनों मराठे भारत में हिन्दू राज्य के विस्तार में लगे हुए थे और देश के लगभग सभी राजाओं से चौथ वसूल करते थे किन्तु भरतपुर के जाट राजाओं ने चौथ देने से इन्कार कर दिया । इस पर पेशवा के परामर्श से मल्हार राव ने अपने पुत्र खाण्डेराव को साथ लेकर भरतपुर पर चढ़ाई कर दी । जाटों के साथ इस लड़ाई में खाण्डेराव मारे गये ।

खाण्डेराव के खेत रहने का समाचार जब इन्दौर पहुँचा तो अहिल्याबाई के शोक का ठिकाना नहीं रहा । शोकावेग में सहसा उनका धैर्य जाता रहा और वे भावातिरेक में व्याकुल होकर विलाप करने लगीं । उन्होंने सोचा कि पति के न रहने से अब उनका जीवन निरर्थक निःसार हो गया है । एक पति तक ही संसार के सारे सम्बन्ध स्थिर तथा मधुर रहते हैं । पति के न रहने पर उसकी विधवा से सगे-सम्बन्धी तक दुर्व्यवहार करने लगते हैं ।

अपने दुःख का चिन्तन करते-करते अहिल्याबाई को हिन्दू-विधवाओं की दुर्दशा याद आ गई कि किस तरह उससे जीवन के सारे अधिकार छीन लिये जाते हैं । सब कुछ होने पर भी न तो उसे पेट भर भोजन दिया जाता है और न पूरे कपड़े । बचा-खुचा जूठा और छूटा खाकर जीवन भर तिरस्कारपूर्ण स्थिति में आयु के कठिन क्षण पूरे करने होते हैं । वह बेचारी इस दैवाघात से सारे पवित्र अनुष्ठानों तथा उत्सवों से वंचित कर दी जाती है । सभी लोग उसकी उपस्थिति, यहाँ तक कि उसका मुख देखना तक अपशकुन समझते हैं । सोचते-सोचते अहिल्याबाई निरपराध विधवाओं के लिये करुण हो उठीं । उनके मन

१.२१ मरकर भी अमर हो गये जो

में आया कि समाज की यह कैसी उल्टी रीति है कि जो नारी पति के न रहने से निराश्रय तथा निराश हो गई है और जो सबसे अधिक दया, करुणा, संवेदना तथा सहानुभूति की पात्र है, समाज उसी को सबसे ज्यादा ठुकराता और अवहेलित करता है। अपने तात्कालिक संस्कारों के कारण अहिल्याबाई केवल इतना ही सोच पायी। इस समस्या के हल के विषय में उनकी विचारधारा आगे न बढ़ सकी और वे पुनः धूमकर अपनी व्यक्तिगत स्थिति पर आ गई। उन्हें अपना शेष जीवन अन्धकार तथा आपदाओं से भरा दिखाई देने लगा। उन्होंने सोचा कि अब तक जो सास-ससुर तथा अन्य सम्बन्धी उसका आदर किया करते थे वे ही अब उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगेंगे। अहिल्या का आत्माभिमान घायल हो उठा और उन्हें तिरस्कारपूर्ण जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक श्रेयस्कर लगी। निदानस्वरूप उन्होंने पति के शव के साथ सती हो जाने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार विवेचना से भावना पर आते ही अहिल्याबाई का पति-प्रेम जो अब तक शोकातिरेक से स्तब्ध-सा अचेत पड़ा था, वह सहसा जाग उठा और वे विकल-विह्वल होकर आँसुओं से रो उठी। उनकी ममतामयी सास ने उन्हें बहुत समझाया और धीरज बँधाय। शोकावेग शान्त होने पर अहिल्या ने सास को सती होने का निश्चय बतलाया।

बहू का निश्चय सुनकर सास के शोक का पारावार न रहा, फिर भी वे उसके निश्चय को नारी का धर्म मानकर अधिक टीका-टिप्पणी न कर सकीं और महाराज के आने और उनकी अनुमति ले लेने का आग्रह किया।

महाराज मल्हार राव युद्ध से वापस आये, जब उन्हें अपनी प्यारी पुत्र-वधू के निश्चय का पता चला तो उनका पुत्र-शोक दो गुना हो गया। वे सांत्वना देते हुए उसे सती होने से रोकने का प्रयास करने लगे और बोले—

“बेटी ! तू मेरी पुत्र-वधू ही नहीं है, मेरे दूसरे बेटे के समान है। यदि तू भी मुझे छोड़कर चली जायेगी तो तेरा यह वृद्ध पिता किसके सहारे अपना शोक भूल सकेगा ? यह मानता हूँ कि पति वियोग का दुःख असहनीय होता है और तू एक पतिव्रता पत्नी है, पति के प्रति तेरा यह प्रेम सम्माननीय है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति आत्मघात द्वारा करना अधिक समीचीन नहीं है। पति भक्ति सती होकर आत्मघात करने में नहीं, बरन् ईश्वर प्रदत्त मानव-जीवन को अधिकाधिक उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट बनाकर पति का गौरव एवं यश बढ़ाने में है। अहिल्याबाई को ससुर का तर्क एवं

पूर्ण परामर्श शिरोधार्य कर सती होने का अपना निश्चय छोड़ना ही पड़ा।”

ससुर के अनुरोध पर सती होने का निश्चय त्याग देने पर अहिल्याबाई का भावातिरेक जब प्रशमित हो गया तब उन्हें विचार आया—“निश्चय ही मानव-जीवन एक अलभ्य अवसर है। इसको यों ही नष्ट कर डालना ईश्वर के मन्तव्य से विश्वासघात करना है। यदि इसमें कोई मन्तव्य न होता तो शक्तियों, गुणों और विशेषताओं से परिपूर्ण मानव अस्तित्व का कोई अर्थ ही न होता। मानव-जीवन ईश्वर की ही एक छोटी अभिव्यक्ति है। इसे नष्ट कर डालने का किसी को भी अधिकार नहीं है।”

“आत्मघात तो एक पाप है ही, साथ ही अन्य प्रकार से भी जीवन का विनाश करना एक अपराध है, जो मनुष्य अज्ञानवश विषय-वासनाओं, भोग-विलास की विभीषिकाओं में पड़कर इस मानव-जीवन का दुरुपयोग किया करते हैं वे भी इसका विनाश ही किया करते हैं। इसके अतिरिक्त जो लोभ, मोह, क्रोध अथवा अहंकार में पड़कर ऐसे काम किया करते हैं जिससे अन्य मनुष्यों अथवा प्राणियों को कष्ट हुआ करता है वे भी अपने मानव-जीवन को विनष्ट ही किया करते हैं।”

लोभ के वशीभूत होकर प्रायः लोग अपनी शारीरिक, बौद्धिक तथा व्यावहारिक शक्तियों का दुरुपयोग कर धन-सम्पत्ति का संचय किया करते हैं। इसके लिये वे शोषण, छल, कपट और आडम्बर का आश्रय लिया करते हैं। चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार आदि न जाने कितने गहिँत उपायों को ग्रहण किया करते हैं। उनके इन लोभ प्रेरित उपकृत्यों से न जाने कितने लोगों को कष्ट, हानि और शोक सहन करना पड़ता है। इन कुपरिणामक कार्यों को करने में जीवन का दुरुपयोग करना उसको नष्ट करना ही है।”

बहुत बार लोग मोह में पड़कर धर्म-मार्ग का त्याग कर अधर्म-पथ पर चलने लगते हैं। शास्त्रों की अवहेलना और विद्वान् सन्तों तथा महात्माओं का तिरस्कार किया करते हैं। सच्चे, युक्त और हितकर वचनों का उपहास उड़ाया करते हैं। शान-शौकत, शोखी और प्रदर्शन में धन तथा प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते और हास-विलास, आमोद-प्रमोद अथवा मनोरंजन में समय तथा सामर्थ्य को व्यर्थ में गँवाते रहते हैं। समाज, राष्ट्र अथवा संसार के प्रति भी उनका कुछ कर्तव्य है, इस बात पर कभी भूलकर भी विचार नहीं करते, अपने निहित स्वार्थों में लिप्त एक अंधी जिन्दगी जीते रहते हैं। स्वार्थों में व्यवधान पड़ने पर शोक करते, रोते, चिल्लाते और आवेगों के वशीभूत होकर

अपराधों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार का जीवन चलाना भी उसे नष्ट करना ही है।”

अपनी हीन तथा निम्न वृत्तियों को तुष्ट करने के लिये लोग प्रायः अहंकार का पालन किया करते हैं। वे मद में इतने मत्त हो जाते हैं कि, इस बात का विचार ही नहीं रखते कि उनके अहंकार के नीचे दबकर कितने निरपराध तथा असहाय लोगों का बलिदान हो रहा है? यदि धन है तो उसके बल पर लोगों को खरीदकर अपना अधीनस्थ बनाने में बड़प्पन अनुभव किया करते हैं। दूसरों की उन्नति तथा प्रगति देखकर जल उठना वे मनुष्य का सहज स्वभाव मानते हैं और दूसरों के विकास में बाधा डालना वे अर्थ अथवा राजनीति माना करते हैं। अपने दम्भ की तुष्टि में बड़ी से बड़ी सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा मानवीय हानि कर डालने में किंचित संकोच नहीं करते। अपनी इस दुर्बलता पर जरा-सा आघात पाकर सर्प की तरह कुपित होकर अपना अथवा पराया अनिष्ट कर डालने पर तत्पर हो उठते हैं। इस प्रकार का आसुरी जीवन जीना भी जीवन को विनष्ट करना ही है। मनुष्य की यह सब अमानवीय प्रवृत्तियाँ पाप के ही अन्तर्गत आती हैं, जो इस लोक में तो शान्ति, सन्तोष, शीतलता, निश्चिन्तता अथवा निर्भयता का सुख नहीं ही अनुभव करने देती हैं, परलोक में भी सद्गति से वंचित कर देती हैं, जिससे इस लोक की शान्ति और परलोक की सद्गति अवरुद्ध हो वह सारी जीवन-पद्धति जीवन को नष्ट करने का अपप्रयास है जो न तो किसी प्रकार उचित है, न इसका अधिकार ही है और न यह उस परमपिता परमात्मा द्वारा क्षमा की जा सकती है। देर-सबेर उसका दण्ड मिलना निश्चित है।

परमात्मा द्वारा प्रदत्त इस मानव-जीवन का सदुपयोग ही उसका सम्मान करना है। स्वार्थ का त्याग, परमार्थ का ग्रहण ही जीवन का सदुपयोग माना गया है। उपासना, सेवा और सत्कर्म ही परमार्थ-पथ के पावन प्रतीक हैं। अभाव एवं आवश्यकता से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करना, दीन-दुःखियों, निरुपाय एवं रोगीजनों की सेवा करना, अपने धन, अपने पुरुषार्थ, अपनी शक्ति, अपनी योग्यताओं को समाज की उन्नति तथा विकास में लगाना ही जीवन का सदुपयोग करना है। संवेदना, सौहार्द, दया, करुणा, प्रेम तथा क्षमा भावों का अपनी आत्मा में विकास करना ही मानव-जीवन का सम्मान करना है। दूसरे की सुख-सुविधा के लिये अपने सुख का उत्सर्ग कर देना ही आदर्श जीवन कहा गया है। निराशा, निरुत्साह, शोक-सन्तापों से अप्रभावित रहकर अपने कर्तव्य-पथ पर निरन्तर बढ़ते जाना ही जीवन का वास्तविक यापन है। संसार की सुख-शान्ति तथा सुन्दरता बढ़ाने के लिये ही परमात्मा ने

यह मानव-जीवन प्रदान किया है। इस मन्तव्य में ही इसको लगाये रखना जीवन की सुरक्षा तथा सम्मान करना है। वे सारे कर्म जिनसे आत्मा का विकास हो, परमात्मा का सामीप्य प्राप्त हो और संसार का हित-साधन हो, जीवन का सदुपयोग है, जिसका फल पुण्य, पावनता और अनन्त शान्ति के रूप में मनुष्य को मिलता है। इसके विपरीत सारे कर्म और सारे मन्तव्य जीवन का दुरुपयोग है, उसको नष्ट करना है। इस गम्भीर और यथार्थ विचार ने अहिल्याबाई की आत्मा में आध्यात्मिक प्रकाश भर दिया, जिससे उनका व्यक्तिगत शोक सार्वजनिक सेवा, करुणा तथा संवेदना के भावों में बदल गया। एक प्रकार से उनका आत्मिक, मानसिक तथा बौद्धिक कल्प-सा हो गया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण, परमार्थिक प्रथाओं में बदल गया।

साध्वी अहिल्याबाई अब पुत्र और पुत्र-वधू दोनों के रूप में सास-ससुर की सेवा में उत्साहपूर्वक तत्पर हो गई। सेवा तो वह पहले भी करती थी पर अब उसकी सेवा में श्रद्धा-भक्ति जैसी गम्भीर भावना का समावेश हो गया था। सास-ससुर ने उसकी सेवा में उस ऊष्मा का स्पष्ट अनुभव किया जो अब्यक्त आँसुओं के प्रभाव से पति शोक का परिवर्तित स्वरूप ही था। उनकी आत्मा से अहिल्या के लिये शत-शत आशीर्वाद निकलते रहते थे किन्तु अहिल्याबाई की भाग्य परीक्षाएँ यहीं पर समाप्त नहीं हो गई थीं। कुछ समय बाद उत्तर भारत की एक मुहिम में कानवी पीड़ा से महाराज मल्हार राव की मृत्यु हो गई। अहिल्याबाई ने ससुर की मृत्यु का आघात भी अपने चिर सिद्ध स्थैर्य एवं धैर्य की सहायता से सम्भाल लिया। मोह की एक कड़ी और टूटने से वह अध्यात्म पथ पर एक कदम और आगे बढ़ गई। इस आघात से निराश होकर घर में पड़े रहने के स्थान पर अहिल्याबाई ने अपने पूज्य ससुर का प्रतिनिधित्व करके उनकी आत्मा को सन्तोष देने का निश्चय कर लिया। उन्होंने ससुर की पावन स्मृति में अनेक विधवाओं, अनाथों तथा अपंग लोगों को आश्रय दिया। मेधावी तथा प्रतिभाशाली कितने ही छात्रों के लिये छात्र-वृत्तियाँ नियुक्त कीं और अनेकों निराजीविका लोगों को काम पर लगवाया। निराश्रित माताओं और उनके बच्चों के पालन-पोषण के लिये अनेक प्रकार के छोटे-मोटे काम-धन्धों का प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अनेक परोपकार के कार्यों द्वारा दिवंगत आत्मा का ऐसा हित साधन किया जिससे परलोकवासी के साथ इहलोकवासियों का भी हित हुआ।

महाराज मल्हार राव की मृत्यु के बाद उनका नाती (पौत्र) मालीराव गद्दी पर बैठा किन्तु वह बड़ा विलासी,

१.२३ मरकर भी अमर हो गये जो

कूर तथा स्वार्थी था। प्रजा का शोषण और उस पर अत्याचार करना उसका स्वभाव बन गया था। अहिल्याबाई को अपने पुत्र के इन कार्यों पर बड़ा दुःख होता था। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मालीराव को गद्दी से उतारकर किसी योग्य तथा उपयुक्त व्यक्ति को राजा बनाया जाये। सच्चे सूर व्यक्ति कर्मार्थ के विषय में अपने पराये का पक्ष-विपक्ष नहीं करते, वे लोकरंजन की दृष्टि से पराकाष्ठा तक न्याय तथा नियमशील रहा करते हैं। आत्मज होने पर भी अहिल्याबाई अपकर्मों के कारण मालीराव से असन्तुष्ट थीं। प्रजा के हित में वे उसे अधिकारच्युत कर देने पर विचार कर रही थीं कि तब तक इन्दौर की गद्दी खाली हो गई। केवल नौ महीने प्रजा का पीड़न करने के बाद मालीराव की मृत्यु हो गई। विषयी, विलासी और अत्याचारी का अल्पायु होना कोई अस्वाभाविक आश्चर्य का विषय नहीं है। इस प्रकार के अपपुरुष आत्मघातियों की गणना में ही आते हैं जो किसी समय भी अपने जीवन के अकाल समापन को प्राप्त हो जाते हैं।

आगे कोई उत्तराधिकारी अथवा उपाय न होने से इन्दौर की बागडोर अहिल्याबाई ने अपने हाथों में ले ली और गंगाधर नामक एक व्यक्ति को मन्त्री बनाकर प्रजा की सेवा करने लगीं किन्तु, अहिल्याबाई का विश्वासपात्र गंगाधर बड़ा स्वार्थी और राज्य लोलुप निकला। अवसर न होने पर किसी का अस्वार्थी अथवा ईमानदार बना रहना कोई बड़ी बात नहीं है। विशेषता तो तब है जब अवसर हाथ आने पर भी निःस्वार्थ तथा ईमानदार बना रहा जाये। इसी में सच्चे चरित्र और सच्ची मानवता का मूल्यांकन निहित है।

गंगाधर राव ने अहिल्याबाई को किसी बच्चे को गोद ले लेने और राज्य-सत्ता उसके अधिकार में सौंप कर भगवत्-भजन करने का परामर्श दिया। दूरदर्शिनी अहिल्याबाई वैसे तो भले ही उसके इस सद्दर्शी परामर्श को मान लेतीं किन्तु, उन्होंने गंगाधर राव के परामर्श के पीछे छिपी, स्वार्थपूर्ण दुरभि सन्धि को पहचान लिया था। उन्होंने अपना साहस सँभाला और गंगाधर राव का प्रस्ताव कठोरतापूर्वक अस्वीकृत कर दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि राज्य के कार्यों में जो भी व्यक्ति अपने सुयोग्य गुणों का परिचय देगा मैं उसी को शासन सौंप दूँगी; किसी बच्चे को गोद लेने की आवश्यकता नहीं है। इस पर वह विश्वासघाती गंगाधर राव अपने चाचा रघुनाथ राव पेशवा को इन्दौर पर चढ़ा लाया।

गंगाधर राव के इस विश्वासघात से अहिल्याबाई का तेज जाग उठा। उन्होंने सेनापतियों, नगरों के मुखियाओं

तथा प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई और सर्वसम्मति से इन्दौर की शासिका बनकर तुकोजी राव के सेनापतित्व में पेशवा रघुनाथ राव के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पेशवा रघुनाथ राव अहिल्याबाई का यह साहस और दृढ़ता देखकर डर गया और बिना लड़े ही वापस चला गया।

इन आकस्मिक अस्त-व्यस्तताओं के कारण राज्य में चोर-डाकुओं का बाहुल्य हो गया। उन्होंने उनका दमन करने के लिये घोषणा कर दी कि जो व्यक्ति इन अपराधियों का दमन करेगा उसके साथ वे अपनी बेटी मुक्ताबाई का विवाह कर देंगी। अहिल्याबाई की इस घोषणा में उनकी बहुत बड़ी दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता छिपी हुई थी। उन्होंने सोच लिया था कि एक तो इस प्रकार चोर-डाकुओं का दमन हो जायेगा, दूसरे वर की योग्यता तथा वीरता की परीक्षा हो जायेगी और तीसरे बेटी के विवाह के लिये राजनीतिक लोलुपता की सम्भावना समाप्त हो जायेगी। यह भी एक प्रकार से प्रणपूर्ण स्वयंवर का ही स्वरूप था।

निदानस्वरूप एक साहसी नवयुवक यशवंत राव ने डाकुओं के दमन का बीड़ा उठाया और प्राणों की बाजी लगाकर उस महान् कर्तव्य को पूरा कर दिखलाया। अपनी घोषणा के अनुसार, अहिल्याबाई ने यशवंत राव के साथ मुक्ताबाई का विवाह कर दिया।

राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना कर लेने पर अहिल्याबाई ने राज्य के सेठों, साहूकारों, व्यापारियों, शिल्पियों, कलाकारों, मजदूरों तथा अन्य आर्थिक क्षेत्र के व्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया और व्यापार तथा शिल्पों में वृद्धि कराकर राज्य की उन्नति की। उन्होंने दूर-दूर से ईमानदार व्यापारियों को बुलाकर राज्य का व्यापार विकसित करने के लिये साधन तथा सुविधायें दीं। राज्य की आर्थिक दशा सुधर जाने पर अहिल्याबाई ने प्रजा के बहुत से कर हटाकर उन्हें आर्थिक उन्नति करने का अवसर दिया। विद्वानों, कवियों तथा लेखकों ने अहिल्याबाई से सहयोग पाकर अपनी-अपनी शत-शत रचनाओं द्वारा साहित्यिक भण्डार की श्रीवृद्धि की। इस प्रकार पुण्यवती अहिल्या की व्यवस्था में सब ओर सुख-शान्ति तथा उन्नति और विकास की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं तथापि, अभी उनकी अग्नि-परीक्षा समाप्त नहीं हुई थी। कुछ ही समय बाद थोड़े-थोड़े अन्तर से उनकी सास, पुत्री तथा जामाता की मृत्यु हो गई और वे संसार में सर्वथा अकेली रह गई किन्तु, फिर भी अहिल्याबाई ने धैर्य न छोड़ा और अपने कर्तव्य पालन में तत्पर बनी रहीं। वे मुसीबत पर मुसीबत आने और दुःख पर दुःख देखकर भी न तो एक क्षण को आँसू बहाने बैठीं और न निष्क्रिय होकर अपने

कर्तव्यों से विमुख हुई । जिसने आत्मा को अपना मित्र बना लिया होता है, अपने को कर्तव्य की वेदी पर समर्पित कर दिया होता है, परोपकार तथा परमार्थ को अपना ध्येय बना लिया होता है, वह अकेला रहने पर भी एकाकी नहीं रहता । पुण्य उसके सहचर होते हैं और परमात्मा उसकी रक्षा किया करता है ।

विधि-विधान के वशवर्ती शासन का जो उत्तरदायित्व अहिल्याबाई पर आ गया था; यद्यपि वह असंख्यों जटिलताओं और आशंकाओं से भरा हुआ था, तथापि उन्होंने उसे उत्साह, साहस तथा आत्मविश्वास के बल पर वहन किया । उन्होंने चारों ओर से अपने आपको समेट कर प्रजा की भलाई तथा उन्नति में लगा दिया । जो शासक मन-वचन-कर्म से जनता जनार्दन की सेवा में तत्पर रहता है, उसकी बहुत-सी राजनीतिक उलझनें आप से आप दूर होती रहती हैं । महारानी अहिल्याबाई ने प्रजा की सेवा ही अपना ध्येय बना लिया और उसी में तन, मन, धन से जुट गई ।

संसार के सत्त्यों तथा आध्यात्मिक विकास ने यद्यपि अहिल्याबाई को बड़ी सीमा तक विरक्त बना दिया था तथापि, वे अनासक्त भाव से अपने सारे कर्म तथा कर्तव्य करती रहीं । उन्होंने सोचा कि यदि मैं राज्य-भार से विरक्त होकर केवल आत्म-साधन में लग जाती हूँ तो न जाने शासन-सूत्र कैसे हाथों में चला जाये और उस दशा में प्रजा का उत्पीड़न हो सकता है । प्रजा के उत्पीड़न की सम्भावना से तटस्थ होकर यदि मैं आत्मचिन्तन में निरत हो जाती हूँ तो कर्तव्यहीनता का दोष मेरी आत्मा के विकास को अवरुद्ध कर देगा और मैं उसी प्रकार परमार्थ लाभ की अनाधिकारिणी बन जाऊँगी जिस प्रकार अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों को हठात् त्यागकर संन्यास लेने वाला व्यक्ति अथवा तपस्या के लिये वनों, पहाड़ों में चले जाने वाले पलायनवादी । अपने वर्तमान उत्तरदायित्वों को त्यागकर आत्म-साधना करने वालों को मुक्ति कदाचित् ही मिल सकती है ।

इसके विपरीत जो गीता के अनुसार, अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यों का पूर्णरूपेण श्रद्धा के साथ पालन करता रहता है और ऐसा करते हुए ही उसका शरीर छूट जाता है तब भी वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है । फिर चाहे उसने एकान्त में बैठकर आत्मचिन्तन किया हो या नहीं ।

इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करके महारानी अहिल्याबाई ने अपने लिये प्रवृत्ति मार्ग ही चुना । उन्होंने जनता के माध्यम से लोक-सेवा को अपना जीवन लक्ष्य

बना लिया और उसी को परमार्थ साधन मानकर उसी में लग गई । लोक-सेवा चाहे व्यक्तिगत रूप से की जाये अथवा किसी संस्था के माध्यम से, यदि उसका लक्ष्य आध्यात्मिक है, उसमें निहित भावना साधनावती है तो निश्चय ही यह पावन सांसारिकता ही संसार-संतरण का हेतु बन जाती है और ऐसे संसारी का हर काम परमार्थ कार्यों की सूची में अंकित कर लिया जाता है । अस्तु अहिल्याबाई लोक-चिन्ता में ही आत्म-चिन्तन की भावना लेकर प्रवृत्ति पथ से मोक्ष मार्ग की ओर चल पड़ीं ।

महारानी अहिल्याबाई ने सबसे पहले अपने पूरे राज्य का दौरा किया और उसी क्रम में जनता की आवश्यकताओं, कठिनाइयों, समस्याओं और विकृतियों का पता लगाया । उन्होंने देखा कि समाज में विधवाओं की दशा बहुत दयनीय है । पति के न रहने पर वह निराश्रिता, उसकी सम्पत्ति से सर्वथा वंचित कर भूखों मरने के लिये छोड़ दी जाती है । महारानी अहिल्याबाई को इस व्यवस्था में अत्याचार के सिवाय और कोई औचित्य दिखलाई न दिया । उन्होंने अनाथ, विधवाओं की भलाई के लिये विधवाओं के उत्तराधिकार का कानून बनाकर प्रचारित करना जिससे भिखारिणी-सा परमुखापेक्षी जीवन बिताने वाली विधवाओं को मानवोचित जीवन के अवसर के साथ अपना विकास और समाज के लिये उपयोगी बन सकने की योग्यता प्राप्त होने लगी । एक इसी राजनियम ने समाज में आत्महत्या, भ्रूणहत्या और व्यभिचार जैसे बहुत से पापों का दमन कर दिया ।

महारानी ने इसी नियम का पूरक, एक नियम दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में बनाया । इस नियम के अनुसार कोई भी किसी बच्चे को गोद लेकर अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसे दे सकता था । इस विधि ने समाज में बहुत से अनाथों को सनाथ बनाया और बहुत से बेसहारा स्त्री-पुरुषों को सहारे की व्यवस्था कर दी ।

विधि-विधान के अतिरिक्त महारानी अहिल्याबाई ने राज्य भर में बड़ी-बड़ी सड़कों का निर्माण कराया जिससे यात्रा और व्यापार में अभूतपूर्व सुविधा हो गई । ऊबड़-खाबड़ और औघट घाट से यात्रा करने पर जनता को जो कष्ट और चोर-लुटेरों का भय बना रहता था वह बहुत कुछ दूर हो गया । सीधी तथा प्रशस्त सड़कों के कारण बहुत-सा समय, श्रम, शक्ति तथा धन की बचत होने लगी, जिससे लोग उसे अन्य हितकर कार्यों में लगाने और अपने साथ समाज की उन्नति में सहायक होने लगे ।

उन्होंने सड़कों के किनारे बहुत से फलों तथा छायादार वृक्ष लगवाये और स्थान-स्थान पर कुओं की व्यवस्था की ।

१.२५ मरकर भी अमर हो गये जो

राज्य के प्रमुख तथा यात्रा योग्य स्थानों पर बहुत-सी धर्मशालाओं और अतिथिशालाओं का निर्माण कराया जिससे राज्य के मन्त्रियों का आवागमन बढ़ गया। संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उनका विकास, तथानुसार होने लगा।

धर्मशालाओं तथा अतिथिशालाओं के अतिरिक्त महारानी अहिल्याबाई ने जनता में धर्मभावना के प्रचार और उपासना की सुविधा के लिये बहुत से मन्दिरों की स्थापना कराई। उन्होंने ये मन्दिर न केवल अपने राज्य में ही बनवाये बल्कि दूर-दूर के बहुत से तीर्थों में उनका निर्माण कराया। इन्हीं मन्दिरों में उन्होंने धार्मिक साहित्य के पुस्तकालय तथा वाचनालय खुलवाये और दैनिक कथा वार्ता और कीर्तन की प्रथा प्रचलित कराई।

महारानी अहिल्याबाई ने राज्य भर में फूलों और फलों के इतने बाग-बाटिकायें लगवाईं कि उनकी सम्पत्ति एवं सुन्दरता से ग्राम-ग्राम अलंकृत तथा सम्पन्न हो उठे। इतने तरह के फल राज्य में पैदा होते थे कि दुष्काल में भी लोगों को भोजन की कमी न रहती थी। उन्होंने राज्य की ओर से भी और प्रजा को निर्देश करके गौ-शालाओं की ऐसी प्रथा चला दी कि प्रायः घर-घर में गऊ का पालन तथा पूजन होने लगा जिससे दूध-दही और घी की सुविधा से बच्चे भरपूर स्वास्थ्य का लाभ उठाने लगे।

इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य में न जाने कितने औषधालय, चिकित्सालय तथा दानशालायें खुलवाईं जिनमें, दीन-हीन, रोगी और विभुक्ष लोगों को सहायता दी जाती थी। पुस्तकालय, वाचनालय और पाठशालायें तो महारानी अहिल्याबाई की अभिरुचि तथा सेवा के प्रमुख विषय थे। उन्होंने विद्वानों, कवियों तथा शिल्पियों को राज्य की ओर से वृत्तियाँ दे-देकर साहित्य तथा कला-कौशल के विकास के लिये प्रोत्साहन दिया।

कृषक कन्या होने से महारानी अहिल्याबाई किसानों की कठिनाइयों तथा समस्याओं से पूरी तरह परिचित थीं। उन्होंने किसानों के सुधार तथा विकास के लिये भूमि की नियमित व्यवस्था की। अत्याचारी तथा शोषक जमींदारों को हटाकर उनके स्थान पर अपने प्रबन्धक नियुक्त किये। पशुओं के लिये चारागाह और खाद के लिये निश्चित स्थान का नियम बनाने के साथ-साथ उन्होंने सिंचाई का समुचित प्रबन्ध कराया। गाँवों में आवश्यकतानुसार कच्चे-पक्के हजारों कुएँ बनवाये, रहट, डेंकुली तथा नहरों की व्यवस्था की। स्थान-स्थान पर कच्चे तथा पक्के तालाब बनवाकर भी सिंचाई तथा पीने व नहाने-धोने के लिये पानी की स्थायी व्यवस्था कराई। उन्होंने लगान की दर और फसल

के भाव निश्चित किये और पशु-विकास की जो भी व्यवस्था उस समय हो सकती थी, की।

इन सब व्यवस्थाओं के साथ-साथ महारानी अहिल्याबाई ने जन-सहयोग से नगरों और गाँवों में समाज-सुधारक संस्थाओं की स्थापना कराई। यह संस्थायें लोगों में पारस्परिक सहयोग, सौहार्द्र तथा सामूहिकता की भावना का प्रचार किया करती थीं। इन्हीं संस्थाओं द्वारा समाज की ऐसी कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा परम्पराओं के विरुद्ध प्रचार कर जनमत परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता था, जिनको राज्य-प्रबन्ध अपने अधिकार में नहीं ले सकता था।

इन शासन तथा समाज-सुधारों के साथ-साथ उन्होंने प्रशासन में भी कुछ कम सुधार नहीं किये। उन्होंने रद्दी, निकम्मे तथा अनावश्यक कल-पुर्जे प्रशासन तन्त्र में से निकाल कर फेंक दिये। भ्रष्टाचारी, उत्कोची, बेईमान, अयोग्य तथा विश्वासघाती राज-कर्मचारियों को न केवल निकाल बाहर ही किया बल्कि उनको दण्ड भी दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राज्य-पदों पर से उत्तराधिकार की प्रथा हटाकर योग्यता का प्रतिबन्ध लगा दिया। उन्होंने राज्य में पदों की संख्या, उनकी प्रकृति तथा स्वरूप निश्चित किया और दक्ष कर्मचारियों की उपलब्धि के लिये शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थायें स्थापित कीं।

इस प्रकार लगभग साठ वर्ष तक अध्यात्म भाव से जनता जनार्दन की सेवा और सुधार करने के बाद महारानी अहिल्याबाई पक्व अवस्था में जीवन की सार्थकता के साथ परमधाम सिधार गईं।

ये इतिहास प्रसिद्ध महारानी अहिल्याबाई एक निर्धन किसान की बेटी थीं किन्तु, उन्होंने अपने गुणों के आधार पर इतनी बड़ी पदवी और प्रतिष्ठा पाई। जिन अनुकरणीय गुणों को उन्होंने एक बार ग्रहण कर लिया था फिर जीवन भर उन्हें नहीं छोड़ा। युवरानी, राज-वधू और स्वयं महारानी हो जाने पर भी अहिल्याबाई उसी प्रकार का सामान्य भोजन करतीं और साधारण कपड़े पहनती रहीं जिस प्रकार का भोजन, वस्त्र अपने प्रारम्भिक जीवन में उपयोग किया करती थीं। राज-वैभव, राजसुख, और राजमद उन्हें वैसे ही प्रभावित न कर सका जिस प्रकार चन्दन के वृक्षों में सपों के लिपटे रहने से उनका विष उनमें व्याप्त नहीं होता।

कार्यभार से थककर जब महारानी अहिल्याबाई को मनोरंजन की आवश्यकता होती थी तो वे या तो विद्वानों के साथ बैठकर शास्त्रों अथवा साहित्य पर चर्चा किया करती थीं अथवा अश्वारोहण और शस्त्र-अभ्यास किया

करती थीं। अपने इस मनोरंजन के क्रम में ही वे एक अच्छी साहित्य-मर्मज्ञा और कुशल अश्वारोहिणी के साथ-साथ शस्त्र-संचालिका भी बन गई थीं। राज-प्रबन्ध और युद्ध-संचालन की कला स्वयं महारानी अहिल्याबाई ने अपनी प्रतिभा, मर्मज्ञता तथा सूक्ष्मदृष्टि के आधार पर प्रयत्नपूर्वक सीख ली थी।

महारानी अहिल्याबाई के जीवन से जो सबसे बड़ी प्रेरणा हमको प्राप्त होती है वह 'कर्तव्य-परायणता' की है। साधारण अर्थ में कर्तव्य-परायण व्यक्ति संसार में बहुत से मिल सकते हैं। वे सभी राज्य-कर्मचारी जो अपना कार्य ईमानदारी और मुत्तैदी से करते हैं, कर्तव्य-परायण ही हैं। जो सैनिक समर-भूमि में निर्भय चित्त से दुश्मन का सामना करता है और प्राणों पर संकट आया देखकर पीछे पैर नहीं रखता, वह भी अवश्य कर्तव्य-परायण कहा जायेगा। जो विद्यार्थी आलस्य और प्रमाद को त्यागकर पूर्ण मनोयोग से विद्याभ्यास करता है और समस्त अनावश्यक शौकों को छोड़कर अपनी पूरी शक्ति परीक्षा में सफल होने में लगा देता है उसे भी कर्तव्य-परायण माना जायेगा।

परन्तु इस प्रकार की कर्तव्य-परायणता प्रायः वेतन तथा किसी भावी लाभ की आशा से उत्पन्न होती है, इसलिये उसमें कोई विशेषता नहीं मानी जाती, पर महारानी अहिल्याबाई ऐसे सर्वोच्च पद पर थीं कि उनके लिये किसी प्रकार के लाभ अथवा धन प्राप्ति की भावना कर्तव्य-परायणता की प्रेरक नहीं हो सकती थी। संसार में तो प्रायः यह देखा जाता है कि, सम्पत्ति तथा शक्ति की इस प्रकार प्राप्ति होने पर सभी व्यक्ति उसके उपभोग की ओर प्रेरित होते हैं, जो लोग ऐसी स्थिति में पहुँचने पर मदोन्मत्त हो जाते हैं और उचित-अनुचित का ध्यान त्यागकर केवल आमोद-प्रमोद को ही जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, उनकी बात को छोड़ दीजिये पर सज्जन और कर्तव्यनिष्ठ माने जाने वाले व्यक्ति भी अपनी पदवी और सुरुचि के अनुसार उन साधनों का उपयोग अपने सुख के लिये करते हैं और कोई उनको बुरा भी नहीं बतलाता।

लेकिन महारानी अहिल्याबाई उन इने-गिने मानव-रत्नों में से थीं जो सब प्रकार के साधन सामने रहने पर और ऊपर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहने पर भी उनसे इस प्रकार पृथक बने रहते हैं जैसे जल में कमल। इतने बड़े राज्य की एकमात्र स्वामिनी होने पर भी उसका आहार-विहार तथा वस्त्र आदि वैसे ही साधारण थे जैसे सामान्य राज्य-कर्मचारी के। वह जमीन पर सोती थीं और एक मामूली सूती साड़ी पहनती थीं, किन्तु राज्य-कार्य में परिश्रम वह इतना अधिक करती थीं कि जितना चार

कर्मचारी भी नहीं कर सकते। वह स्वभाव से उन मनोविकारग्रस्त व्यक्तियों में से भी नहीं थीं जिनको धन-संग्रह की सनक होती है और अपने स्वर्ण और रत्न-भण्डार को दिन पर दिन बढ़ते देख यों ही प्रसन्न हुआ करते हैं।

वह अपने धन-का प्रथम उपयोग तो राज्य-व्यवस्था को उत्तम और कार्यक्षम बनाने तथा प्रजा की सुख-सुविधा की वृद्धि करने में करती थीं और जो शेष बचता था उसे परमार्थ और परोपकार के कार्यों में खर्च कर डालती थीं। यदि यह कहा जाये कि जिस हिसाब से अन्य राज्य-कर्मचारियों को वेतन दिया जाता था, उसी हिसाब से वह अपने परिश्रम के बदले जो वेतन पा सकती थीं उससे चौथाई भी वह अपने लिये खर्च नहीं करती थीं। जब ईमानदारी और सच्चाई के साथ पूरा परिश्रम करते हुए उसके साथ त्याग का भाव भी रखा जाये तब वह निःसन्देह महामानवता का लक्षण हो जाता है। यही विशेषता महारानी अहिल्याबाई की कर्तव्य-परायणता में पाई जाती थी, जिसके कारण तत्कालीन हजारों राजा-रानियों में से केवल उसी को श्रद्धा की भावना से अभी तक याद किया जाता है।

नारी जाति की महिमा को बढ़ाने की दृष्टि से महारानी अहिल्याबाई का स्थान अद्वितीय है। भारत ही नहीं संसार भर में नारी का स्थान घर-गृहस्थी तक ही सीमित माना गया है। यद्यपि आज युग बदल रहा है और नारियों को सब प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक अधिकार पूर्ण मात्रा में मिल गये हैं, उनमें से कोई-कोई देश के सर्वोच्च पदों पर पहुँच गई हैं, पर अब भी ऐसी नारियों का अभाव ही है कि जिनकी योग्यता प्रशासनिक कार्यों के लिये असंदिग्ध हो। अब भी स्त्रियों को जो उच्च पद दिये जाते हैं, उसमें उनको आगे बढ़ाने के लिये सहायता का भाव मिला रहता है, यद्यपि न्याय की दृष्टि से राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में प्रत्येक कार्य करने का अवसर देना उचित ही है, पर इस युग में भी अधिकांश पुरुष मन में यही समझते हैं और आपस में कहते भी रहते हैं कि स्त्रियाँ इन कामों को करने के लिये स्वभावतः उपयुक्त नहीं हैं।

ऐसी अवस्था में आज से दो सौ वर्ष पूर्व जबकि स्त्री का कार्य-क्षेत्र निश्चित रूप से घर के भीतर माना जाता था और देश के अधिकांश भागों में पर्दे की प्रथा भी इतनी अधिक प्रचलित थी कि उसने स्त्रियों को प्रायः अकर्मण्य और सांसारिक ज्ञान से अपरिचित बना रखा था। महारानी अहिल्याबाई जैसी कर्मठ और सुयोग्य नारी का आविर्भाव एक प्रकार से आश्चर्यजनक ही था। फिर जन्म से उनको ऐसा कोई साधन प्राप्त न था, जिससे इतनी अधिक प्रगति

१.२७ मरकर भी अमर हो गये जो

की आशा की जाती । वे एक बिल्कुल गरीब की पुत्री थीं । धन, विद्या, रूप, बल आदि जिन विशेषताओं से मनुष्य प्रायः आगे बढ़ा करते हैं वे भी इनमें न थे । फिर भी मल्हार राव जैसे दूरदर्शी शासक की दृष्टि अकस्मात् उन पर पड़ गई और उसने उनके आन्तरिक गुणों का आभास पाकर अपनी पुत्र-वधू बनाने का निश्चय कर लिया । इससे विदित होता है कि मनुष्य की आत्मिक पवित्रता, सरलता और सत्य की भावना ऐसे गुण हैं जो अनेक बाह्य विशेषताओं से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं ।

यह भी प्रायः देखा जाता है कि जब कोई साधारण स्थिति का मनुष्य संयोगवश ऐसा उच्च स्थान पा जाता है तो वह अपनी अवस्था को भूलकर अभिमानी और स्वार्थी बन जाता है और अपनी सम्पत्ति और साधनों का स्वयं ही अधिकाधिक उपयोग करना चाहता है । ऐसे व्यक्तियों में से अनेक ऐसा भी सोचने लग जाते हैं कि जब हमारी गरीबी की हालत में किसी ने हमारी सहायता नहीं की तो अब हम क्यों किसी की सहायता करने की फिर करें ? ऐसे व्यक्ति निश्चय ही बड़े संकीर्ण और अदूरदर्शी होते हैं । वे इतना नहीं सोच पाते कि ऐसी सौभाग्य की स्थिति को अविचल या अटल समझ लेना बुद्धिमानी नहीं है, न मालूम कब वह बादल की छाया की तरह विलीन हो जाये । इसलिये प्रशंसा और स्वहित की बात यही है कि ऐसा अवसर पाकर उसका सदुपयोग अधिकाधिक परोपकार और दूसरों के साथ भलाई के लिये ही किया जाये जिससे प्रत्येक परिवर्तित दशा में आत्मसन्तोष बना रहे ।

महारानी अहिल्याबाई का चरित्र इस दृष्टि से आदर्श था । बिना किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा और चेष्टा के इतना बड़ा दर्जा पा जाने पर भी उनको अहंकार छू नहीं गया था । वे राजमहल में भी वैसी ही निःस्पृह भावना से रहती थीं जैसी कि अपने ग्रामीण कच्चे घर में । उनको जो कुछ धन, मान मिला उसका उपयोग उन्होंने सदैव दूसरों के हितार्थ किया । दीन, दुःखी, विधवायें, अनाथ, अकिंचन व्यक्ति उनकी करुणा के मुख्य आधार थे । इस प्रकार उन्होंने धन और सत्ता के सदुपयोग का एक ऐसा महान् आदर्श उपस्थित किया जिसकी गुणगाथा हमेशा गाई जायेगी । काश, हमारे अन्य राजा, बादशाह, छत्रधारी इस पथ पर चले होते तो यह पृथ्वी क्लेश और कष्टों के बंजाय आनन्द और शान्ति का आगार बनी दिखाई पड़ती ।

महारानी अहिल्याबाई की दानशीलता आज तक प्रसिद्ध है और अनेक तीर्थ-क्षेत्रों में उनकी बनवाई धर्मशालायें, सदाब्रत, घाट आदि उनकी पुण्यध्वजा फहरा रहे हैं । कहा जाता है कि राज्य-संचालन से बचे समस्त

धन पर अहिल्याबाई उसी समय तुलसी-दल रखकर उसे धर्म कार्यों में खर्च करने का संकल्प कर लेती थीं, जिससे बाद में कोई उसे अन्य निजी या स्वार्थसिद्धि के कार्यों में लगाने की चेष्टा नहीं कर सकता था । हो सकता है कि, आधुनिक शिक्षा से प्रभावित व्यक्ति प्राचीन दान-प्रणाली में किसी तरह का दोष-दर्शन करते हों, पर एक बात तो प्रत्यक्ष है कि इस मार्ग पर चलने से धन का अनावश्यक संग्रह न हो पाता था और धनी तथा निर्धन के बीच असमानता की खाई उतनी गहरी न हो पाती थी, जितनी कि आजकल है । वर्तमान समय में एक करोड़पति—अरबपति और दूसरा दस-पाँच रुपये के लिये भी मुहताज—ऐसी घोर असमानता का कारण किसी भी प्रकार प्राप्त धन को अपनी बपीती समझ लेना ही है । महारानी अहिल्याबाई ने अनेक लोकोपकारी कार्यों में धन का सदुपयोग करके उपर्युक्त दोष की जड़ ही काट दी थी ।

महारानी अहिल्याबाई के चरित्र से जो मुख्य निष्कर्ष निकलता है वह यही है कि समाज ने स्त्रियों तथा छोटे वंश के समझे जाने वाले व्यक्तियों की आज तक जो उपेक्षा की है, उसमें परिवर्तन किया जाये । संसार में सबको प्रगति और उन्नति का अवसर मिलना चाहिये और कोई सच्चे सद्गुणों का परिचय दे, उसकी उचित कद्र करनी चाहिये । इस तरह का व्यवहार करके हम संसार की और अपनी बड़ी सेवा कर सकते हैं । हमको निश्चित रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिये कि, व्यक्ति और समाज का सबसे बड़ा हित इसी में है कि अधिकाधिक लोगों को सन्मार्ग—परमार्थ-पथ पर चलने की प्रेरणा और अवसर दिया जाये । संसार में सज्जनों, परोपकारियों, सेवा-भाव वालों की संख्या जितनी अधिक बढ़ेगी उतना ही मानव-जाति का कल्याण होगा और वह देवत्व की ओर अग्रसर हो सकेगी । महारानी अहिल्याबाई ने हम लोगों—विशेषतया नारी जाति के सम्मुख ऐसा उच्च और साथ ही सरल आदर्श उपस्थित किया है जिसका अनुसरण करके हम लोग भी महानता का वरण कर सकते हैं ।

सब प्रकार अधिकार सम्पन्न तथा गुणवती होने पर भी महारानी अहिल्याबाई में अभिमान, अहंकार अथवा मद छू तक नहीं गया था । वे आदि से अन्त तक अपने आन्तरिक जीवन में वैसी ही भोली, सरल और साध्वी बनी रहीं जैसी कि इन्दौर आने से पूर्व थीं । गुणों और कर्त्तव्यनिष्ठा में कितनी शक्ति होती है और उसके आधार पर मनुष्य कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है अहिल्याबाई इसकी एक जीती-जागती उदाहरण हैं । धन्य हैं वे गुण और उनको धारण करने वाले वे गुणी जो इस जीवन में देवत्व पाकर जीवन की मुक्ति के अधिकारी बनते हैं ।

आदर्श वीरांगना : रानी लक्ष्मीबाई

सन् १८५७ का गदर भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। पिछले एक हजार वर्षों से भारतवासी निरन्तर विदेशियों से दबते चले जाते थे। वीरता और शौर्य में तो वे किसी से कम नहीं थे, यहाँ के क्षत्रियों के समान निर्भय होकर लड़ने वाले सैनिक संसार में ढूँढ़ने पर भी मिलने कठिन थे, पर आपस की फूट और असंगठन के कारण उनको प्रायः पराजय और असफलता का ही मुख देखना पड़ता था। मुसलमानी शासनकाल में तो फिर भी वे समय-समय पर अपनी वीरता का चमत्कार दिखाते रहते थे, पर अंग्रेजी हुकूमत में सबको इस प्रकार बाँध दिया गया कि स्वतन्त्र रूप से हाथ-पैर हिलाना भी असम्भव हो गया। अंग्रेजों की नीति यही थी कि यहीं के सैनिकों और यहीं के साधनों से देश के एक-एक भाग को अपने अधिकार में करते चले जायें। फौजों के अफसर जरूर अंग्रेज रहते थे और तिहाई, चौथाई अंग्रेज सिपाही भी सावधानी की निगाह से साथ में रखे जाते थे, पर ज्यादातर परिश्रम और लड़ने का काम भारतीय ही करते थे।

लगभग सौ वर्ष से इसी नीति से काम लेकर इन विदेशियों ने सन् १८५७ तक भारतवर्ष के नक्शे का लगभग पौन भाग लाल रंग में रंग दिया था। पीले रंग वाला भाग (देशी राज्य) कठिनता से चौथाई रह गये थे और उनकी स्वतन्त्रता भी दिन पर दिन सीमित की जा रही थी। गदर के पहले दस-पौंच वर्षों में अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने देशी राज्यों को हड़पने की नीति को बहुत तेज कर दिया था। सतारा, नागपुर, अवध, झाँसी आदि कितने ही राज्य झूठे बहाने लगाकर अंग्रेजी हुकूमत में मिला लिये गये थे। अनेक छोटे जागीरदारों की भूमि पर भी सरकारी अधिकार कर लिया गया था। इसके सिवाय जिस प्रकार सम्भव हुआ प्रजा को लूटकर भारतवर्ष का धन इंग्लैण्ड पहुँचाया जा रहा था। इस प्रकार राजनीतिक आधिपत्य दृढ़ करने के साथ ही भारतीय धर्म और सभ्यता को भी दबाकर यहाँ ईसाइयत के प्रचार की चेष्टा की जा रही थी, जिससे लोगों में विरोध की भावना ही उत्पन्न न हो।

इन सब कारणों से कई वर्षों से देश के भीतर असन्तोष का भाव बढ़ रहा था। उस समय प्रेसों और समाचार पत्रों का तो आजकल के समान प्रचार नहीं हुआ था, जिनके द्वारा वह असन्तोष प्रकट हो सकता और शासक वर्ग को उसकी गहराई का पता लग सकता, वह भीतर ही भीतर घुमड़ रहा था। अकस्मात् सिपाहियों को दिये जाने वाले

कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी होने की अफवाह उड़ी और भारतीय सेनाओं का एक भाग विद्रोह करने पर उतारू हो गया। जिन लोगों के राज्यों और जागीरों को अन्यायपूर्वक छीना गया था उन्होंने भी इस आग को और भड़काने में सहयोग दिया। कुछ ही सप्ताह के भीतर देश के कई प्रांतों में, करीब एक हजार मील तक फैले भू-भाग में विद्रोह की अग्नि धूँ-धूँ करके जलने लगी।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी इसी भारतीय—स्वतन्त्रता के लिये आरम्भ किये गये रण-यज्ञ की एक विशिष्ट 'होता' थीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस योजना के गढ़ने में भी उनका हाथ था या नहीं? अंग्रेज इतिहासकारों ने तो उनको भी इस घटना का उत्तरदाई बतलाया है और भारतीय लेखकों के मतानुसार उनको संयोगवश ही इसमें भाग लेना पड़ा। कुछ भी हो जब एक बार वे मैदान में आ गईं तो उन्होंने वह जौहर दिखलाये जिसकी शत्रु-मित्र किसी को आशा नहीं थी और तो क्या अंग्रेजी सेना के एक बहुत बड़े सेनापति सर ह्यरोज ने, जिन्होंने झाँसी, कालपी और म्वालियर में विद्रोहियों की बड़ी-बड़ी सेनाओं को हराकर फिर से अंग्रेजों की सत्ता कायम की थी और जिनसे घोर युद्ध करते हुए ही रानी लक्ष्मीबाई ने आत्मोत्सर्ग किया था, इनकी वीरता की मुक्तकण्ठ से सराहना की थी। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी घोषणा में जो शब्द कहे थे वे आज तक इतिहास में अमर बने हुए हैं। उन्होंने लिखा था—

“शत्रु-दल (भारतीय विद्रोहियों) में अगर कोई सच्चा मर्द था तो वह झाँसी की रानी ही थी।”

सर ह्यरोज के इस कथन को पढ़, सहसा मुख से निकल जाता है—“रहिमन साँचे शूर कौ बैरिहु करें बखान।” लक्ष्मीबाई झाँसी, कालपी और म्वालियर तीनों ही स्थानों में सर ह्यरोज की सेना से खूब लड़ी और उसे नाकों चने चबवा दिये। सच पूछा जाये तो अन्य सब ‘विद्रोही सरदार’ अंग्रेजी सेना के सामने एक भी जगह नहीं ठहरे, वहाँ लक्ष्मीबाई ने ही डटकर मुकाबला किया और बार-बार शत्रु की सेना का मुँह मोड़ दिया। वह तो एक तरफ उसके अल्प साधन और दूसरी ओर अंग्रेजों के पास नये-नये हथियारों का होना था, जिससे अन्त में विजयश्री अंग्रेजी सेना को मिली पर उस अकेली रानी ने जिस प्रकार सैकड़ों सैनिकों का मुकाबला करके बीसियों को घराशायी किया उसका उदाहरण उस युद्ध में दूसरा नहीं मिला।

१.२६ मरकर भी अमर हो गये जो

इसी से प्रभावित होकर, यूरोप के प्रसिद्ध रणक्षेत्रों के विजयी सेनापति और वीरों की सच्ची कदर करने वाले सर ह्यूरोज ने इस प्रकार के उद्गार प्रकट किये थे ।

जन्म और बाल्यावस्था

लक्ष्मीबाई के पूर्वज सतारा (महाराष्ट्र) के निवासी थे । जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी से हारकर पूना का पेशवाई शासन समाप्त हुआ, उस समय लक्ष्मीबाई के पिता मोरोपन्त तँवि भी पेशवा बाजीराव (द्वितीय) के भाई चिन्नाजी अप्पा के यहाँ काम करते थे । कम्पनी से सन्धि हो जाने पर बाजीराव आठ लाख वार्षिक की पेंशन पाकर बिठूर में रहने लगे और उनके भाई अप्पा साहब ने काशीवास पसन्द किया । उनको भी कम्पनी की तरफ से पृथक पेंशन नियत की गई थी । मोरोपन्त भी उनके साथ काशी आये उनके निर्वाह के लिये अप्पा साहब ने ४० रु. मासिक नियत कर दिया था ।

मोरोपन्त की पत्नी भागीरथी बाई बड़ी सुन्दर और सद्गुणी स्त्री थी । इन दोनों पति-पत्नी में परस्पर बड़ा प्रेम भी था । लक्ष्मीबाई का जन्म १६ नवम्बर सन् १८३४ को काशी में हुआ पर जब उसकी आयु ३-४ वर्ष की थी तभी उसकी माता का देहान्त हो गया और पालन-पोषण का भार उसके पिता मोरोपन्त पर ही पड़ गया । उधर अप्पा साहब का देहान्त भी इसके कई वर्ष पहले हो चुका था और मोरोपन्त को जीवन निर्वाह में बड़ी कठिनाई हो रही थी । इस स्थिति में उन्होंने बिठूर में बाजीराव के आश्रय में रहने का निश्चय किया । बाजीराव ने उदारतापूर्वक उनको अपने यहाँ स्थान दिया और वे अपनी पुत्री को लेकर पेशवा के परिवार के साथ ही रहने लगे ।

जिस समय बालिका लक्ष्मीबाई बिठूर में पेशवाओं के महल में रहने लगी उस समय बाजीराव के दत्तक-पुत्र नाना साहब (जन्म १८२४), उनके भाई बाला साहब तथा भतीजे राव साहब भी वहीं रहते थे । बाजीराव ने इन सब बालकों की शिक्षा-दीक्षा की अच्छी व्यवस्था कर रखी थी । उनको पढ़ने-लिखने के साथ ही अस्त्र संचालन और घुड़सवारी की शिक्षा भी दी जाती थी । लक्ष्मीबाई (जिसका नाम उस समय मनुबाई था) यद्यपि आयु में छोटी थी, तो भी उन्हीं के साथ रहती थी और सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती रहती थी । वहीं से उसे घुड़सवारी और शस्त्र चलाने का शौक लग गया, जो आगे चलकर उसे एक आदर्श वीरांगना बनाने वाला सिद्ध हुआ । पेशवा बाजीराव भी उसकी सुन्दर आकृति और भोलेपन को देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे और उसे 'छबीली' कहकर पुकारते थे ।

लक्ष्मीबाई बाल्यावस्था से ही तेजस्वी और अपनी बात पर डट जाने वाली थी । जिस समय नाना साहब और राव साहब घोड़ों पर हवाखोरी को निकलते थे तो वह भी घोड़े पर सवार होकर साथ जाती थी । एक दिन नाना साहब हाथी पर बैठकर जाने लगे तो वह भी हाथी के लिये हठ करने लगी । बाजीराव ने भी बहुत कहा कि 'छबीली' को भी बैठा लो पर नाना साहब न माने । उधर लक्ष्मीबाई हठ करती ही जाती थी, इस पर मोरोपन्त को क्रोध आ गया और उसने कहा—“क्या तेरी तकदीर में हाथी पर बैठना लिखा है ? क्यों व्यर्थ में हठ करती है !” लक्ष्मीबाई ने तड़ाक से उत्तर दिया—“मेरे भाग्य में तो दस हाथियों पर बैठना लिखा है !” समय आने पर यह बात पूरी तरह सत्य हो गई । झाँसी की रानी होने पर वह नाना साहब से भी अधिक वैभवशालिनी बन गई ।

विवाह और वैधव्य

जिस समय लक्ष्मीबाई की आयु ८ वर्ष की हुई तो उसके पिता जाति प्रथा के अनुसार उसके विवाह की चिन्ता करने लगे । जब कानपुर में किसी से बातचीत पक्की न हुई तो बाहर खोज करने लगे । इसी समय झाँसी के राजा गंगाधर राव के लिये भी वधू होने के लायक कन्या की खोज की जा रही थी । इस कार्य के लिये आने वाले सरदारों को लक्ष्मीबाई उपयुक्त जान पड़ी और जिस वर्ष गंगाधर राव झाँसी के राज-सिंहासन पर आसीन हुए उसी वर्ष उनका विवाह-संस्कार लक्ष्मीबाई के साथ सम्पन्न हो गया ।

झाँसी का प्रान्त पहले बुन्देलखण्ड के सुप्रसिद्ध शासक महाराज छत्रसाल के अधिकार में था । उन्होंने उसे पूना के पेशवा बाजीराव (प्रथम) को उनकी सैनिक-सहायता के उपलक्ष्य में भेंट स्वरूप दे दिया था । सन् १७५६ में नागा साधुओं के गुरु इन्द्रगिरि ने उस पर अधिकार कर लिया पर बाजीराव उसको इस तरह छोड़ने वाले न थे, उन्होंने अपना एक सरदार कुछ सेना के साथ झाँसी भेजा जिसने इन्द्रगिरि को पूर्णरूप से पराजित कर दिया । उस समय झाँसी में इन नागा संन्यासियों के ४ मठ थे जिनमें एक हजार युद्ध कर सकने लायक साधु निवास करते थे । इन सबको प्रति मास चार रुपया राज्य की तरफ से मिलता था और इनका कर्तव्य था कि जब कभी युद्ध आरम्भ हो तो वह स्वयं मोर्चे पर पहुँच जायें । ये नागा संन्यासी अधिकतर धनुष-बाण से लड़ते थे । मराठा सूबेदारों ने भी इन चारों सैनिक संगठनों को, जिनका नाम 'आनन्त', 'आभात', 'आखात' और 'नाखात' था, कायम रखा ताकि समय पड़ने पर उनको युद्ध क्षेत्र में भेजा जा सके । सन् १७५७ के

विद्रोह में इन नागाओं ने भी लड़ने में मुख्य भाग लिया था ।

कुछ समय बाद बाजीराव ने रघुनाथ हरी नेवालकर को झाँसी का सूबेदार नियुक्त किया । ये एक वीर और सुयोग्य शासक थे और सन् १७७० से १७६४ तक २४ वर्षों में उन्होंने झाँसी के राज्य की इतनी उन्नति की और वहाँ पेशवा के शासन को इतना सुदृढ़ बना दिया कि उसने प्रसन्न होकर रघुनाथ हरी को ही झाँसी का पुस्तैनी सूबेदार बना दिया । जब वे अधिक वृद्ध हो गये तो उन्होंने सूबेदार के पद पर अपने भाई शिवराज भाऊ को नियुक्त कर दिया और स्वयं काशीवास करने को चले गये । इन्हीं शिवराज ने सन् १८०४ में लॉर्ड लेक के प्रयत्न से अंग्रेजी सरकार ने एक सुलहनामा लिख दिया था, जिसमें कहा गया था कि “शिवराज भाऊ और कम्पनी की सरकार आपस में सच्चे मित्र हैं और वे किसी भी आपत्ति के समय एक-दूसरे की सहायता करने को तैयार रहेंगे ।” साथ ही यह भी था कि “अब तक झाँसी के सूबेदार पेशवा सरकार के मातहत माने जाते हैं, उनका वह सम्बन्ध भी कायम रहेगा ।” यद्यपि यह सुलहनामा प्रत्यक्ष में निर्दोष जान पड़ता है पर लॉर्ड लेक की इस कूटनीति का यह परिणाम हुआ कि झाँसी का उदाहरण देखकर बुन्देलखण्ड के अन्य समस्त राज्यों ने भी एक के बाद एक अंग्रेज शासकों से समझौता कर लिया । जो राजा इसे अपनी स्वतन्त्रता के लिये हानिकारक मानते थे उनको भी अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा ही करना पड़ा ।

कुछ समय बाद जब अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव (द्वितीय) को दबा लिया तो उससे सन्धि करते समय यह शर्त भी लिखा ली कि हमारी मातहतता में झाँसी जैसे जो दूरवर्ती इलाके हैं, उन सब पर से हम अपना अधिकार छोड़ते हैं । यद्यपि पेशवा का शासन निर्बल पड़ जाने से ये सब ‘सूबेदार’ स्वयं ही पूर्ण स्वतन्त्र राजा बन गये थे और पेशवा को किसी प्रकार का ‘वार्षिक कर’ देना उन्होंने बन्द कर दिया था, तो भी नाममात्र के लिये वे ‘पेशवाई’ के अधीन अवश्य थे, परन्तु चालाक अंग्रेजों ने इस शर्त द्वारा, उनको पेशवा के बन्धन से मुक्त करके अपने साथ किसी भी प्रकार की ‘सन्धि’ कर सकने के स्थिति में ला दिया । अंग्रेजी सरकार के साथ सन्धि न कर सकने का एक बहाना था उसे भी दूर कर दिया गया ।

शिवराज भाऊ का देहान्त सन् १८१५ में हो गया । उसके बाद उनका पौत्र रामचन्द्र राव सूबेदार हुआ और १८३५ तक शासन करता रहा । उसका देहान्त होने पर उसके कई वर्ष बाद तक शासन में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन

होते रहे और ४ वर्ष तक अंग्रेज सरकार ने अपना प्रतिनिधि झाँसी में रखकर वहाँ का शासन कार्य चलाया । इसके पश्चात् बहुत सोच-विचार कर लक्ष्मीबाई के पति गंगाधर राव को, जो शिवराज भाऊ के सबसे छोटे पुत्र थे शासन भार दे दिया गया । पर अब वे पूर्णतया अंग्रेजी सरकार के मातहत हो गये और उन्हें अपने यहाँ एक अंग्रेजी सेना की टुकड़ी रखना और उसके खर्च के लिये सवा दो लाख रु. वार्षिक देना स्वीकार करना पड़ा ।

झाँसी के राजाओं का यह इतिहास हमको बतलाता है कि किस प्रकार अपनी ही असावधानी और संगठन के अभाव से इस देश में अंग्रेजों के कदम धीरे-धीरे मजबूत होते गये और वे एक-एक करके राजाओं के राज्यों को अपने शासन में मिलाते चले गये । एक दिन वह भी था कि जब वे यहाँ व्यापारी के रूप में आये थे और सन् १७५३ तक ‘एक दीन सेवक’ की हैसियत से देहली के बादशाहों से छोटी-मोटी रियायतों के लिये पैरों पर सिर रखकर प्रार्थना किया करते थे । पर उसके सौ वर्ष बाद वे ही व्यापारी यहाँ के बड़े-बड़े राजाओं के साथ मनमाना बर्ताव करने लगे और झूठे बहाने निकालकर उनके राज्यों को आत्मसात करने लगे । अंग्रेजों की इन चालों को देखकर भी भारतवासी सावधान नहीं हुए और जिसको अंग्रेजों से अपना कोई लाभ सिद्ध होता दिखाई पड़ा वही उनका सहयोगी बनकर देशवासियों की जड़ काटने लगा । भारतवासियों में राष्ट्रीय भावना का यह अभाव ही इनके पतन का एक मुख्य कारण रहा है । अब यद्यपि देश स्वतन्त्र हो चुका है, तो भी यह त्रुटि पूरी तरह दूर नहीं हुई है । आज भी यहाँ के अधिकांश व्यक्ति राष्ट्रीय-हित के सम्मुख व्यक्तिगत हित को ही प्रधानता देने वाले मिलते हैं, जिससे भारतीय-समाज की उन्नति बहुत कुछ रुकी हुई है ।

लक्ष्मीबाई का वैवाहिक जीवन

लक्ष्मीबाई का विवाह गंगाधर राव से हो जाने पर उसके पिता तथा अन्य सम्बन्धी झाँसी ही जाकर रहने लगे । मोरोपन्त को दरबार में एक सरदार की पदवी दी गई और तीन सौ रु. मासिक जेतन मिलने लगा और लोग भी अच्छे पदों पर नियुक्त किये गये । गंगाधर राव एक अच्छी योग्यता वाले और प्रजाहितैषी शासक थे । उन्होंने सर्वसाधारण की भलाई के लिये अनेक कार्य किये । सबके साथ दयालुता का व्यवहार करने के कारण लोग उनको “काका साहब” कहकर पुकारते थे । उनके पश्चात् झाँसी के राज्य का क्या होगा इसका उन्हें बड़ा ख्याल रहता था, क्योंकि वे देख रहे थे कि निःसन्तान राजाओं के राज्यों पर

१.३१ मरकर भी अमर हो गये जो

अंग्रेजी सरकार किस प्रकार एक-एक करके अधिकार जमाती चली जा रही है।

जब विवाह को ८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कोई सन्तान नहीं हुई तो उनका ध्यान धार्मिक कार्यों की तरफ गया और सन् १८५० में वे तीर्थयात्रा के लिये निकले। सबसे पहले काशी पहुँचे, फिर गया, प्रयाग आदि की भी यात्रा की। जहाँ कहीं गये वहाँ खूब दान-पुण्य किया। वहाँ से वापस आने पर लक्ष्मीबाई गर्भवती हुई और १८५१ में उसने एक पुत्र को जन्म दिया। इससे सबको अत्यन्त प्रसन्नता हुई और एक महीना तक नगर में बड़ी खुशियाँ मनाई गईं पर यह प्रसन्नता अल्पकालीन ही सिद्ध हुई क्योंकि तीन मास की आयु में ही बालक का देहावसान हो गया। गंगाधर राव को तो इससे इतना मानसिक कष्ट हुआ कि वे बीमार पड़ गये और उन्होंने खटिया पकड़ ली। बहुत कुछ इलाज किये जाने पर सन् १८५२ में स्वास्थ्य में कुछ सुधार जान पड़ा पर अब भी बीमारी पूरी तरह ठीक नहीं हुई थी जिससे उनको पथ्य-भोजन ही ग्रहण करना पड़ता था। अक्टूबर १८५३ में एक श्राद्ध के अवसर पर उन्होंने कुछ खा लिया जिससे रोग फिर एक दम बढ़ गया। परिणाम यह हुआ कि वे दशहरे के दरबार में भी आकर न बैठ सके। उस अवसर पर समस्त सरदारों और प्रतिष्ठित नागरिकों ने रानी लक्ष्मीबाई को विश्वास दिलाया कि उन सबकी सहानुभूति पूरी तरह से महाराज के साथ है, क्योंकि वे सदैव सबके सुख-दुःख का पूरा ध्यान रखते हैं और उन्होंने कभी किसी के साथ अन्यायपूर्ण या बुरा बर्ताव नहीं किया। सबने मिलकर महाराज की दीर्घायु के लिये भगवान् से प्रार्थना की।

पर प्रजा की शुभाकांक्षायें और बड़े-बड़े वैद्य, हकीम तथा डॉक्टरों का इलाज, कुछ भी काम न आया। स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता ही गया और नवम्बर के दूसरे सप्ताह में यह जान पड़ने लगा कि अब महाराज का अधिक समय तक जीवित रह सकना सम्भव नहीं। यह देखकर लक्ष्मीबाई के पिता और राज्य-मन्त्री नृसिंहराव महाराज के पास गये और भविष्य में राज्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार किया गया। सोच-विचारकर यह तय हुआ कि अपने घराने के वामुदेव नेवालकर के पुत्र आनन्दराव को जिसकी आयु पाँच वर्ष की थी, दत्तक लेकर युवराज बना दिया जाये।

महाराज ने अपनी हालत खराब होती देखकर इस कार्य को तुरन्त सम्पन्न किया और बुन्देलखण्ड के असिस्टेंट पोलिटिकल एजेण्ट मेजर एलिस को अपने हाथ से एक खरीता (राजकीय पत्र) दिया जिसमें कम्पनी-सरकार को

यह सूचना दी गई कि उन्होंने आनन्दराव को दत्तक पुत्र के रूप में ले लिया है और उसका नाम दामोदर राव रखा है। पत्र में यह भी प्रार्थना की गई थी कि उनका देहावसान होने पर दामोदर राव को ही उनका उत्तराधिकारी माना जाये।

जिस समय महाराज ने अपना वसीयतनामा असिस्टेंट पोलिटिकल एजेण्ट को दिया तो साहब का दिल भर आया और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे अवश्य इसे स्वीकृत करा देंगे, पर जब वसीयतनामा और मेजर एलिस का पत्र पोलिटिकल एजेण्ट मेजर मैलकम के पास पहुँचा तो उन्होंने गवर्नर जनरल को अपनी तरफ से यह पत्र भेजा—

खेद के साथ सूचना दी जाती है कि झाँसी के महाराज २१ नवम्बर सन् १८५३ को परलोकवासी हो गये। मृत्यु से पूर्व महाराज ने पाँच वर्षीय एक बालक दामोदर राव को अपना दत्तक पुत्र बनाया और यह भी कहा कि यह लड़का हमारा नवासा है। परन्तु मुझे ऐसा विदित होता है कि यह लड़का महाराज रघुनाथ राव की दूसरी पुस्त से है और अंग्रेजी कानून के अनुसार, महाराज का चचेरा भाई है। जो वसीयतनामा महाराज ने मुझे भेजा है वह मैं साथ में भेज रहा हूँ। मुझे ऐसा विदित होता है कि महाराज ने अपने स्वर्गवास के समय दत्तक लेने का विचार किया पर इस कार्य पर झाँसी के अमीर लोग अवश्य खेद प्रकट करेंगे। उनको आशा थी कि महाराज गंगाधर राव के पश्चात् अंग्रेजों की देख-रेख में राज्य का प्रबन्ध होगा पर जब महाराज ने सोचा कि झाँसी के सूबेदार शिवराव भाऊ के वंश में जिसके साथ सरकार का पहला सन्धि पत्र लिखा गया था, कोई वारिस नहीं है तो उन्होंने यह दत्तक-पुत्र लिया। सरकार की जानकारी के लिये मैं महाराज की वंशावली भेज रहा हूँ, जिससे विदित होगा कि यह लड़का महाराज रघुनाथ राव के वंश का है।

“मैंने २ नवम्बर को एक पत्र मेजर एलिस को भी भेजा था और वे उसी के अनुसार कार्यवाही कर रहे हैं। जब तक झाँसी के विषय में सरकार की पूरी स्वीकृति न आ जायेगी तब तक स्वर्गीय महाराज के दत्तक का कुछ भी विचार न किया जायेगा। झाँसी के राजा का अंग्रेजी सरकार से क्या सम्बन्ध है यह बतलाने को कुछ प्रमाण लिखे जाते हैं। इन पर विचार करने से मालूम होगा कि झाँसी के राजा को अपने राज्य का वारिस बनाने का अख्तियार है या नहीं?”

इस पत्र से स्पष्ट है कि मैलकम साहब ने महाराज गंगाधर राव के मरते ही झाँसी के राज्य को अंग्रेजी अधिकार में करने का विचार कर लिया था। अपनी बात को

प्रमाणित करने के लिये उन्होंने यह दलील पेश की कि पेशवा बाजीराव ने सन् १८१७ के सुलहनामे के द्वारा झाँसी राज्य का पूरा अधिकार हमको दे दिया था और हमने ही शिवराव भाऊ के पौत्र को गद्दी पर बिठाकर उसे 'सूबेदार' के बजाय 'महाराज' का खिताब दिया था। उसके निःसंतान मर जाने पर राज्य के असली हकदार की तलाश की गई। उस समय शिवराव भाऊ के दो पुत्र (रघुनाथ राव और गंगाधर राव) जीवित थे, उन्हीं को एक के बाद एक राज्य का अधिकार दिया गया पर अब गंगाधर राव की मृत्यु हो जाने से उस वंश की इतिश्री हो गई और इससे आगे किसी को उनका उत्तराधिकारी नहीं माना जा सकता।

महाराज गंगाधर राव ने अन्तिम समय में जिस बालक दामोदर राव को दत्तक लेकर रानी लक्ष्मीबाई को उसका अभिभावक नियत किया था उसके सम्बन्ध में मेजर मैलकम ने लिखा—“महाराज गंगाधर राव ने जिस स्त्री (लक्ष्मीबाई) को राज्य की व्यवस्था सौंपने की इच्छा प्रकट की है, वह हर तरह से योग्य है परन्तु इस समय की अवस्था को देखते हुए विश्वास है कि सरकार इस इलाके को अपने काबू में करेगी और रानी साहिब तथा उनके सम्बन्धियों को कोई अच्छा 'बजीफा' देकर आराम पहुँचायेगी। रानी साहिबा के लिये कितने रुपये की जरूरत होगी यह बतलाना बहुत कठिन है। चूँकि बुन्देलखण्ड में मराठों का यह आखिरी खानदान है, इसलिये सब बातों पर विचार करते हुए मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि महारानी को ५००० रुपये वार्षिक से कम न दिया जाये।”

अंग्रेज सरकार की नीति उस समय यही थी कि कम से कम जितनी रियायत देने से इस देश के पुराने शासक और प्रजागण शान्त रह सकें उतना उनको देकर शेष समस्त अधिकारों को उनसे छीन लिया जाये। खासकर जिस समय महाराज गंगाधर राव की मृत्यु हुई और उनके दत्तक दामोदर राव को रानी लक्ष्मीबाई की संरक्षकता में झाँसी राज्य का अधिकारी बनाने का प्रश्न उठा उस समय देश में लार्ड डलहौजी का शासन-चक्र चल रहा था। वे देशी राज्यों के विरुद्ध थे और एक-एक करके कितने ही राज्यों को अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत ला चुके थे। इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन इस देश में इतना जम चुका था और उसकी सैन्यशक्ति इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि उसे देशी राजाओं की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। उसकी निगाह में वे अब केवल 'जमींदारों' की तरह रह गये थे, जो केवल छत्र, मुकुट और आभूषणों से सजधज कर सिंहासन पर बैठ जाते हैं और खजाने के रुपये को भोग-विलास के कार्यों में बर्बाद किया करते हैं। इसलिये अंग्रेज अधिकारियों ने यह निश्चय कर लिया था कि किसी

भी राजा के निःसंतान मर जाने पर उसको दत्तक लेने का अधिकार न दिया जाये और उसका राज्य कम्पनी के शासन में मिला लिया जाये।

इस नीति के अनुसार महाराज गंगाधर राव के मरते ही मेजर एलिस ने तुरन्त ही झाँसी के खजाने में ताला लगा दिया और गवर्नर जनरल की आज्ञा की प्रतीक्षा में राज्य का पूरा प्रबन्ध आपने हाथ में ले लिया। इस तरह चार महीने बीत गये, तो भी अंग्रेजी-सरकार का कोई हुक्म नहीं आया। यह देखकर रानी लक्ष्मीबाई ने सरकार के पास एक और खरीता भेजा जिसमें झाँसी के राजवंश और अंग्रेजी सरकार के बीच प्राचीन मित्रता का उल्लेख करते हुए दामोदर राव को राज्य का अधिकारी स्वीकृत किये जाने की प्रार्थना की गई थी। लॉर्ड डलहौजी ने इसे स्वीकार न किया और २७ फरवरी सन् १८५४ को एक घोषणा द्वारा झाँसी के राज्य को ब्रिटिश शासन में मिला लेने की आज्ञा दे दी। उन्होंने निर्णय किया कि झाँसी का राज्य स्वतन्त्र नहीं है, वरन् पारितोषिक के रूप में जागीर की तरह दिया गया था। अतः उसका कोई अधिकारी न होने की सूरत में वापस ले लेने का पूर्ण अधिकार है। उन्होंने यह भी दलील दी कि झाँसी-राज्य अन्य अंग्रेजी जिलों के बीच में पड़ता है और उसे अंग्रेजी शासन में ले लेने से राज्य-व्यवस्था में सुविधा रहेगी।

जब अंग्रेज रेजीडेंट ने गवर्नर जनरल की इस घोषणा को रानी लक्ष्मीबाई को पढ़कर सुनाया तो रानी ने दृढ़ किन्तु मधुर स्वर से कहा—“मेरा झाँसी देगा नहीं!” उस समय रानी की इस दृढ़तापूर्ण वाणी का कोई परिणाम नहीं निकला। उनको ५ हजार की सालाना पेंशन, नगर के राजमहल में रहने का अधिकार मिला। पारिवारिक सम्पत्ति तथा आभूषणों आदि पर भी उनका स्वामित्व स्वीकार किया गया। झाँसी के खजाने से ६ लाख रुपये निकालकर दामोदर राव के नाम से अंग्रेजी खजाने में जमा कर दिये गये जो उसे वयस्क होने पर मिल सकते थे।

लक्ष्मीबाई ने इस आज्ञा का बहुत विरोध किया और कई महीने तक पेंशन लेने से इन्कार कर दिया। उन्होंने उमेशचन्द्र बनर्जी नामक हिन्दुस्तानी वकील तथा एक यूरोपियन वकील को ६० हजार रुपये खर्च करके कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स' के पास अपील करने को लन्दन भेजा पर उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। तब विवश होकर उन्होंने पेंशन लेना आरम्भ किया। अब उनका अधिकांश समय पूजा-पाठ में व्यतीत होता था, जो समय बचता था उसमें वे घुड़सवारी और व्यायाम करती थीं। दामोदर राव को अपने पुत्र के समान ही प्यार करती थीं।

१.३३ मरकर भी अमर हो गये जो

७ वर्ष की आयु में दामोदर राव का यज्ञोपवीत संस्कार बड़ी धूम-धाम से किया गया। इसके लिये उसके नाम से जमा ६ लाख रुपये में से एक लाख रुपया निकाला गया। पहले तो सरकार ने कहा कि वे रुपये दामोदर राव के वयस्क होने पर ही दिये जा सकते हैं पर जब अधिक जोर दिया गया तो इस शर्त पर रुपया देने की आज्ञा दी गई कि उनको कुछ समय बाद फिर जमा कर दिया जाये। लक्ष्मीबाई ने भविष्य की बात को अनिश्चित समझकर इस शर्त को मानकर रुपया ले लिया, यह सन् १८५६ की बात है।

देश में विद्रोह की अग्नि

सन् १८५७ में जनवरी के मास से ही भारतीय फौजों में अंग्रेजी अधिकारियों की कार्यवाहियों के विरुद्ध असन्तोष प्रकट हो रहा था। इसका तात्कालिक कारण तो बन्दूकों के लिये नये ढंग के चर्बी से चुपड़े कारतूस देना था, पर वास्तविक कारण तरह-तरह की चालों से देश में अंग्रेजी सत्ता का अधिकाधिक विस्तार किया जाना था। इससे यहाँ के कितने ही प्रधान व्यक्ति अंग्रेजों के विरोधी बन गये थे, जिनमें बिठूर निवासी नाना साहब प्रमुख थे। जब उनकी ८ लाख वार्षिक की पेंशन अन्यायपूर्वक रोक दी गई और झाँसी तथा अवध जैसे राज्यों को भी उन्होंने अंग्रेजों द्वारा जब्त किये जाते देखा तो उनके हृदय में भारत के देशी राजाओं को संगठित करके अंग्रेजों को मार भगाने की कल्पना उत्पन्न होने लगी। पहले तो उन्होंने इस सम्बन्ध में कई बार सब राजाओं को पत्र लिखे और फिर तीर्थयात्रा का बहाना करके सब जगह जाकर स्वयं राजाओं से मिले और उनसे इस सम्बन्ध में साठगाँठ की। अवध की राजधानी लखनऊ में तो हाथी पर उनका बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया।

सब लोगों से गुप्त रूप से विचार-विमर्श करके जून सन् १८५७ में विद्रोह आरम्भ करने की तिथि नियत की गई। पर भारतीय फौजों में असन्तोष अधिक बढ़ जाने से मेरठ के सिपाहियों ने १० मई को ही क्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया, और वहाँ के समाचारों से कानपुर, झाँसी आदि सब स्थानों की देशी सेनाओं में उत्तेजना फैल गई। यद्यपि अंग्रेज अधिकारी यह नहीं जानते थे कि क्रान्ति की योजना भीतर ही भीतर कितनी अधिक फैल चुकी है। फिर भी वे सावधान हो गये और अपने स्त्री-बच्चों को सुरक्षित स्थानों पर पहुँचा दिया।

कानपुर और झाँसी में विद्रोह का आरम्भ एक ही दिन—४ जून सन् १८५७ को हुआ। कानपुर में पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ठीक आधी रात को तीन फायरों से संकेत देकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की गई।

उधर झाँसी में भी ४ जून को ही सेना के प्रधान अफसर कप्तान डनलप और टेलर को डाकखाने से लौटते समय रास्ते में ही मार दिया गया। इन विद्रोहियों के नेता रिसालदार कालेखों और तहसीलदार अहमद हुसैन थे। उन्होंने ८ जून को झाँसी के किले पर भी अधिकार कर लिया और उसके भीतर अपनी रक्षा के लिये एकत्रित ७५ अंग्रेज पुरुष, १६ स्त्रियों और २३ बालकों को मौत के घाट उतार दिया। उसके बाद उन्होंने रानी के महल को घेर लिया और खर्च के लिये धन माँगा। रानी ने कहा कि मेरे पास नकद रुपया तो नहीं है, कुछ आभूषण दे सकती हूँ। अन्त में एक लाख की कीमत के गहने देकर रानी ने उनको सन्तुष्ट किया। इसके पश्चात् समस्त विद्रोही सेना “खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, अमल महारानी लक्ष्मीबाई का” नारा लगाते हुए दिल्ली की तरफ खाना हो गये।

झाँसी पर शासन

इस बात को निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि झाँसी में देशी सेना द्वारा विद्रोही होकर जो ११४ अंग्रेज स्त्री-पुरुषों को कत्ल किया गया उसमें रानी लक्ष्मीबाई का कितना हाथ था। यह तो सच है कि गदर के प्रमुख नेता नाना साहब से उनका पुराना सम्बन्ध था और झाँसी के राज्य का अन्यायपूर्वक जब्त किया जाना भी ऐसी घटना थी, जिसके कारण वे नाना साहब की योजना में सम्मिलित मानी जा सकती हैं। पर स्त्री होने और सेना के अधिकारियों से किसी प्रकार का सम्पर्क न होने के कारण ४ से ८ जून तक की घटनाओं में उनका कोई हाथ नहीं बतलाया जा सकता। इस अनुमान का समर्थन मार्टिन नामक अंग्रेज के उस पत्र से होता है जो सन् १८८६ में उसने लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र दामोदर राव को भेजा था। यह अंग्रेज उस समय झाँसी में ही था और किसी प्रकार विद्रोहियों से बचकर निकल भागा था। उसके पत्र का एक अंश इस प्रकार है—

“तुम्हारी माता (लक्ष्मीबाई) के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया गया। उनके बारे में जितना ठीक हाल में जानता हूँ उतना दूसरा कोई नहीं जानता। सन् १८५७ में जो अंग्रेज झाँसी में मारे गये, उस घटना से उसका कोई सम्बन्ध न था। इतना ही नहीं बल्कि किले में अंग्रेजों के बन्द हो जाने पर दो दिन तक वह उनको खाना भेजती रही। उसने कप्तान मारडन और कप्तान स्क्रीन को सलाह दी कि आप लोग सब स्त्री-बच्चों को लेकर ओरछा के राजा के पास चले जायें तो झाँसी की अपेक्षा सुरक्षित रहेंगे पर उस समय उन लोगों ने इस सलाह को न माना और

अन्त में उन्हीं की सेना और जेल के लोगों ने उन सबको मार दिया ।”

एक अन्य लेखक ने भी लिखा है कि “अंग्रेजों के किले में चले जाने के बाद महारानी छिपे तौर पर उनकी सहायता करती रहीं । उन्होंने हर रोज तीन-तीन मन आटे की रोटियाँ पकवाकर उनको भिजवाई और भी जिस तरह सम्भव था उनकी रक्षा का प्रयत्न किया ।”

पर जब विद्रोहियों ने सब अंग्रेज शासकों को मार दिया और वे स्वयं भी शहर छोड़कर दिल्ली की तरफ चल दिये तो शहर को बिल्कुल अरक्षित देखकर उसका प्रबन्ध उनको अपने हाथ में लेना पड़ा । ऐसे समय में अनेक स्वार्थ-परायण और दूसरों की सम्पत्ति को लालच की निगाह से ताकते रहने वाले व्यक्ति उपद्रव खड़ा कर देते हैं । इन उपद्रवकारियों से अपनी रक्षा करने के लिये लक्ष्मीबाई को सेना की व्यवस्था करनी पड़ी और तोप, गोला, बारूद तथा अन्य हथियारों को तैयार करने के लिये कारखाना स्थापित करना पड़ा । महाराज गंगाधर राव के समय तक झाँसी के किले में इन सब अस्त्र-शस्त्रों का पूरा इन्तजाम था, पर उनकी मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने उन सबको नष्ट कर दिया था जिससे रानी अथवा उसके पक्षपाती कभी अकस्मात् अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लड़ने की तैयारी न करने लग जायें ।

रानी लक्ष्मीबाई को जून १८५७ से मार्च १८५८ तक कुल नौ-दस महीने झाँसी पर शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ । इस बीच में वे बराबर बड़े अंग्रेज अधिकारियों को इस बात का विश्वास दिलाती रहीं कि मैं यह कार्य अपना अधिकार जमाने की मन्शा से नहीं कर रही हूँ, वरन् जब तक सरकारी अधिकारियों की अनुपस्थिति के कारण राज्य में उपद्रव और लूटमार का भय है तब तक के लिये मैंने शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले ली है पर अंग्रेजों ने उसकी बातों पर विश्वास नहीं किया और वे यही मानते रहे कि वह भीतर ही भीतर विद्रोहियों से मिली हुई है । परिणाम यह हुआ कि अन्त में रानी को वास्तव में विद्रोह में भाग लेना ही पड़ा और झाँसी का युद्ध “सन् १८५७ के गदर” का सबसे मुख्य संग्राम माना गया । यद्यपि दिल्ली के बादशाह, कानपुर के नाना साहब, लखनऊ की बेगम हजरत महल आदि उस समय विद्रोहियों के प्रधान नेता माने गये, पर आज उनका नाम केवल इतिहास के कुछ पाठकों को ही याद रह गया है, जब कि ‘झाँसी की रानी’ नगरों में ही नहीं गाँव-गाँव में प्रसिद्ध है । आज भी

छोटे-छोटे बालक हर जगह यह गाते हुए दिखाई पड़ते हैं—

खूब लड़ी मरदानी वह तो—

झाँसी वाली रानी थी ।

इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि संसार में पूजा और प्रतिष्ठा, आत्म-त्याग और बलिदान की ही होती है । भारतीय स्वाधीनता की सन् “सत्तावन की क्रांति” में यद्यपि तात्या टोपे, कुँवरसिंह, नाना साहब आदि अनेक वीरों ने अंग्रेजों से डटकर मुकाबला किया और अपने को स्वतन्त्रता की वेदी पर बलिदान कर दिया, पर जिस तरह रानी लक्ष्मीबाई ने निशंक होकर शत्रु के सम्मुख युद्ध किया और बिना पीछे कदम हटाये तलवारों और बन्दूकों के सामने निर्भय होकर बढ़ती चली गई उसका उदाहरण उस समय के समस्त इतिहास में दूसरा नहीं मिलता । स्त्री होकर उसने वह काम कर दिखाया जो उस “स्वतन्त्रता-संग्राम” में कोई पुरुष न कर सका । उसके इसी अनुपम शौर्य को देखकर सामान्य जनता भी मुग्ध हो गई और उसने “भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम” के नेतृत्व का मुकुट उसी के सिर रखा । शत्रु-पक्ष के विजयी सेना नायक सर ह्यूरोज ने भी विद्रोह के समस्त कर्ता-धर्ताओं में “सच्चा मर्द” उसी को माना ।

भारतीय स्त्री जाति की दृष्टि से तो वर्तमान समय में इतना महान आदर्श दूसरा मिल नहीं सकता । यह सच है कि हर एक स्त्री को न तो उसके समान वीरांगना बनने के साधन मिल सकते हैं और न इस प्रकार युद्ध करने का अवसर मिलने की ही आशा की जा सकती है, पर रानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण में जो कुछ अनुकरणीय है वह कर्तव्य मार्ग से किसी भी स्थिति में पैर पीछे न हटाना है । कर्तव्यनिष्ठा प्रत्येक स्त्री और पुरुष के लिये एक ऐसा गुण है, जिसके होने पर वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्मरणीय कार्य करके अपना नाम चिरस्थायी कर सकता है ।

घर के शत्रुओं से युद्ध

यद्यपि विघवा होने के बाद लक्ष्मीबाई ने अपना रहन-सहन बहुत सादा बना लिया था और वह अपना अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत किया करती थी, पर जब उसे शासन-संचालन की जिम्मेदारी उठानी पड़ी तो उसने उस कार्य को भी ऐसी संलग्नता और परिश्रम के साथ किया कि कुछ ही समय में झाँसी की रंगत ही बदल गई । उसका वर्णन करते हुए “कानपुर के विद्रोही” पुस्तक में कहा गया है—

१.३५ मरकर भी अमर हो गये जो

“रानी लक्ष्मीबाई ने सैनिक महत्त्व के स्थानों की रक्षा पर पूरा ध्यान दिया था। नई तोपें ढाली गईं, नये सिपाही भर्ती किये गये, एक टकसाल खोली गई। शासन के प्रत्येक विभाग में रानी के दृढ़ चरित्र का प्रभाव पड़ा। २३ वर्षीय इस नारी ने अपने उत्साह, उद्योग एवं अध्यवसाय से अपने सभी साथियों और झाँसी के निवासियों के हृदय में मोहन-मन्त्र फूँक दिया। वह शासन-कार्य की देख-भाल स्वयं करती थी। सिर पर चमकदार लाल रेशम की टोपी लगाती थीं, जिसमें चारों ओर मोती और जवाहरात जड़े थे। एक बहुमूल्य मोतियों की माला उनके गले में रहती थी। उनकी कंचुकी सामने खुली रहती थी और कमर तक लटकती रहती थी। एक जरी के काम वाला कमरबन्द उसे बाँधे रहता था। इस कमरबन्द में दमिश्क की नक्काशी के चाँदी से मड़े दो तमंचे खोंसे हुए थे। एक बहुत तेज धार का छुरा भी इसी में लटका रहता था। साड़ी के स्थान पर वे डीला पायजामा पहनती थीं। इस तेजस्वी वेश का प्रभाव सब पर पड़ता था। प्रतिदिन महालक्ष्मी के मन्दिर में वे घोड़े अथवा पालकी पर सवार होकर दर्शन करने जाती थीं। घोड़े की सवारी का उनको बड़ा शौक था और अश्व-परीक्षा में वे अत्यन्त निपुण थीं।”

कचहरी में काम करते समय उनको कोई नहीं देख पाता था, क्योंकि उनका स्थान सबसे अलग था। उसके दरवाजे पर दो सिपाही सुनहरी छड़ियाँ लेकर खड़े रहते थे। महारानी के पास दीवान लक्ष्मी राव कागज, कलम लेकर बैठे रहते थे और वे जो कुछ बोलती थीं उसे लिखते जाते थे। महारानी बहुत चतुर थीं और उनके सामने जो मामला आता उसकी खूब जाँच करके उचित फैसला करती थीं। इनके न्याय से समस्त प्रजा खुश थी, यह बात अंग्रेज लेखकों ने स्वयं लिखी है। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण स्त्री होने के कारण वे पर्दा नहीं करती थीं और अपने पति की गद्दी पर बैठकर ही राज्य-संचालन करती थीं।

रानी को राज्य-भार सँभाले कुछ ही समय हुआ था कि सदाशिव राव नारायण नामक व्यक्ति, जो गंगाधर राव का कोई दूर का सम्बन्धी था, उठ खड़ा हुआ और अपने को झाँसी की गद्दी का हकदार बतलाने लगा। वह कुछ सेना लेकर झाँसी को जीतने के लिये चला और शहर से तीन मील के फासले पर करेरा गाँव पर चढ़ाई की। उसने वहाँ से सरकारी थानेदार व तहसीलदार को मारकर भगा दिया और आस-पास के मनुष्यों को तंग करके कर वसूल करने लगा। उसने राजपुर के थानेदार के पास भी यह खबर भेजी कि सारे गाँव में यह ऐलान कर दो कि अब सदाशिव राव ही राजा है। जब थानेदार ने उसकी बात

न मानी तो उसने उसकी सारी जायदाद छीनकर नौकरी से अलग कर दिया।

जब इन घटनाओं की खबर रानी लक्ष्मीबाई को मिली तो उसने थोड़ी-सी सेना लेकर करेरा पर चढ़ाई कर दी। सदाशिव राव भागकर ग्वालियर के राज्य में चला गया और वहाँ से फिर तैयारी करके झाँसी की तरफ आया। इस बार गिरफ्तार करके उसे कैदखाने में बन्द कर दिया गया।

इसके बाद ओरछा के दीवान नत्थेखाँ ने २० हजार फौज लेकर झाँसी पर आक्रमण किया। उसकी ताकत को अधिक देखकर कितने ही सरदार डर गये और झाँसी का शहर और किला नत्थेखाँ के सुपुर्द करने की सलाह देने लगे। यह सुनकर रानी को बड़ा क्रोध आया और उसने कहा—

“बड़ी लज्जा की बात है कि आप मर्द होकर ऐसी बात मुख से निकालते हैं। मैं स्त्री होने पर भी अपने हक से पीछे न हटूँगी। दुनिया में एक दिन तो सबको ही मरना है। यदि हम अपने न्यायपूर्ण अधिकार के लिये युद्ध में वीरता दिखाकर मर जायें तो हमको परलोक में भी सम्माननीय स्थान प्राप्त होगा। मैं तो युद्ध से हर्गिज पीछे नहीं हट सकती।”

जब नत्थेखाँ की फौज झाँसी के किले के पास पहुँची तो उस पर तोपों से ऐसी गोलाबारी की गई कि वह सामने ठहर न सकी। तब उसने अपनी सेना को चार भागों में बाँटकर नगर के चारों दरवाजों पर हमला किया। यहाँ भी झाँसी की सेना ने बड़ी वीरता से उसका सामना किया। रानी स्वयं फाटकों पर घूमती हुई सिपाहियों का साहस बढ़ाती रहती थी। कई दिन बाद नत्थेखाँ का साहस टूट गया और वह हार मानकर अपने स्थान को वापस चला गया।

इस प्रकार थोड़े ही दिन में रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी योग्यता, वीरता और कर्मशीलता की छाप सब दरबारियों और आस-पास के बुन्देला शासकों पर लगा दी। उस कठिन समय में जबकि देश में भयंकर राजनीतिक भूचाल आया हुआ था और बड़े-बड़े राजभवन डगमगा रहे थे, झाँसी की रानी दृढ़तापूर्वक अपने राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखकर प्रजा को सुखी बनाने का प्रयत्न कर रही थी। उसकी आयु बहुत कम थी, राज्य संचालन का उसे कोई अनुभव न था, चारों तरफ नई-नई बाधाएँ उत्पन्न हो रही थीं, फिर भी उसके सुशासन की प्रशंसा झाँसी निवासी आज तक करते हैं। कारण यही था कि जहाँ अधिकांश शासक अपना ध्यान शान-शौकत और सुखोपभोग की तरफ लगाते हैं, लक्ष्मीबाई ने परोपकार

और कर्तव्य पालन को अपना धर्म समझ रखा था। अपने पति के स्वर्गवास और राज्य पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने पर जहाँ उनका पूरा समय पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्यों में व्यतीत होता था, वहाँ अब परिस्थिति के बदल जाने से वे एक श्रेष्ठ शासनकर्ता और चतुर राजनीतिज्ञ का पार्ट अदा कर रही थीं। पूजा-पाठ वे अब भी करती थीं और देव-मन्दिर में दर्शनों के लिये भी नियमपूर्वक जाती थीं, पर इस समय उनका मुख्य ध्येय राज्य की सुरक्षा और प्रजा को अपनी न्याय-परायणता द्वारा सन्तुष्ट रखना और सुखी बनाना था।

वास्तव में स्त्री हो या पुरुष उसकी श्रेष्ठता का आधार उसका उज्ज्वल चरित्र और सच्ची कर्तव्यनिष्ठा है। उस जमाने में मुसलमानी और अंग्रेजी शासन में पराधीन रहने से अधिकांश राजाओं का नैतिक स्तर गिर गया था और वे प्रजा की उन्नति और सुख-समृद्धि की अपेक्षा अपने वैभव और विलास की तरफ ही अधिक ध्यान देते थे। उस समय लखनऊ के वाजिदअली शाह जैसे शासक भी थे जिनका समस्त समय जनानखाने में ही व्यतीत होता था और सिवाय नाचने, गाने तथा तरह-तरह की रंगरेलियों के और कोई काम न था। ऐसे युग में यदि लक्ष्मीबाई ने एक प्रसिद्ध राज्य की अधिकारिणी बन जाने पर भी पूर्ण संयम और त्याग का जीवन व्यतीत किया और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को प्रजा पालन में लगा दिया, तो यह निश्चय ही बड़े गौरव की बात थी। यही कारण है कि जहाँ उस समय के बहुत बड़े नरेशों का कोई जिक्र भी नहीं करता, झाँसी की रानी की गुण-गाथा और वीरता की कथा इतिहास और लोकगीतों का महत्त्वपूर्ण विषय बनी हुई है।

भारतीय स्त्रियाँ, जो अपने को 'अबला' और 'असहाय' कहकर प्रायः कर्मठता और कठिनाइयों के जीवन से विलग रहती हैं, रानी लक्ष्मीबाई के उदाहरण से बहुमूल्य प्रेरणा ले सकती हैं, उस युग में एक पदस्थ नारी का आदर्श भी यही था कि संघर्ष के अवसर पर अपनी मनोवृत्तियों को संयत रखकर पति को कर्तव्य पालन के लिये प्रोत्साहित करे और किसी प्रकार की स्वार्थजनित निर्बलता प्रकट न करे, यद्यपि उस समय सती-प्रथा कानूनन बन्द कर दी गई थी, तो भी प्राचीन परम्परा की यह भावना अवश्य कुछ अंशों में शेष थी कि यदि कोई स्त्री पति का अन्त हो जाने पर स्वयं भी प्राणोत्सर्ग कर देती है, तो वह बड़े सम्मान की अधिकारिणी है। लक्ष्मीबाई ने अपने उदाहरण से सिद्ध किया कि पति के साथ जल मरने की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा और श्रेष्ठ आदर्श यह है कि स्त्री अपने पति के जीवन-कार्य को स्थिर रखे और आगे बढ़ावे। उन्होंने पति की मृत्यु के बाद उनके वंश और राज्य को कायम रखने की

पूरी चेष्टा ही नहीं की वरन् अवसर आने पर ऐसा महान कार्य कर दिखाया जिससे उसके पति गंगाधर राव और झाँसी का नाम भी भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्थायी रूप से अंकित हो गया।

झाँसी का युद्ध

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, झाँसी का शासन भार रानी लक्ष्मीबाई ने विशेष परिस्थितियों में ही सँभाला था और वह शान्ति स्थापना के बाद उसे अंग्रेज अधिकारियों के सुपुर्द करने को तैयार थी क्योंकि उसे अच्छी तरह ज्ञात था कि भारत का बड़े से बड़ा राजा भी युद्ध में अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध अधिक समय तक नहीं टिक सकता, पर उस समय के उत्तेजनापूर्ण और अविश्वास के वातावरण में उसकी सद्भावनायें कुछ भी काम नहीं आई और अंग्रेजों ने उसकी गिनती भी प्रधान विद्रोही नेताओं में कर ली। इसलिये जब आरम्भिक पराजय के पश्चात् अंग्रेज अधिकारियों के पैर कुछ सँभले और इंगलिस्तान से नई सेनायें आ जाने से उन्होंने विद्रोह के 'सरदारों' को एक-एक करके कुचलना आरम्भ किया तो सर ह्यूरोज और सर राबर्ट हैमिल्टन के नेतृत्व में एक सुदृढ़ सेना महु (इन्दौर) की छावनी से रवाना हुई और सीहोर, रोहतासगढ़, बरोदिया, सागर, सनोडा, गढ़ाकोटा, मदनपुर आदि स्थानों में विद्रोहियों को अधीन करती हुई १६ मार्च १८५८ को झाँसी से १४ मील के फासले पर चंचनपुर नामक स्थान में पहुँचकर उसने अपना कैम्प लगाया।

२० मार्च को प्रातःकाल ही सरह्यूरोज अपनी सेना सहित झाँसी के समीप पहुँच गये। उनके सिपाहियों की संख्या तो कम थी, पर वे नये हथियारों से सुसज्जित, अनुभवी और अनुशासित थे। इधर रानी ने भी मुकाबला करने की जोरदार तैयारियाँ की थीं। झाँसी का किला एक छोटी पहाड़ी पर बना हुआ बहुत मजबूत था, उसकी पत्थर और चूने से बनी दीवारों की मोटाई १६ से २० फुट तक है। बीच-बीच में तोपों के रखने के लिये बुर्ज बने हैं। 'गरगज' नाम का बुर्ज सबसे बड़ा, २० गज लम्बा और चौड़ा तथा साठ गज ऊँचा था। उसके चारों तरफ तोपें लगी हुई थीं जिनमें 'कड़क बिजली', 'घनगर्ज', 'भवानी शंकर', 'नालदार' आदि नाम वाली कई तोपें बहुत प्रसिद्ध थीं। शहर के चारों ओर भी एक मजबूत परकोटा था जिसमें ५ बड़े फाटक थे और स्थान-स्थान पर बुर्ज भी थे जिन पर तोपें रखी थीं।

जिस समय रानी और अंग्रेजों का युद्ध आरम्भ हुआ उस किले और नगर में कुल मिलाकर ११ हजार सेना थी। इसमें अंग्रेजी फौजों के बागी सिपाही, नये भर्ती किये

१.३७ मरकर भी अमर हो गये जो

हुए जवान और पुराने नागा-सैनिक सभी सम्मिलित थे । रानी ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए झाँसी के आस-पास के इलाके में न तो अन्न का एक दाना और न एक पत्ता रहने दिया था, जिससे आक्रमणकारी सेना को सहायता मिल सके, पर ग्वालियर और ओरछा के राजाओं ने अंग्रेजी सेना के लिये रसद की पूरी व्यवस्था कर दी ।

झाँसी का युद्ध २३ मार्च से आरम्भ हुआ और १३ दिन तक रानी अंग्रेजी सेना का डटकर मुकाबला करती रही । जहाँ कालपी, कानपुर और ग्वालियर के प्रसिद्ध किले और विद्रोहियों के केन्द्र अंग्रेजी सेना ने पाँच-पाँच, सात-सात दिन में जीत लिये वहाँ झाँसी में अकेली रानी का इतने अधिक समय तक डटे रहना कम महत्व की बात नहीं थी । कारण यही था कि वह प्राणों की ममता त्यागकर निर्भयता से युद्ध कर रही थी । वह प्रत्येक महत्वपूर्ण स्थान पर स्वयं पहुँच कर युद्ध का संचालन करती थी और सिपाहियों को शाबासी और प्रेरणा देकर उनके उत्साह को बढ़ाती रहती थी । जब अंग्रेजी तोपों की गोलाबारी से किले की दीवार एक स्थान पर टूट गई तो रानी के नेतृत्व में स्त्रियों और बच्चों तक ने घंटों तक परिश्रम करके उसकी मरम्मत कर दी । ये स्त्री बच्चे ही युद्ध-स्थान पर तैनात सिपाहियों को भोजन सामग्री पहुँचाते थे ।

रानी ने अपनी सहायता के लिये नाना साहब के सेनाध्यक्ष तात्याटोपे को बुलाया । वह एक बड़ी सेना और २८ तोपों को लेकर लड़ने भी आये, पर अंग्रेजी तोपों और बन्दूकों की अग्निवर्षा के सामने उनकी सेना के पैर कुछ घंटों में ही उखड़ गये, और वे अपने केन्द्र स्थान कालपी को चले गये । झाँसी वाले फिर भी अंग्रेजों का मुकाबला करते रहे । तारीख १ अप्रैल से सर ह्यरोज ने अपना हमला तेज किया और दूसरी तारीख को किले की दीवार कई जगह से टूट गई । तब ३ तारीख को अंग्रेजी सेना ने किले पर अन्तिम धावा बोला और टूटी हुई दीवार पर सीढ़ियाँ लगाकर चढ़ने का प्रयत्न किया । रानी की सेना ने भी प्राणपण से इनका प्रतिरोध किया और इस अवसर पर जैसा विकट संग्राम हुआ वह अपने ढंग का अद्भुत संग्राम था । उसका वर्णन करते हुए अंग्रेजी सेना के एक अफसर डॉ. लो ने लिखा है—

“शत्रुओं की अग्नि की मार अत्यन्त प्रबल हो गई । बन्दूकों की गड़गड़ाहट, तोपों की गरज, अग्निबाणों की सरसराहट और भड़क, बड़े-बड़े पत्थरों के गिरने की धमक, शैतानी-बच्चों की खड़खड़ाहट तथा बड़े भारी वृक्षों के नीचे लुढ़कने की ध्वनि से ऐसी प्रलय काण्ड की-सी अवस्था उत्पन्न हो गई कि एक बार अंग्रेजी सेना के पैर उखड़ गये और वे

पत्थरों के पीछे जा छिपे । कुछ देर बाद सँभलकर वे फिर आगे बढ़े और प्राणों की ममता त्यागकर सीढ़ियों द्वारा किले के ऊपर पहुँचने का प्रयत्न करने लगे । इनमें से बहुतों के प्राण चले गये । कुछ गोली के शिकार हुए, कुछ ढकेल दिये गये और कुछ की गर्दन उड़ा दी गई । दोनों ओर से अनुपम वीरता, बलिदान और साहस के दृष्टान्त देखने में आये । अन्त में अंग्रेजी झण्डा किले पर लगा दिया गया । तब अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी ने नगर स्थित राजमहल पर धावा बोला । सड़कों पर एक-एक कदम पर युद्ध हुआ और अंग्रेजी सिपाहियों को जलते हुए मकानों के बीच से गुजरना पड़ा । महल के द्वार, चौक और प्रत्येक कमरे में उनका डटकर मुकाबला किया गया । जब तक महल के सब रक्षक न मारे गये तब तक अंग्रेज महल पर कब्जा न कर सके । फिर अस्तबल में भी भयंकर संग्राम हुआ जिसमें रानी के ५० अंगरक्षकों ने वीरगति पाई ।”

इस समय रानी की वीरता को देखकर समस्त झाँसी अंग्रेजी सेना की विरोधी बनी थी और जनता के हजारों पुरुष, स्त्री, बच्चे भी किसी न किसी तरह इस संघर्ष में रानी का साथ दे रहे थे पर जब ३ अप्रैल को किले और महल दोनों पर शत्रु का अधिकार हो गया तो सरदारों और मन्त्रियों की सलाह से यह तय किया गया कि अब कालपी पहुँचकर अन्य विद्रोहियों के साथ मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला किया जाये । ४ अप्रैल को दो सौ सिपाहियों को साथ लेकर रानी उत्तरी दरवाजे से बाहर निकली और कालपी की तरफ चल दी । इस तरफ अंग्रेज ठीक तरह नाकेबन्दी नहीं कर पाये थे । रानी ने इस समय मर्दानी पोशाक पहन रखी थी । शरीर पर अंगरखा, पैरों में पजामा, सिर पर साफा, कमर में तलवार धारण कर अपने सफेद घोड़े पर सवार वह एक नवयुवक की तरह ही जान पड़ती थी । अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव को उसने अपनी पीठ पर पटके से बाँध रखा था ।

जब अंग्रेज अधिकारियों को रानी के बाहर निकल जाने का पता लगा तो उन्होंने कुछ सवार कप्तान बोकरी की अध्यक्षता में उसे पकड़ने को भेजे । झाँसी से २१ मील की दूरी पर मौँडेर के पास बोकरी रानी के पास जा पहुँचा । रानी ने अपना घोड़ा लौटाकर उससे टक्कर ली और धराशायी कर दिया । झाँसी से कालपी की दूरी १०२ मील है । इसे रानी ने २४ घण्टे में पार कर लिया । उस समय नाना साहब के भतीजे राव साहब, तात्याटोपे, बाँदा के नबाव आदि वहीं पर एकत्रित थे । वे सब रानी को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और सब मिलकर अंग्रेजों से लड़ने की योजना बनाने लगे । वानपुर, शाहगढ़, जिगनी आदि

के राजा भी अपनी सेनायें लेकर कालपी आ गये और उस समय वह विद्रोहियों का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया।

झाँसी की लूट

जब रानी कालपी चली गई तो अन्य सैनिक भी, जो शेष बचे थे वहाँ से बाहर निकलकर विभिन्न दिशाओं में चल दिये। इस प्रकार झाँसी नगर को सर्वथा अरक्षित पाकर अंग्रेज सैनिकों ने लूट-मार आरम्भ कर दी। जो नागरिक दिखाई पड़ जाता उसे मार दिया जाता और घरों में आग लगा दी जाती। महल में से तमाम कीमती वस्तुयें और आभूषण आदि लूट लिये गये। राजकीय पुस्तकालय को भी जला दिया गया। इस पुस्तकालय में बहुत से हस्तलिखित दुर्लभ ग्रन्थ दूर-दूर से इकट्ठे किये गये थे, उन सबको अविवेकी सैनिकों ने कुछ ही घण्टों में भस्म कर दिया।

लूट के बहुत से माल को छावनी में लाकर प्रतिदिन नीलाम किया जाता था इसको लेने के लिये अंग्रेजों के खुशामदी राजा और रईसों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। म्बालियर वालों ने भी बहुत-सा सामान खरीदा। तीन दिन तक गोरे सैनिकों द्वारा लूट कराने के पश्चात् अंग्रेजी सेना में काम करने वाले भारतीय सिपाहियों को लूटने का आदेश दे दिया गया। उन्होंने भी प्रजा के घरों को मनमाना लूटा। सात दिन तक इस तरह लूटमार होने के पश्चात् फौज को नगर से हटा लिया गया। इस नर-संहार में हजारों निर्दोष नागरिक जान से मारे गये और घायल हुए।

कालपी पर चढ़ाई और भयंकर युद्ध

कालपी में विद्रोहियों के एकत्रित होने के समाचार को जानकर सर ह्यरोज भी उस पर आक्रमण की तैयारी करने लगे। उन्होंने अपनी सेना का पुनर्गठन किया, लड़ाई का नया सामान मँगाया और १५ मई को कालपी से ६ मील के फासले पर गुलौली गाँव में जा पहुँचे। जमुना के ऊबड़-खाबड़ कगारों पर बना यह किला प्राकृतिक रूप से ही बहुत सुरक्षित था फिर नगर के बाहर चौरासी गुम्बद नामक किलेबन्दी और सुदृढ़ परकोटे ने उसको और भी मजबूत बना रखा था। किले के भीतर सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों तथा गोला-बारूद का विशाल भण्डार था और यहीं से आस-पास के समस्त विद्रोही केन्द्रों को युद्ध सामग्री भेजी जाती थी। उसके भीतर तोप, बन्दूक ढालने का कारखाना भी था और उनकी मरम्मत के सब औजार इकट्ठे किये गये थे। बाघ-सामग्री का एक बड़ा गोदाम भी यहीं पर था।

कालपी के इस महत्त्व को अंग्रेज अधिकारी और विद्रोही नेता—दोनों ही अच्छी तरह जानते थे। इसलिये राव साहब ने इसकी रक्षा के लिये चारों तरफ विभिन्न सेना दलों को नियुक्त किया था एक ओर की सेना के अध्यक्ष बाँदा के नबाब थे, दूसरी ओर बरेली से आई हुई रहेलों की पलटन थी, तीसरी ओर 'बंगाल नेटिव इन्फैण्ट्री' की विद्रोही सेना को रखा गया था। रानी लक्ष्मीबाई के साथ लाल वर्दी वाले २५० घुड़सवार स्वतन्त्र रूप से उत्तर की तरफ रखे गये थे। तारीख १५ मई को विद्रोहियों के एक दल से अंग्रेजी सेना की मुठभेड़ गुलौली के पास ही हुई। आरम्भ में विद्रोही-सेना को कुछ सफलता प्राप्त हुई पर बाद में जब अंग्रेजी सेना की अग्नि वर्षा ज्यादा तेज हुई तो वे पीछे हट गये। लक्ष्मीबाई को जब अपनी फौज की पराजय का हाल मालूम हुआ तो वह अपनी लाल वर्दी—सेना के साथ युद्धभूमि की तरफ झपटीं और अंग्रेजी फौज पर बंगाल की तरफ से हमला किया। उसकी मार से अंग्रेजी सेना में हलचल मच गई। रानी स्वयं घोड़े की लगाम दाँतों के बीच दबाये दोनों हाथों से तलवार चलाकर शत्रुओं का सफाया कर रही थी। उसकी अभूतपूर्व वीरता को देखकर पीछे हटने वाली विद्रोही-सेना को अपनी निर्बलता पर लज्जा आई और वे दूने जोश से अंग्रेजी सेना पर टूट पड़े। अंग्रेजी सेना को संकट में देखकर सर ह्यरोज और ब्रिगेडियर स्टुअर्ट ने ऊँट सवार फौज के एक दल को साथ लेकर कालपी की फौज पर भयंकर आक्रमण किया। उनकी गोली वर्षा को विद्रोही-सेना सहन न कर सकी और पीछे हटकर किले के भीतर चली गई। अब दोनों अंग्रेजी सेनापतियों ने एक-एक सेनादल के साथ दो तरफ से कालपी पर आक्रमण किया। विद्रोही सेना ने चार-पाँच दिन मुकाबला किया भी पर उनका साहस प्रथम बार ही टूट चुका था। अब कालपी में ठहरना ठीक न समझ कर राव साहब और लक्ष्मीबाई कुछ लोगों को साथ लेकर वहाँ से निकल गये और कुछ दूर जाकर गोपालपुर में ठहरे। दो चार दिन बाद तात्या टोपे भी जो कालपी से अपने पिता को देखने चले गये थे, वहाँ आ पहुँचे और सब मिलकर आगामी कार्यक्रम पर विचार करने लगे।

विद्रोही नेताओं की भूले

यह एक आश्चर्य की ही बात थी कि झाँसी में इधर-उधर के सिपाहियों को इकट्ठा करके रानी लक्ष्मीबाई सर ह्यरोज की सेना का १३ दिन तक अच्छी तरह मुकाबला करती रही, पर कालपी में उससे कहीं अधिक सुशिक्षित सेनायें और कई राजाओं तथा सरदारों के होने पर भी

१.३६ मरकर भी अमर हो गये जो

लड़ाई का फैसला एक दिन में ही हो गया और किले के भीतर भी विद्रोही सेना एक सप्ताह से अधिक न टिक सकी। इसका असली कारण था नेतृत्व का अभाव और अनुभव की कमी। सच पूछा जाये तो कितनी ही विद्रोही-टुकड़ियाँ सेना नहीं थी वरन् केवल भीड़ थी। उनके संचालनकर्ता राजाओं और नबावों ने कभी युद्ध देखा भी न था। सब आराम की गोद में पले हुए और महलों में नर्म गलीचों पर पैर रखकर चलने वाले थे। उधर अंग्रेजी सेनापति तथा अन्य अफसर पक्के सिपाही और युद्ध-विद्या के पूरे जानकार थे। उनको अनेक रणक्षेत्रों का अनुभव था और वे सेना को पूर्ण नियंत्रण में रखना जानते थे। यही कारण है कि एक हजार सेना लेकर बीस हजार विद्रोहियों का मुकाबला करने को तैयार हो जाते थे और फौजी दाव-पेचों के बल पर सफल हो जाते थे।

रानी लक्ष्मीबाई स्त्री होते हुए भी इन बातों को बहुत कुछ समझती थी। उसने कालपी आते ही राव साहब से कहा था कि—“बिना सुव्यवस्था और ठीक इन्तजाम के हमारी जीत कभी नहीं हो सकती। प्रबन्ध की उत्तमता से ही झाँसी में अंग्रेजी सेना की जीत हुई। उसके अफसर अपने काम में बड़े चतुर थे। उनके सिपाही युद्ध के मैदान में हमेशा जी खोलकर लड़ते थे। उन सब पर एक ही अफसर रहता था और उसी की आज्ञा से सब काम होता था। अतः जब तक आप अपनी सेना का इन्तजाम ठीक न करेंगे तब तक अंग्रेजों से कभी नहीं जीत सकते।” राव साहब ने रानी की सलाह की सराहना की और सेना को कई भागों में बाँटकर अलग-अलग उनकी ड्यूटी नियत की, पर वे स्वयं इस सम्बन्ध में अनुभवहीन थे और फिर भी राजा रईसों के लड़कों की तरह अपनी योग्यता को बहुत अधिक समझते थे। इसी झूठे अहंकार के कारण वे एकाध जगह थोड़ी सफलता मिलते ही फूल जाते थे और पेशवाई के सपने देखने लगते थे। उन्होंने कई बार समय और साधन मिल जाने पर भी उनका प्रबन्ध और उपयोग न किया वरन् उस समय और साधनों को ऊपरी शान-शौकत दिखाने के लिये जलसे, उत्सव आदि में नष्ट कर दिया। इसीलिये उनको अधिकांश स्थानों पर असफलता का मुँह देखना पड़ा और एक विशेष, परिस्थितिवाश देश में उत्साह और स्वतन्त्रता की जो लहर उत्पन्न हुई थी वह बहुत थोड़ा फल दिखाकर ही समाप्त हो गई।

अब इस मौके पर भी किसी नेता को यह नहीं सूझ रहा था कि आगे कौन-सा कदम उठाने से हम अपनी स्थिति को मजबूत कर सकेंगे और एक बार फिर शत्रु का सामना

करने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। तब रानी लक्ष्मीबाई ने सम्मति दी कि “अब कालपी या झाँसी पर अधिकार कर सकने की बात तो स्वप्नवत् हो गई। फिर भी हमको किसी न किसी किले का आश्रय लेना ही पड़ेगा, इसके बिना युद्ध का संचालन कभी अच्छी तरह नहीं हो सकता। इसलिये सब बातों पर सोच-विचार कर मैं ग्वालियर के किले को हस्तगत करके अंग्रेजों का मुकाबला करना ठीक समझती हूँ। वह सबसे अधिक मजबूत किला है। वहाँ की फौज दिल से विद्रोही हो चुकी है, जैसे ही हम पहुँचेंगे वह ग्वालियर नरेश का पक्ष छोड़कर हमसे मिल जायेगी।”

रानी ही यह सलाह सबको पसन्द आई और शीघ्र ही इसे कार्यान्वित करने के लिये सेना और युद्ध सामग्री एकत्रित करके विद्रोही १ जून को ग्वालियर के निकट मोरार तक जा पहुँचे। अब वहाँ के महाराज जियाजीराव तथा उनके दीवान दिनकर राव बड़े संकट में पड़े। अभी तक वे बड़ी चतुराई से विद्रोहियों के दबाव को टालते रहे थे। जियाजीराव तो एकाध बार विद्रोहियों से मिलने को तैयार भी हुए थे, पर दिनकर राव ने ही उनको सब कुछ ऊँचा-नीचा समझाकर रोक रखा था। अब विद्रोही-सेना के आक्रमण कर देने से उनको सामने आना पड़ा और सात-आठ हजार सेना लेकर मैदान में आये। ग्वालियर का तोपखाना प्रसिद्ध फ्रांसीसी सेनाध्यक्षों की देख-रेख में बनाया और संगठित किया गया था। उसकी शक्ति अब भी पर्याप्त थी। उसकी मार के सामने आरम्भ में राव साहब की सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देखकर रानी लक्ष्मीबाई ने एक सेना-दल को लेकर ग्वालियर की सेना पर घावा किया और उसकी हिम्मत को तोड़ दिया। बहुत से सैनिक जो पहले ही ग्वालियर नरेश की अंग्रेजों की तरफ़दारी की नीति से नाराज थे उनका साथ छोड़ कर विद्रोहियों से आ मिले। यह देखकर जियाजीराव और दिनकर राव भाग खड़े हुए और आगरा पहुँच कर अंग्रेजी सरकार की शरण ली।

अब राव साहब लक्ष्मीबाई, तात्याटोपे आदि का ग्वालियर पर सहज में अधिकार हो गया। वहाँ का खजाना और सैन्य-सामग्री विद्रोही-दल को मिल गई। ३ जून को राव साहब ने फूल बाग में बड़ी शान से दरबार किया। जिसमें सब सरदारों ने उनको पेशवा स्वीकार करके ताजीम की। इस अवसर पर उन्होंने खजाने का बहुत-सा धन लोगों को बाँटने में बर्बाद भी किया, पर इस अवसर पर भी उन्होंने पहले की गलती को दुहराया। लक्ष्मीबाई ने उनको बहुत समझाया कि अब जबकि ग्वालियर राज्य के

साधन प्राप्त हो गये हैं तो सब काम छोड़कर उन सबका उपयोग अपनी रक्षा व्यवस्था को मजबूत बनाने में करना चाहिये क्योंकि अंग्रेज अधिकारी चुपचाप नहीं बैठे रहेंगे, वे शीघ्र ही हम पर हमला करेंगे और हम उनका मुकाबला तभी कर सकेंगे जब हर तरफ से तैयार रहें। पर राव साहब इस समय विजयोत्सव में मगन हो रहे थे। इस सलाह को सुनकर भी उन्होंने उस पर कुछ अमल नहीं किया।

१६ जून को ही सर ह्यूरोज की सेना मोरार के निकट आ पहुँची। एक विद्रोही सैन्य दल उसका मुकाबला करने को भेजा गया, पर वह दो ही घण्टे में परास्त हो गया। ग्वालियर की विद्रोही सेना के कुछ अफसर रंग बदला देखकर फिर अंग्रेजों से जा मिले। यह दशा देखकर रानी जीवन-मरण का ध्यान छोड़कर रणक्षेत्र में कूद पड़ी। १७ जून को ग्वालियर से ५ मील के फासले पर 'कोटा की सराय' नामक स्थान पर भीषण-संग्राम हुआ। रानी ने अपनी सेना की ब्यूह-रचना बड़ी चतुरता से की थी और वह मर्दाने वेश में घोड़े पर सवार होकर स्वयं ही उसका नेतृत्व कर रही थी।

१७ जून की सुबह ही बिगुल बजा और घमासान युद्ध होने लगा। रानी की अलौकिक वीरता और अस्त्र-संचालन की कला को देखकर सब वाह-वाह करने लगे पर उसके सब साथी अंग्रेजी सेना की गोली वर्षा से घायल होते या मरते जाते थे। रानी का घोड़ा भी कई गोलियाँ लगने से भाग खड़ा हुआ। भागता हुआ वह एक सूखे नाले के किनारे जा पहुँचा और उसे फौंदने की कोशिश करते हुए पैर फिसल जाने से गिर गया। एक सवार ने जो पीछा कर रहा था शीघ्रतापूर्वक पहुँचकर रानी पर तलवार का वार किया जिससे चेहरे का आधा भाग कट गया। फिर भी उसने साहस न छोड़ा और पीछे फिरकर ऐसा हाथ मारा कि वह भी उसी जगह गिरकर मर गया।

रानी के घावों से बहुत खून बह रहा था और उसका शरीर बराबर शिथिल होता जाता था। यह देखकर उनका एक सरदार उनको उठाकर पास ही बनी एक झोंपड़ी में ले गया। उसमें बाबा गंगादास नाम के साधु रहते थे। रानी को प्यास लगी तो बाबाजी ने उन्हें गंगाजल पीने को दिया। कुछ देर बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये। अगले दिन उनके शव को घास के एक बड़े ढेर में रखकर आग लगा दी गई जिससे वह भस्मसात हो गया। अंग्रेज अधिकारियों को उनके मरने की खबर कई दिन बाद मालूम हुई, जिससे वे

मन मसोस कर रह गये अन्यथा इस वीरांगना ने उनको जिस प्रकार नाकों चने चबवाये थे और अकेले ही न मालूम उनके कितने वीरों को मौत के घाट उतारा था, उससे वे उसके ऊपर बड़ा खार खाये बैठे थे। यदि वह जीवित या मृतक किसी प्रकार उनके हाथ पड़ जाती तो वे उसकी अकथनीय दुर्दशा करते। पर वह सच्ची वीर और अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने वाली थी। उसने शत्रुओं का सामना होने पर कभी अपने प्राणों का मोह नहीं किया, इसीलिये वह अन्त तक उनके चंगुल में न आ सकी।

संस्कृत-सुभाषित का एक श्लोक है कि 'सिंह चाहे दो-चार वर्ष ही जीवित रहे, पर उसके शौर्य की प्रत्येक प्रशंसा करता है, पर कौआ सौ वर्ष जीने पर भी सिवाय झूठन के और किसी श्रेष्ठ वस्तु का अधिकारी नहीं होता।' यह उक्ति रानी लक्ष्मीबाई के जीवन पर पूर्णतः लागू होती है। यद्यपि वह केवल २४ वर्ष जीवित रही और इसमें भी जनता के सामने उसकी कार्यवाही केवल एक वर्ष के शासनकाल में प्रकट हुई पर इसी बीच में उसने ऐसे काम कर दिखाये जिनकी याद आज १३८ वर्ष बीत जाने पर भी ताजा बनी है और लाखों स्त्री-पुरुषों को प्रेरणा दे रही है।

उसकी प्रशंसा केवल इस बात के लिये नहीं है कि वह शास्त्र-संचालन में बड़ी निपुण थी अथवा अपूर्व साहसी थी। उससे बढ़कर तलवार चलाने वाले, युद्ध क्षेत्र के बीच अकेले लड़ने वाले हजारों क्षत्रिय और राजपूत पिछले दो-चार सौ वर्ष में हो चुके हैं। उसकी विशेष प्रशंसा इस बात में है कि उसने आरम्भ से ही अपने सामने आने वाले प्रत्येक कर्तव्य को निःस्वार्थ भाव से पूरा किया और अन्त में मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य को पालन करने में स्वेच्छापूर्वक प्राणोत्सर्ग कर दिया। उनको अपनी अन्तिम विजय की तो आशा थी नहीं और इधर विद्रोह के प्रमुख संचालकों की योग्यता और महत्त्वाकांक्षायें भी उनको इस महान अभियान के लिये अपर्याप्त जान पड़ीं, इसलिये उन्होंने सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही समझा कि इस विकट अवसर पर ही अपना बलिदान करके तत्कालीन और भावी देशवासियों के सम्मुख एक प्रेरणाप्रद उदाहरण उपस्थित कर दें। एक ऐसे जीवन की सराहना और कामना कौन नहीं करेगा जिसने जीवित और मृत दोनों अवस्थाओं में मित्र, शत्रु और उदासीन सबकी प्रशंसा पाई हो और अन्तिम क्षण तक कर्तव्य-पालन पर आरुढ़ रहकर पूर्ण आत्म-संतोष भी प्राप्त किया हो।

तत्त्व ज्ञान की संदेश वाहिका : श्रीमती ऐनीबेसेण्ट

मानव-समाज का निर्माण-नारी के संयोग से हुआ है। समाज के स्थायित्व और संचालन के लिये जितनी आवश्यकता नर की है उससे किसी प्रकार कम नारी की नहीं है। केवल सन्तानोत्पत्ति और उसका पालन करने की दृष्टि से ही स्त्री का दर्जा महत्त्वपूर्ण नहीं, पर वास्तव में प्राचीन समय से उसने समाज के विकास और उसके संरक्षण में बहुत अधिक सहयोग दिया है। मानव-जाति के आदिकालीन इतिहास में एक समय तो ऐसा था जब पुरुष केवल शिकार ही करता रहता था और घर की समस्त देखभाल, व्यवस्था, रक्षा, पालन-पोषण एकमात्र स्त्री के ऊपर ही निर्भर था।

पर इसके बाद जब निजी सम्पत्ति और जायदाद की प्रणाली बढ़ने लगी और उसके संरक्षण के लिये शक्ति के प्रयोग और संघर्ष की आवश्यकता बढ़ गई तो घर और समाज की बागडोर विशेष रूप से पुरुषों के हाथ में आने लग गई। स्त्री स्वभाव से निर्माणकर्त्री थी, लड़ने-भिड़ने का संहारक कृत्य उसकी प्रकृति के अनुकूल न था। इससे पुरुष के अधिकार और उसका नियंत्रण दिन पर दिन बढ़ने लगा और कुछ काल पश्चात् ऐसी परिस्थिति आ गई जब स्त्री को एक प्रकार से पुरुष की सम्पत्ति बना दिया गया। हमारे देश के बड़े पुरुष खासकर राजा-महाराजा अनेकों रानियाँ, दासियाँ रखने लगे। इसका परिणाम समाज के लिये हानिकारक सिद्ध हुआ। स्त्री बौद्धिक और व्यावहारिक दृष्टि से हीन मानी जाने लगी और घर की चहार-दीवारी में आबद्ध हो जाने से उसका सांसारिक ज्ञान घटने लगा। इस प्रकार पुरुषों ने आधी मानव जाति की शक्ति और उपयोगिता को बहुत कुछ नष्ट कर डाला। उच्च श्रेणी के समाज में तो स्त्री की स्थिति उपयोगिता के बजाय केवल शोभा की रह गई और वह एक भार-स्वरूप बन गई जिसकी हमेशा रक्षा करते रहना आवश्यक हो गया।

यह स्थिति मानव-जाति की प्रगति की दृष्टि से अन्त में हानिकारक ही सिद्ध हुई। इससे लड़कों स्त्रियों की उपार्जन-क्षमता नष्ट हो जाने के साथ ही सन्तान के लालन-पालन में भी दुष्परिणाम दिखलाई पड़ने लगे। घर में आबद्ध हो जाने के कारण स्त्री में जो संकीर्णता की भावना उत्पन्न हो गई थी, वह उसकी सन्तान को भी प्रभावित करने लगी और मनुष्यों में सामूहिक हित और सामाजिक एकता के बजाय व्यक्तिगत लाभ और पार्थक्य की वृत्तियाँ पनपने लगीं। इससे समाज, देश, राष्ट्र, संसार

अनगिनत टुकड़ों में बँट गया और उनमें सहयोग के बजाय संघर्ष की प्रवृत्ति ने उचित से अधिक स्थान पा लिया।

अब पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से जब विचारकों और समाज हितैषियों ने इस अवस्था की हानियों को अनुभव किया तो उन्होंने नारी-स्वाधीनता की आवाज उठाई, इससे स्त्रियों में कुछ जागृति के लक्षण प्रकट होने लगे, और अनेक महिलायें आगे बढ़कर समाज, देश, राष्ट्र सम्बन्धी मामलों में भाग लेने लगीं, उनमें से अनेक विद्या, बुद्धि, कर्तव्य, शक्ति की दृष्टि से उच्च स्थान पर पहुँच गईं और उन्होंने मानव-समाज को मार्गदर्शन कराने में प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया। श्रीमती ऐनीबेसेण्ट की गणना ऐसी ही महिमामयी नारियों में की जाती है।

श्रीमती ऐनीबेसेण्ट की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, संकीर्णता की भावना बहुत काल से नारी-जाति की प्रधान वृत्ति हो गई है वे उससे सर्वथा पृथक् थीं और इस दृष्टि से उनका उदाहरण नारी-समाज के लिये बहुत बड़ा प्रेरक है। वे इंग्लैण्ड में पैदा हुईं, पर उन्होंने भारतवर्ष को अपना घर बना लिया और उनका कार्य-क्षेत्र संसार के दूर-दूर के देशों तक फैला हुआ था। इसी प्रकार जन्म से वे ईसाई थीं, आरम्भ में उनको उस धर्म की शिक्षा भी दी गई, पर आगे चल कर वे हिन्दू-धर्म के नियमों का पालन करने लग गईं। अपने उद्योग से ही वे संसार के सब धर्मों की ज्ञाता बन गईं और उन्होंने एक ऐसे सार्वभौम धार्मिक-समाज का संचालन किया जिसने सभी मजहबों और देशों के व्यक्तियों में एकता और प्रेम भावना उत्पन्न करने में बड़ा काम किया।

श्रीमती बेसेण्ट का जन्म सन् १८४७ में इंग्लैण्ड के एक मध्यम श्रेणी के गृहस्थ घर में हुआ। उनके पिता गणित शास्त्र के विद्वान थे और डॉक्टरों में भी उनको बड़ी रुचि थी। उनकी माता भी एक प्रसिद्ध वंश में से थीं जिससे उनको अपने परिवार के सम्मान का सदा ध्यान रहता था। वे आगे चलकर अनेक प्रकार की विपत्तियों में भी इसीलिये यथासम्भव स्वावलम्बिनी बनी रहीं और श्रीमती बेसेण्ट ने भी उनसे स्वावलम्बन का जो पाठ सीखा उसके सहारे बिना किसी बड़े साधन के वे अपने ही उद्योग से इतना आगे बढ़ सकीं कि संसार भर में एक सम्माननीय धार्मिक राजनीतिक नेता के रूप में उन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली।

जब श्रीमती बेसेण्ट पाँच वर्ष की हुई तो इनके पिता का देहान्त हो गया। इससे इनकी माता के ऊपर बहुत बड़ा भार आ पड़ा। घर में कोई बड़ी सम्पत्ति अथवा जायदाद न थी और वे अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा दिलाकर सभ्य समाज के योग्य बनाना चाहती थीं। इसलिये वे 'हैरो' नामक स्थान में जाकर रहने लगीं जो छोटा होने से कम खर्च का था, पर जहाँ एक ऐसा स्कूल था जिसका नाम शिक्षा-जगत में दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। यहाँ उनको एक ऐसा व्यक्ति मिल गया जिसने इन्हें अपने लड़के की देखभाल और शिक्षा की व्यवस्था करने को नियुक्त कर दिया। इस प्रकार उसके लड़के के साथ इनके बच्चों की शिक्षा भी होने लगी। इसके पश्चात् हैरो स्कूल के हेडमास्टर डॉ. बोधम और उनकी पत्नी से इनका परिचय हो गया और उनकी सहायता से उनको एक ऐसे मकान में रहने को स्थान मिल गया जिसमें कुछ लड़के रहते थे। बेसेण्ट की माता उस 'होस्टल' की व्यवस्थापिका बना दी गई। उसी मकान में एक अध्यापक भी रहने लग गये। इस तरह उनको जीवन निर्वाह का एक कार्य मिल गया और बच्चों की शिक्षा भी अधिक नियमित रूप से होने लगी।

माता-पिता का सन्तान के प्रति सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि वे उनको शिक्षित और कर्मठ बना दें। यदि बच्चों में ये गुण आ गये तो आगे चलकर वे अपना रास्ता अपने आप बना लेंगे, लेकिन अभी तक हमारे देश की मातायें इस तरफ बहुत कम ध्यान देती हैं। वे स्वयं अशिक्षित होती हैं और इसलिये अपनी सन्तान की शिक्षा को भी बहुत कम महत्त्व देती हैं। वे बचपन में सन्तान को लाड़-दुलार करना और जहाँ तक बन पड़े उनके खाने-पहिनने की अच्छी व्यवस्था करना ही अपना कर्तव्य समझती हैं पर इस प्रकार के व्यवहार से बच्चों का अहित ही होता है। उनको आराम से, फैशन से रहने की आदत पड़ जाती है और परिश्रम तथा काम से वे जी चुराने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनको आगामी जीवन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं और वे समाज का हित करने के बजाय उसमें प्रायः विकृतियाँ उत्पन्न करने के ही निमित्त बन जाते हैं।

शिक्षा और देश भ्रमण

इस समय संयोग से कुमारी मेरियट नाम की एक धनी वृद्ध महिला हैरो में आई और ऐनीबेसेण्ट की माता का उनसे परिचय हो गया। कुमारी मेरियट ने आजन्म विवाह नहीं किया था और अपना समस्त जीवन अपने परिचितों, कुटुम्बियों, दीन-दुःखियों की सहायता में ही लगाया था। उन्होंने जब ऐनीबेसेण्ट को देखा तो वे उसकी तरफ आकर्षित

हो गई और उनकी माता से कहा कि—“इस लड़की को मेरे साथ रख दो जिससे इसकी शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था हो सके।” पहले तो माता को अपनी पुत्री का वियोग कठिन जान पड़ा पर उन्होंने उसके भविष्य पर विचार किया तो वे राजी हो गईं।

आरम्भिक जीवन में ऐनी को धार्मिक शिक्षा दी गई और 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और 'पैराडाइज लास्ट' जैसी पुस्तकें पढ़ने से उनमें धार्मिक कार्यों के लिये बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया। परिवार की धार्मिक सभा में सबको अलग-अलग खड़े होकर प्रभु ईसा की प्रार्थना करनी पड़ती थी। पाँच वर्ष की ऐनी को जब कहा जाता तो पहले तो उनको भय लगता, पर जब मुँह खुल जाता तो ऐसे मधुर ढंग से बोलती कि सभी सराहना करने लग जाते। इस प्रकार उसी समय से इसमें भाषणकला का गुण विकसित हो गया तथा जिसके बल से आगे चलकर उन्होंने जीवन में बहुत बड़ी सफलता पाई और संसार भर में लाखों अनुयायी बना लिये।

कुमारी मेरियट स्वयं बड़ी समझदार और परोपकारी महिला थीं, अगर कोई भूखा मरीब कतुख उनके पास आता तो वे उसे पैसा न देकर स्वयं भोजन करातीं। यदि वह स्वस्थ और कार्य करने लायक होता तो उसके लिये स्वयं बीड़-धूप करके कोई रोजगार तलाश कर देती थीं, उनके इन गुणों का प्रभाव ऐनी तथा अन्य लड़कियों पर भी पड़ा। जब वे लोग किसी दीन-दुःखी को देखकर उसकी सहायता की प्रार्थना करतीं तो कुमारी मेरियट उनको समझाती कि “तुम लोग एक सप्ताह तक चीनी न खाकर या कोई दूसरी आराम की चीज छोड़कर पैसा बचाओ और उससे इसकी सहायता करो।” इस प्रकार वे उनको स्वयं त्याग करके दूसरों का उपकार करने की शिक्षा देती थीं।

ऐनी जब पन्द्रह वर्ष की हुई तो कुमारी मेरियट इनको अन्य परिवार वालों के साथ विदेश यात्रा के लिये ले गईं। इससे इनका व्यावहारिक ज्ञान बहुत बढ़ गया और जर्मन तथा फ्रांसीसी भाषा का अभ्यास भी हो गया, पर अब कुमारी मेरियट ने धीरे-धीरे इनको पढ़ाना बन्द कर दिया और जब इन्होंने कहा कि “अब आप मुझे पढ़ाती क्यों नहीं?” तो उन्होंने कहा कि—“मैं सदैव तुम्हारे साथ नहीं रहूँगी, इसलिये अब तुमको स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने का अभ्यास भी करना चाहिये। जो लोग अन्त तक शिक्षकों और अभिभावकों के सहारे रहते हैं उनको शिक्षा समाप्त करने पर एकाएक मालूम पड़ता है कि अब क्या करें? इसलिये तुमको अभी से स्वावलम्बन का अभ्यास करना चाहिये। तुमको आरम्भिक शिक्षा अच्छी तरह मिल चुकी है। अब उद्योग करोगी तो स्वयं इसको बढ़ाकर जो कार्य

१.४३ मरकर भी अमर हो गये जो

करना चाहो उसके योग्य बन सकती हो ।” इस प्रकार कुमारी मेरियट ने इनके जीवन की सफलता का मार्ग खोल दिया, जिससे आगे चलकर वे हर तरह के संघर्ष में साहस रखकर आगे बढ़ सकीं । अपने लिये ही नहीं समाज के लिये भी बहुत कुछ करने में समर्थ हो सकीं ।

समाज सेवा का श्रीगणेश

इंग्लैण्ड वापस आकर ऐनी और उसकी माता मैनेचेस्टर में रहने लगीं । यह उद्योग-धन्धों का नगर था और यहाँ मजदूरों की बहुत बड़ी बस्ती थी । इन लोगों की इस समय बहुत खराब हालत थी और उनको उद्योगपतियों के बड़े-बड़े अन्याय सहने पड़ते थे । ऐनी को यह बहुत बुरा लगता था और वह उनकी सहायता, सेवा का मार्ग ढूँढ़ने लगी । उस समय वहाँ ‘राबर्ट’ नाम का वकील इन अन्याय पीड़ितों की सेवा में संलग्न था । उन दिनों कोयले की खानों में काम करने वाली स्त्रियों की बड़ी बुरी हालत थी । दिन भर कठोर परिश्रम करने पर भी उन बेचारियों को न पूरा खाना मिलता था न तन ढकने को साबुत कपड़ा । वे ठण्ड सहती हुई अपने दूध-पीते बच्चों को गोद में सँभाले किसी प्रकार काम करती रहतीं । पाँच-सात वर्ष के बच्चों को दरवाजे पर रखवाली के लिये बैठा दिया जाता और जब वे सो जाते तो ठोकर मार पर उठाया जाता ।

दरिद्रों के वकील राबर्ट और उसके कुछ अन्य सहकारियों ने इन अन्यायों के विरुद्ध आन्दोलन उठाया । ऐनी भी उसमें शामिल हो गई । राबर्ट कहा करता था—“मजदूर—गरीब ही काम करने वाली शहद की मक्खियाँ हैं, वे ही समस्त धन को पैदा करने वाले हैं । इनके साथ न्यायोचित व्यवहार होना चाहिये, स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का अवसर दिया जाना चाहिये ।” ऐनी पर ऐसे उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ता था और वह बड़े उत्साह से मजदूर-आन्दोलन का कार्य करती थी । यहाँ उन्होंने सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग लेने की प्रेरणा प्राप्त की ।

ऐनी को राजनीति की तरफ आकर्षित करने वाला एक और कारण उसी समय पैदा हो गया, उस समय आयरलैण्ड में जोरों से स्वतन्त्रता-आन्दोलन चल रहा था और अंग्रेज सरकार बड़ी क्रूरता के साथ उसका दमन कर रही थी । ऐनी की माता भी आयरिश ही थी और इसलिये इनकी सहानुभूति आयरलैण्ड के साथ थी ।

आयरलैण्ड के दो नेता कर्नल केली और कप्तान डीजे मैनेचेस्टर में गिरफ्तार कर लिये गये और उन पर राजद्रोह का मुकद्मा चलाया गया । इससे इंग्लैण्ड में रहने वाले आयरिश लोगों में बड़ा जोश फैल गया और एक दिन उन्होंने इकट्ठे होकर जेलखाने की गाड़ी पर, जिसमें दोनों नेताओं

को अदालत से लाया जा रहा था, हमला कर दिया, यद्यपि उस समय एक कॉस्टेबिल को मारकर दोनों कैदी छुड़ा लिये गये, पर बाद में पुलिस ने आकर भीड़ पर हमला किया और चार व्यक्तियों को हत्या के अपराध में गिरफ्तार कर लिया । ऐनी भी इनका मुकद्मा देखने जाती थी और जब उनको प्राण दण्ड दिया गया तब वह बड़ी दुःखी हुई । उसने बाद में इस सम्बन्ध में लिखा कि “यदि इन वीरों ने किसी अन्य देश की स्वाधीनता के लिये इसी प्रकार युद्ध किया होता तो इंग्लैण्ड वाले उनका स्वागत और सम्मान करते । परन्तु आयरलैण्ड की स्वाधीनता के लिये प्राण देने वालों को मामूली अपराधियों की तरह कब्रिस्तान में गाढ़ दिया गया । यह मनोवृत्ति स्वार्थपरता और संकीर्णता की ही परिचायक है ।”

विवाह और तलाक

सन् १८६६ में इनकी माता ने इनके जीवन का मार्ग बदलने के उद्देश्य से इनका विवाह रेवरेण्ड फ्रैंक बेसेण्ट नामक पादरी से कर दिया । ये उस समय यद्यपि धार्मिक स्वतन्त्रता की अनुयायी बनती जा रही थीं और ‘ईसाई धर्म ही सच्चा है’, इस विचार से हटती जा रही थीं, पर एक पादरी के साहचर्य में रहने से गरीबों की सेवा करने का अधिक अवसर मिलेगा यह सोचकर इन्होंने इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया, पर यहाँ तो मामला उल्टा निकला । पादरी बेसेण्ट परम्परावादी पण्डित-पुजारियों की तरह केवल अपने धार्मिक-कृत्यों से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति था, जबकि ये सत्य की दृढ़ जिज्ञासु थीं । इनका पति एकमात्र बाईबिल पर विश्वास रखने वाला था, पर ये संसार के सभी तरह के दार्शनिक और धार्मिक मतों की समीक्षा करके सत्य का निर्णय करना चाहती थीं । इनका कार्यक्षेत्र भी समाज सुधार तथा राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने के कारण दूर-दूर तक फैला हुआ था । इस कारण विवाह के कुछ महीने बाद ही दोनों में मतभेद प्रकट होने लगा पर धीरे-धीरे ये इस गाड़ी को खींचती रहीं और इस बीच में इनके दो सन्तान एक लड़का और एक लड़की भी हो गई । इनको लेखों और व्याख्यानों आदि से जो आय होती थी उसको भी ये पति को ही दे देती थीं, इससे भी कुछ शान्ति बनी रहती थी ।

पर इनके धार्मिक-स्वतन्त्रता के विचार दिन पर दिन बढ़ते जाते थे और सभाओं में प्रायः बाईबिल और ईसाई धर्म के विरुद्ध बातें कह देती थीं । इस पर अन्य पादरी इनके पति पर आक्षेप करते थे और बदले में वह इनको जली-कटी सुनाता था । इसी बीच में इनके दोनों बच्चे बीमार हो गये और उनके बचने की आशा न रही । इससे

इनके मन को बड़ा धक्का लगा। वह कहने लगीं कि भगवान को इतना दयालु कहा जाता है तो कहाँ गई उसकी दया, कि वह इन अबोध बच्चों को इतना कष्ट पाते देख रहा है और कोई ध्यान नहीं देता। फिर उनको ध्यान आया कि “स्वयं वे और उनकी माता आरम्भ से पूर्ण धार्मिक जीवन बिताती रहीं, ईसामसीह में दृढ़ श्रद्धा रखती रहीं पर उनके ऊपर एक के बाद एक विपत्ति आती रही। असमय में पिता का देहान्त हो जाने से दरिद्रता की चक्की में पिसना पड़ा। दरिद्र माता को अकारण ही वकील ने ठग लिया जिससे उनकी इज्जत मुश्किल से बच सकी। अब इनके प्राण प्यारे बच्चे भी मृत्यु के मुख में पड़े हैं।”

इस प्रकार के विचारों से इनके धार्मिक विश्वासों को और भी धक्का लगा और ये नास्तिकता की ओर झुकने लगीं। इन्होंने मजदूर आन्दोलन में भी परिश्रम की कमाई खाने वाले ईमानदार ‘मजदूरों’ को भूखों मरते और हर तरह के अत्याचार सहते देखा था। एक बार ऐनी अपने पति के साथ देहात में रहने गई, वहाँ देखा कि खेतों में काम करने वाले मजदूरों की और भी बुरी दशा है। एक छोटी कोठरी में परदादा से लेकर नाती, पत्नी तक आठ मनुष्य रहते थे। जगह इतनी कम थी कि एक पुरुष, उसकी स्त्री और दो बच्चे एक ही चारपाई पर सोते थे। एक दिन जब एक बच्चा रात के समय मर गया तो इतना भी स्थान न था कि उस मृतक को कहीं रख भी दिया जाये। उसकी माँ को रात भर बच्चे के पास ही सोना पड़ा।

एक तरफ तो गरीब लोगों की यह बुरी दशा थी और दूसरी ओर धनी लोग सब तरह की बेईमानी से रुपया कमाते हुए भोग-विलास और दुराचारों में खर्च कर रहे थे। श्रीमती बेसेण्ट के चित्त में बार-बार यही प्रश्न उठता कि अगर ईश्वर होता तो संसार में इस प्रकार का अन्धेरखाता कैसे चल पाता? और अगर ईश्वर है भी तो ऐसे अन्यायी ईश्वर को मानने से क्या फायदा जो ईमानदारों को ऐसे कष्ट देता है और जिसके राज्य में बेईमान और शोषण करने वाले मौजूद करते हैं। ऐसे विचारों के बढ़ने से ये दिन पर दिन धर्म से विमुख होती जाती थीं और इस कारण पति से सदा खट-पट होती रहती थी। जब इनकी मानसिक पीड़ा बहुत बढ़ गई तो एक दिन बहुत दुःखी होकर इन्होंने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। पर जैसे ही जहर को मुँह से लगाया कि अन्तरात्मा ने कहा—

“हे कायर! अभी कल तक तू गरीबों के हितार्थ, अन्याय के प्रतिकारार्थ शहीद बनने का सपना देख रही थी और आज थोड़े से मानसिक कष्ट से व्याकुल होकर व्यर्थ में प्राण देने को प्रस्तुत हो गई। जब तू घरेलू झगड़े को

बरदाश्त नहीं कर सकती, तब अन्यायियों का विरोध करते हुए जिस अपमान, यातना, अमानुषिक यन्त्रणा का सामना करना पड़ेगा, उसे तू कैसे सहन करेगी? इसलिये हिम्मत रख और अपने कर्तव्य-मार्ग पर अग्रसर होती जा, इसका जो भी परिणाम सहन करना पड़े उसे अनासक्त भाव से सहन कर, ऐसा करने पर ही तू संसार की सेवा का कुछ श्रेय प्राप्त कर सकेगी।”

अब श्रीमती बेसेण्ट ने निश्चय कर लिया कि वे अपने विश्वास, सिद्धान्तों के अनुसार ही कार्य करेंगी, फिर इसका परिणाम कैसा भी क्यों न निकले। उन्होंने विचार किया कि जब यकायक पिता की मृत्यु हो जाने और माता की सम्पत्ति के डूब जाने पर भी निर्वाह होने पर और आगे बढ़ने का मार्ग निकल आया तो गृहस्थी अथवा जीवन-निर्वाह के कारण अन्तरात्मा के विरुद्ध अन्धविश्वास के सामने सर झुका देना कदापि उचित नहीं। जिस तरह अन्य दुनियादार मनुष्य सांसारिक वैभव, सम्पत्ति के लिये सब प्रकार के भय और आशंकाओं को त्यागकर परिस्थितियों से संघर्ष करने, लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं उसी प्रकार सत्य के खोजी को भी उसके लिये हर अवस्था में संघर्ष करने और सब प्रकार के कष्टों, विघ्न-बाधाओं को सहन करने को तैयार रहना चाहिये। संसार के अधिकांश व्यक्ति तो रुपया-पैसा, आराम, शान-शौकत आदि को महत्त्व देते हैं पर सत्य के अन्वेषक को इन बातों की चिन्ता छोड़कर उसी मार्ग को अपनाना चाहिये जिसका आदेश अन्तरात्मा दे।

अब श्रीमती बेसेण्ट ने अपने विचारों का खुले तौर पर प्रचार करना आरम्भ कर दिया। वे ईसा-मसीह को एक महापुरुष मानती थीं, वह ‘ईश्वर’ का पुत्र था, अथवा ‘मानवों का मुक्तिदाता’ था इस पर इनका विश्वास न था। इसके बजाय ये गरीबों, कष्ट पीड़ितों की सेवा को, उन पर होने वाले अन्यायों का विरोध करने को ही सच्चा धर्म बतलाती थीं और जहाँ तक बन पड़ता था, दीन-हीन मजदूरों तथा अन्य गरीब मनुष्यों की सहायता के लिये प्रचार करती थीं।

सन् १८७३ में इन विचारों के कारण अपने पति से मतभेद चरम सीमा पर पहुँच गया। उसको संगी साथियों ने समझाया कि ऐसी स्त्री को रखने से क्या फायदा जो गिर्जाघर नहीं जाती और ईसा को ‘पवित्र ईश्वरीय पुत्र’ अस्वीकार करती है। इस प्रकार के विचारों के प्रकट होने से अपने साथियों में पादरी बेसेण्ट की बदनामी होती थी। अन्त में उसने श्रीमती ऐनी बेसेण्ट से कह दिया कि “या तो तुम अपने विचारों को बदलकर गिर्जाघर जाना और

१.४५ मरकर भी अमर हो गये जो

ईसाई धर्म के विश्वासों को स्वीकार करना आरम्भ करो अन्यथा इस घर को छोड़ दो ।”

उस समय इनकी आयु २६ वर्ष की थी और मन में अपने सिद्धान्तों के लिये कोई विशेष कार्य कर दिखाने का उत्साह भरा हुआ था । इसलिये इन्होंने पति को छोड़ने का ही निश्चय किया । इस समाचार से इनकी माता को बड़ा दुःख हुआ और उसने समझा-बुझाकर पति के साथ रहने का आग्रह किया । पर इन्होंने सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करना स्वीकार न किया ।

जीवन-निर्वाह की समस्या

मानसिक आवेश और युवावस्था के उत्साह के फलस्वरूप इन्होंने पति से तलाक मंजूर कर ली, पर जब जीवन-निर्वाह की समस्या आई तो दिमाग चक्कर खाने लगा । अदालत ने छोटी लड़की को इनके साथ रहने का आदेश दे दिया था । अब अपनी बुढ़ी माता का और छोटी बच्ची का खर्च किस प्रकार चलायें ? यह एक बड़ी कठिन समस्या थी ।

अब ये कोई नौकरी तलाश करने लगीं । इसमें इनको कितनी दौड़-धूप करनी पड़ी, तकलीफ उठानी पड़ी और मान-अपमान सहने पड़े उन सबका वर्णन यहाँ कर सकना सम्भव नहीं । कई महीने तो सप्ताह में केवल तीन-चार रुपया का काम करके ही गुजारा करना पड़ा । फिर एक बड़े पादरी के घर में भोजन बनाने का काम मिल गया, पर वेतन में दोनों ही समय का भोजन और रहने का स्थान दिया गया । कुछ समय बाद पादरी का लड़का बीमार हो गया तो इनको खाना बनाने से हटाकर उसकी देखभाल करने को नियुक्त कर दिया गया । एक बच्चा ठीक हुआ तो दूसरे को ज्वर आ गया, उसकी देखभाल भी ये करने लगीं । इन्होंने परिश्रम करके दोनों की प्राण रक्षा की ।

एक साल बाद इनकी माता बीमार पड़ीं पर गरीबी के कारण इलाज की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकी । मई सन् १८७४ में उसका देहान्त हो गया और श्रीमती बेसेण्ट का एक मात्र सहारा भी जाता रहा । अब इनका आधार छोटी बच्ची मैवेल पर ही था । इस समय दरिद्रता का संकट भी बहुत बढ़ गया था, मकान का किराया काफी चढ़ गया था इसलिये ये केवल एक बार भोजन करके ही उसे चुकाने का प्रयत्न करती थीं ।

सामयिक पत्रों में लेखन-कार्य

श्रीमती बेसेण्ट सामयिक पत्रों में अपने वैवाहिक-जीवन से ही लिखने लग गई थीं । सबसे पहले इनकी एक छोटी-सी कहानी 'फैमिली-हेरल्ड' नामक पत्र

में छपी, कुछ समय बाद उसका पत्र आया जिसमें से लेख के पारिश्रमिक का ३० शिलिंग (२१ रुपया) का चेक निकला । एक लेखक की हैसियत से यह इनकी पहली कमाई थी । इसके बाद इन्होंने और भी कई छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ लिखकर उस अखबार में भेजीं और वे सब छप गईं । एक उपन्यास भी लिखकर भेजा, पर वह यह कहकर लौटा दिया गया कि इसमें राजनीति की चर्चा बहुत अधिक है ।

अब जीविका की समस्या उपस्थित होने पर उन्होंने फिर लिखने की तरफ ध्यान दिया और मि. स्कॉट नामक सज्जन के आश्रय से कई लेख लिखे, जिसमें से प्रत्येक के लिये २१ रुपये के हिसाब से पारिश्रमिक मिल गया । श्रीमती स्कॉट भी इनका बहुत ख्याल रखती थीं और जब बहुत कठिन अवस्था आती थी तब वे उनको भोजन करा देती थीं । कई साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन्होंने अपने आभूषण और बढ़िया कपड़े पहले ही बेच बिचे थे । अब पेट भरने का एक मात्र साधन लेखन कार्य ही था पर इस क्षेत्र में नवीन होने के कारण सदैव उसमें सफलता नहीं मिलती थी । तब भी यह साहस करके अपने मार्ग पर दृढ़ रहीं और इस स्थिति को अपनी एक परीक्षा समझकर परिश्रम करके और कठिनाइयाँ सहन करके अपने सिद्धान्तों के अनुसार अग्रसर होती रहीं । श्रीमती बेसेण्ट की जीवन घटनायें इस दृष्टि से बड़ी शिक्षाप्रद और रोचक हैं कि स्वावलम्बी व्यक्ति किस प्रकार आपत्तियों का मुकाबला करके बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सकता है । क्या यह बात कम प्रेरणाप्रद है कि जिस श्रीमती बेसेण्ट को लेखन कार्य से सूखी रोटी खाने लायक भी आमदनी नहीं होती थी फिर उन्होंने इसी के द्वारा लाखों रुपया कमाया और सैकड़ों अन्य व्यक्तियों की रचनाओं को भी प्रकाशित करके उनको साहित्य-क्षेत्र में ठहर सकने में हर तरह से सहायता दी ।

श्री ब्रैडला से भेंट और मजदूर आन्दोलन

सन् १८७४ में ही इनकी भेंट इन्स्पैण्ड के प्रसिद्ध अनीश्वरवादी प्रचारक चार्ल्स ब्रैडला से हो गई । ब्रैडला अपने स्वतन्त्र विचारों और ईसाई धर्म का जोरों से खण्डन करते रहने के कारण बहुत बदनाम हो चुके थे । वे किसी प्राचीन रूढ़ि और परम्परा को नहीं मानते थे और प्रत्येक सिद्धान्त को तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कसकर स्वीकार करते थे । इसलिये कट्टर ईसाई उनका बहुत अधिक विरोध करते थे और उन पर तरह-तरह के झूठे-सच्चे आरोप लगाकर हमेशा उन्हें जनता की निगाह में गिराने की चेष्टा किया करते थे । जब श्रीमती बेसेण्ट

ने उनको अपने घर पर बुलाया तो उन्होंने साफ कह दिया कि खूब सोच-समझकर ऐसा काम करना । मैं तो काँटों पर चलने वाला आदमी हूँ, स्वयं मेरे भाई-बन्धु मुझसे घृणा करते हैं और जनता में भी मैं तरह-तरह से बदनाम किया जाता हूँ । मेरे साथ रहने से तुम्हारे विषय में ही लोग हर तरह की अफवाहें उड़ाने लगेंगे और उपेक्षा करेंगे । बाद में इससे बबड़ाकर तुम पछताने लगे या मुझे दोष देने लगे तो यह उचित नहीं । इस तरह के मार्ग पर चलने के पहले ही उसकी समस्त कठिनाइयों को समझ लेना चाहिये और यह भी विचार लेना चाहिये कि इतना आगे बढ़ सकने की शक्ति हमारे भीतर है या नहीं ।

पर श्रीमती बेसेण्ट भी कुछ ऐसी ही प्रकृति की थीं । केवल सिद्धान्त के कारण उन्होंने पतिगृह का त्याग करके रोटी-कपड़े के लिये भी बहुत अधिक कष्ट सहन किये थे । अपनी और अनेक लोगों की बुर्दशा तथा अकारण सहन किये जाने वाले अन्यायों को देखकर उनका ईश्वर और धर्म पर से विश्वास बिल्कुल हट गया था इसलिये उनको श्री ब्रैडला की बातों से किसी प्रकार का भय नहीं जान पड़ा और वे भी उनके साथ स्वतन्त्र विचारों का प्रचार करने में सम्मिलित हो गई ।

श्री ब्रैडला ने इनको अपने सामायिक पत्र 'नेशनल रिफॉर्मर' में कुछ लिखने का काम दे दिया । यह गरीबों के लिये आन्दोलन करने वाला पत्र स्वयं बहुत गरीब था इसलिये श्रीमती बेसेण्ट को उससे थोड़ा-सा ही पारिश्रमिक मिलता था । थोड़ा-सा लेखन कार्य ये श्री स्कॉट के सहयोग से करती थीं । दोनों की आमदनी से किसी तरह स्वावलम्बी जीवन की गाड़ी चल जाती थी ।

बारह वर्ष तक स्वतन्त्र विचारों के आन्दोलन के सम्बन्ध में इन्होंने बहुत काम किया । पादरी और पुराने विचारों के लोग इनका हर तरह से विरोध किया करते थे, खरी-खोटी सुनाया करते थे, पर नये विचारों की लहर उनके रोके न रुक सकी । परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे सर्व साधारण पर इसका प्रभाव पड़ने लगा और उनकी धर्म सम्बन्धी धारणाओं में पहले की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया । अब वे धार्मिक पाखण्ड और होंग के बजाय चरित्र और नैतिकता की वृद्धि करने वाले सिद्धान्तों का आदर करने लगे थे । लाचार होकर धर्माध्यक्षों और धर्म-प्रचारकों को भी बदलना पड़ा और इंग्लैण्ड का ईसाई धर्म बहुत कुछ निर्मल हो गया और अन्ध-विश्वास घट गया । इस सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए श्रीमती बेसेण्ट ने लिखा था—“जबर्दस्ती कानून अथवा सामाजिक दण्ड का भय दिखाकर धर्म में विश्वास पैदा करने की चेष्टा करना निरर्थक

है । विश्वास अपने आप असलियत को देखकर उत्पन्न होता है, दण्ड से नहीं । ज्यादाती और जुल्म करने से तो दृढ़ इच्छाशक्ति वाले पहले से अधिक धर्म-विरोधी बन जाते हैं और जो कमजोर होते हैं वे पाखण्डी हो जाते हैं । मुझे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला कि जोर जबर्दस्ती से कभी कोई ईमानदार विश्वास करने वाला बन सका हो ।”

राजनीति में भी स्वतन्त्र विचारों का प्रचार

अभी तक श्रीमती बेसेण्ट का अधिक ध्यान धार्मिक मामलों की तरफ था पर इंग्लैण्ड में धर्म और राजनीति में विशेष सम्बन्ध है । वहाँ उस समय तक राजा ही धर्म का भी सबसे बड़ा संरक्षक और सहायक माना जाता था । इसलिये स्वभावतः इनको राजनीतिक विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट करनी पड़ी और आवश्यकता होने पर उसकी बुराइयों के विरुद्ध प्रचार करना पड़ा । इसमें ईसाई धार्मिक जगत के साथ ही सरकार की दृष्टि भी इन पर हो गई ।

इन्होंने देखा कि अंग्रेजी साम्राज्य जितना बढ़ता जाता है उतना ही प्राचीन देशों और उपनिवेशों के साथ उसका व्यवहार कठोरता और दमन का होता जाता है । आयरलैण्ड के स्वाधीनता आन्दोलन को तो वह खूब कुचल ही रहा था और उसके कारण श्रीमती बेसेण्ट के मन में पहले से ही विद्रोह की भावना उत्पन्न हो चुकी थी । अफगानिस्तान और मिस्र जैसे स्वाधीन कहे जाने वाले देशों में भी वह अपना प्रभाव कायम रखने के लिये समय-समय पर बल प्रयोग करता रहता था । दक्षिण अफ्रीका में भारतीय तथा स्थानीय निवासियों पर मनमाने अत्याचार किये जा रहे थे । भारतवर्ष की पराधीनता की जंजीरें बराबर मजबूत की जा रही थीं और यहाँ की जनता विवश और निराश होती जा रही थी ।

स्वयं इंग्लैण्ड में भी मजदूरों तथा अन्य गरीब श्रेणी के लोगों की दशा बड़ी दयनीय थी । सरकार और बड़े लोगों की शान-शौकत बढ़ती जाती थी, उनका व्यय सामान्य जनता पर टैक्स बढ़ाकर पूरा किया जाता था । अमीरों की शासन सभा (हाउस ऑफ लॉर्डस) सुधार के प्रत्येक काम में भरसक रोड़ा अटकाती थी । शिक्षा और गरीबों की आर्थिक सुधार सम्बन्धी योजनाओं को भूलकर युद्धों की तैयारी में करोड़ों रुपया लगाया जा रहा था । जो कोई इसके विरुद्ध आवाज उठाता था तो वह सरकार और समाज का द्रोही बतलाया जाता था ।

इन विचारों से प्रेरित होकर इन्होंने अपनी समस्त शक्ति इन अन्यायों का विरोध करने में लगा दी । जगह-जगह सभायें करके वे सरकार के दोषों का पर्दाफाश

१.४७ मरकर भी अमर हो गये जो

करने लगीं । ईश्वर तथा धर्म के नाम पर ढोंग फैलाने वालों का खण्डन वे पहले से ही कर रही थीं । इस प्रकार इस जमाने में सरकार और ईसाई धर्म को अकाट्य मानने वाले मूढ़ व्यक्तियों की निगाह में तो वे समाज के ऊपर एक काले धब्बे की तरह थीं । अन्धविश्वासी समाज में उनकी निन्दा का बाजार गर्म हो उठा और उनके नाम पर तरह-तरह के लौछन लगाने लगे पर श्रीमती बेसेण्ट इन बातों की तरफ से कान और आँखें बन्द करके अपने मार्ग पर चलती गईं जो लोग किन्हीं सिद्धान्तों के लिये शहीद होने का निश्चय कर लेते हैं वे ऐसी लोक-चर्चा, निन्दा-कुत्सा की परवाह कब करते हैं ?

श्री ब्रैडला का चुनाव संघर्ष

उस समय उच्च वर्ग के 'सभ्य' और 'विद्वान्' कहलाने वाले श्रीमती बेसेण्ट के सहायक श्री ब्रैडला की कितनी भी निन्दा क्यों न करते हों पर गरीब लोगों की बहुत बड़ी संख्या उनकी समर्थक थी । वे गरीबों के सच्चे मित्र थे और जहाँ कहीं अन्याय होता देखते थे, वहीं उसका विरोध करते थे । गरीब लोगों को तो वे अपने आत्मीय की तरह समझते थे और तन-मन-धन से जिस प्रकार हो सकता उनकी सहायता करने को तत्पर रहते थे । केवल इंग्लैण्ड ही नहीं संसार भर के पीड़ितों को अपना बन्धु मानते थे और जिस प्रकार बन पड़ता उनकी सहायता करते थे । भारतवर्ष पर भी उस समय अंग्रेजों का दमनचक्र चल रहा था और हर प्रकार से भारतीय जनता का शोषण किया जाता था । श्री ब्रैडला ने पार्लियामेण्ट में भारतवर्ष का पक्ष लेकर सरकार के अनुचित कार्यों की तीव्र आलोचना की जिससे बड़ी खलबली मची । सन् १८६० में उनको निमन्त्रित करके बुलाया गया और उन्होंने भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस में इस देश की माँगों और अधिकारों का डंके की चोट पर समर्थन किया । उस अवसर पर हिन्दी के देशभक्त कवि स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र ने उनके स्वागत में एक बड़ी कविता पढ़कर सुनाई थी जिसमें अनेक उपरोक्त गुणों का परिचय मिलता है । उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

स्वागत श्रीभुत ब्रैडला ! प्रेम प्रतिष्ठा पात्र ।
पलक पाँवड़े करि रहे तब हित देशी मात्र ॥
स्वागत ! स्वागत !! स्वागत !!! श्रीभारत हितकारी ।
आवहु निष्प्रमन्याय निरत नित सत पथ धारी ॥
यद्यपि अनीश्वरवाद दोष सब तुमहिं लगावें ।
पै प्यारे तब मुख्य मर्म विरले कोउ पावें ॥
लाखन जन मुञ्चते नित ईश्वर—ईश्वर करहीं ।
पै स्वारथ सनि पर—सरबस कहें हरतहिं रहहीं ॥

तुम सम पर-दुःख देख द्रबहिं सोई हरि कहि प्यारे ।
का जानहि या परम धरम लघु मति मतिवारे ॥
जिन छलियन के हाथ सुमिरिनी बगल कतरनी ।
कहु न हानि जो शतधा निन्दहि तब करनी ॥
पै हमरे विश्वास माँहि तुम परम सुजाना ।
दीन दया विस्तरन वपुष श्री बुध भगवाना ॥

वास्तव में श्री ब्रैडला उन व्यक्तियों में से थे जो धर्म का आडम्बर न करके उसके सार को ग्रहण करते हैं । यद्यपि वे गिरजाघर या मन्दिर-मस्जिद में जाकर ईश्वर को नहीं पुकारते, पर जिन दीन-दुखियों के भीतर आत्मारूपी परमात्मा को व्यथित होता देखते हैं वहीं उसकी सेवा-सहायता को दौड़ते हैं । इसके विपरीत जो मुकुट-तिलकधारी ईश्वर की पूजा के लिये बड़े आयोजन, उत्सव आदि करते हैं वे उल्टा उन दीनजनों को चूसते हैं, ठोकरें लगाते हैं । उनको थोड़े से धर्म व्यवसायियों के अतिरिक्त और कौन 'धर्म-मूरत' कहेगा ?

श्री ब्रैडला की जनप्रियता की परीक्षा उस समय हुई जब एक बार पार्लियामेण्ट के 'लिबरल' (उदार) और 'कंजरवेटिव' (अनुदार) दोनों दलों ने मिलकर तरह-तरह की चालें चलकर झूठे आक्षेप लगाकर श्री ब्रैडला को चुनाव में हरा दिया । इससे वहाँ की गरीब जनता इतनी उत्तेजित हो गई कि उसने विरोधी दल वालों के मकानों पर हमला कर दिया और खून-खराबे को रोकने के लिये ब्रैडला बहुत थके होने पर भी वहाँ आये और अपने अनुयायियों को बहुत डाँट-डपट कर बदमाशी करने से रोका और उसी रात को अमरिका के लिये रवाना हो गये । इसके पश्चात् क्रोधित जनता ने 'मरकरी' नामक एक लिबरल पार्टी के समाचार पत्र के दफ्तर पर हमला करके उसे पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट कर डाला । इस पत्र में श्री ब्रैडला के विरुद्ध बड़ा जहर उगला जाता था और उन पर ऐसे जघन्य आरोप लगाये जाते थे जिन्हें पढ़कर एक निष्पक्ष व्यक्ति को भी रोष आ जाता था, इस घटना के समय श्रीमती बेसेण्ट भी वहाँ मौजूद थीं । उन्होंने यहीं पहला बलवा अपनी आँखों से देखा और अनुभव किया कि प्रजातन्त्र के नाम पर होने वाले चुनावों में कितनी उत्तेजना और दलबन्दी हो सकती है ।

जब दूसरी बार सन् १८८० में ही ब्रैडला चुन लिये गये तो जनता प्रसन्नता के मारे नाचने लगी । पर अमीर लोग फिर भी कोई ऐसी चाल सोच रहे थे जिससे इस 'अनीश्वरवादी' और धनी लोगों के शत्रु को जड़ से उखाड़ डाला जाये । उनको ऐसा मौका शीघ्र मिल गया, 'पार्लियामेण्ट' की सदस्यता ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ खानी पड़ती थी पर ब्रैडला ईश्वर के नाम पर

शपथ खाने को तैयार न हुए। वे अदालत में भी ऐसा ही करते थे और वे केवल प्रतिज्ञा कर लेते थे, पर यहाँ उनके विरोधियों ने इस बहाने से लाभ उठाकर ऐसी कानूनी अड़चनें डालीं कि श्री ब्रैडला को सार्जेंट द्वारा बाहर निकलवा दिया और दो दिन तक कैद रखा। यद्यपि इस अन्याय के विरुद्ध कानून बन चुका था, पर उनके विरोधियों ने, जो बड़े-बड़े लॉर्ड थे धीमाधीनी करके उनके चुनाव को रद्द करा ही दिया। फिर दुबारा चुनाव कराया गया, पर उसमें ब्रैडला को पहले से भी ज्यादा 'वोट' मिले। अन्त में बड़े संघर्ष के पश्चात् उनको पार्लियामेंट में स्थान मिल सका। वहाँ भी वे गरीब और अन्याय पीड़ितों के पक्ष में ही भाषण करते रहते थे। भारतवर्ष, को उचित अधिकार दिये जाने के लिये इन्होंने वहाँ बहुत प्रयत्न किया।

सार्वजनिक क्षेत्र में श्री ब्रैडला के साथ कार्य करने से श्रीमती बेसेण्ट को भी लोगों के द्वारा समय-समय पर अनादर, अपमान, अप्रतिष्ठा का व्यवहार सहन करना पड़ा। यह विरोध इतना अधिक बढ़ गया था कि अनेक बार प्राणों पर खतरा जान पड़ता था। स्त्री होने के कारण इनको और भी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती थीं। एक बार ये रेलगाड़ी में यात्रा कर रही थीं, इनको अकेला देखकर एक शराबी डिब्बे में घुस आया। उसने पहले तो खिड़की बन्द कर दी और फिर हँसता हुआ इनकी ओर बढ़ा। इस विपत्ति को देखकर ये बहुत घबराई और कोई उपाय न देखकर एक छोटा चाकू, जो इनके पास था, खोलकर हाथ में ले लिया। इतने में सिगनल न होने से रेल खड़ी हो गई, इन्होंने गार्ड से सारा हाल कहा और उसी समय उस डिब्बे से उतरकर दूसरे में चली गई।

मैडम ब्लवटस्की से भेंट

कुछ समय पश्चात् संयोगवश इनके विचारों में परिवर्तन होने लगा। घटना इस प्रकार हुई कि इनके पास एक पुस्तक समालोचनार्थ आई जिसमें अध्यात्म, सिद्धान्त और 'थियोसोफी' समाज का वर्णन था। 'थियोसोफी' का अर्थ है 'दैवीज्ञान', इस पुस्तक में बतलाया गया था कि "मनुष्य परमात्मा का अंश है और उसके भीतर एक दैवी-तत्त्व विद्यमान है, जो लाखों योनियों में अनुभव प्राप्त करके और विकसित होकर वर्तमान अवस्था को पहुँची है। यह तत्त्व भौतिक पदार्थों से अलग है और इसी की वृद्धि करते-करते मनुष्य एक दिन नर से नारायण बन जाता है। हमारा यह पंच भौतिक शरीर भी उसी तत्त्व के विकास के अनुसार आकृति और गुण ग्रहण करता है। जिस प्रकार चित्रकार पहले अपने दिमाग में किसी चित्र की रूप-रेखा खींचकर फिर उसे कागज पर उतार लेता है, इसी प्रकार

हमारी आत्मा के जैसे विचार, भावनायें होती हैं वैसा ही शरीर भी उसे मिल जाता है। जब किसी प्राणी की पर्याप्त उन्नति हो जाती है तभी उसको मनुष्य योनि प्राप्त होती है।

दूसरी बात जो इस पुस्तक में श्रीमती बेसेण्ट को विशेष महत्त्व की जान पड़ी वह थी ब्रह्मचर्य। अभी तक वह इसे शारीरिक दृष्टि से ही मानती थीं, पर इस पुस्तक में ब्रह्मचर्ययुक्त जीवन पर एक नया प्रकाश डाला गया था। उसमें कहा गया था कि यदि किसी व्यक्ति में इसका अभाव है तो इसका कारण यही है कि पिछले जन्म में उसके विचार पशुतुल्य थे और इस जन्म में भी उनके शेष रह जाने से उसमें कामुकता की अधिकता पाई जाती है। भोग के लिये उसने मानो अपने विवेक को बेच दिया है और संसार की मुख्य-मुख्य खराबियों की यही जड़ है। इस दैवी गुण को खो देना मनुष्य के लिये महान् कष्टों का कारण होता है। इस कष्ट को मिटाने के लिये नकली उपायों का आश्रय लेना अनुचित है, इसका वास्तविक उपाय आत्मा को शुद्ध कर देना ही है। हमको समझ लेना चाहिये कि वास्तविक चिकित्सा मन की होनी चाहिये न कि शरीर की।

श्रीमती बेसेण्ट को ये बातें बहुत सारयुक्त जान पड़ीं जिससे उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया। वे अभी तक 'माल्थस-संघ' नामक संतान निग्रह का प्रचार करने वाली संस्था की सदस्या थीं और इसके कृत्रिम उपायों के सम्बन्ध में इन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी। पर अब मैडम ब्लवटस्की के आध्यात्मिक उपदेशों को पढ़कर इन्होंने इन कार्यों को त्याग दिया। उस पुस्तक के दूसरे संस्करण को प्रकाशित करने का अधिकार प्राप्त करने के लिये कई प्रकाशक इनको हजारों रुपये दे रहे थे पर अब जब इन्होंने उस रास्ते को ही गलत समझ लिया तो उसके प्रचार में कैसे सहयोग दे सकती थीं?

मजदूर आन्दोलन में सक्रिय भाग

उस समय इंग्लैण्ड के मजदूरों की हालत बहुत खराब थी। पूँजीवाद उस समय यौवनावस्था पर था और कारखाने वाले अधिक से अधिक माल बनाकर संसार के बाजारों में अपना कब्जा करने की धुन में बहुत अधिक स्वार्थपरता से काम ले रहे थे। आज भारतवर्ष में भी नौ-दस घण्टे से अधिक किसी मजदूर से काम लेने का नियम नहीं है, पर उस समय इंग्लैण्ड में उनसे १४ घण्टे काम कराया जाता था और इसके बदले में जो मजदूरी मिलती थी उसमें पेट भर भोजन भी मुश्किल से मिल पाता था।

इस अव्यवस्था को देखकर अनेक न्याय-परायण और मानवतावादी व्यक्ति इसका विरोध करने वाले निकल आये

१.४६ मरकर भी अमर हो गये जो

थे । उनका कहना था कि सब अमीर लोग मजदूरों का खून चूसकर मौज उड़ाते हैं और करोड़पति बनते जाते हैं, तो मजदूर भी संगठन करके अपने अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा क्यों न करें ? उनको आन्दोलन करके राज्य से अपनी रक्षा और न्यायोचित माँगों की पूर्ति कराने का प्रयत्न करना चाहिये ।

जस्ते के कारखाने में स्त्री-मजदूरों की हालत बड़ी दयनीय थी । उनको वहाँ चौदह घण्टे तक कठिन काम करके थककर चकनाचूर हो जाना पड़ता था । फिर वहाँ से आकर घर का काम भी करना पड़ता था । वे बड़ी दुःखी थीं और कारखाने के प्रबन्धकर्त्ताओं के व्यवहार की शिकायत करती थीं । उनको सलाह दी गई कि अपना संगठन बनाकर एक साथ अपनी माँग मालिकों के सामने रखनी चाहिये, अगर वे उस पर ध्यान न दें तो हड़ताल कर देनी चाहिये । जब उनका नुकसान होगा तो झखमार कर मजदूरों की माँगें स्वीकार करेंगे ।

इस प्रकार उदार और मानवीय अधिकारों से प्रेरित विचार उस समय अनेक न्याय-परायण और समतावादी सज्जन प्रकट करने लगे थे । इनमें हाइण्डमैन, बर्नार्ड शॉ, विलियम मोरिस आदि जैसे महानुभाव थे जिनका नाम आज समाजवाद की जड़ जमाने वालों के रूप में लिया जाता है । इन्होंने इंग्लैण्ड में 'फेबियन सोसायटी' नाम की संस्था खोल रखी थी जो जनता में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करती थी और मजदूरों से आन्दोलन कराती रहती थी ।

श्रीमती बेसेण्ट भी गरीब मजदूरों की दुर्दशा को देखकर बड़ी दुःखी होती थीं और उनके लिये श्री ब्रैडला के साथ हर तरह का प्रयत्न करती रहती थीं । उन्होंने जब 'फेबियन सोसायटी' के कामों को देखा तो उसको मजदूरों के लिये अधिक हितकारी और दृढ़तापूर्वक काम करने वाला पाया । यद्यपि श्री ब्रैडला और उनके स्वतन्त्र दल वाले भी मजदूरों के हितैषी थे और समाज सेवा के रूप में उनकी अनेक प्रकार से सहायता करते रहते थे, पर 'फेबियन सोसायटी' वाले सोशलिस्ट (समाजवादी) इस कार्य को एक राजनीतिक आन्दोलन के रूप में करते थे और उनका मुख्य 'शस्त्र' हड़ताल था । इन लोगों में कई अराजकतावादी भी थे, जो मौजूदा सरकार को बिल्कुल हटाकर गरीब और अमीरों को समान अधिकार दिये जाने का प्रतिपादन करते थे । इस प्रकार 'स्वतन्त्र दल' वाले और 'सोशलिस्ट' दोनों ही मजदूरों की दशा सुधारने के लिये प्रयत्नशील थे, पर कार्यप्रणाली की भिन्नता के कारण एक-दूसरे के विरोधी बन गये थे ।

सन् १८८३ में श्रीमती बेसेण्ट का इस आन्दोलन से विशेष रूप से परिचय हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि इसमें सम्मिलित होकर गरीबों की दशा सुधारने का प्रयत्न अधिक जोरों से करना चाहिये, पर अब तक ये श्री ब्रैडला के साथ काम कर रही थीं, वे 'सोशलिस्ट' नहीं थे वरन् अनेक बातों में उनका साम्यवादियों के साथ बहुत कुछ मतभेद था, इसलिये सोशलिस्टों के साथ मिलकर काम करने पर श्री ब्रैडला को छोड़ना पड़ता था । आरम्भ में तो इनको यह परिस्थिति बड़ी कष्टकर जान पड़ी, पर गरीबों का इनके हृदय में इतना अधिक स्थान था कि अन्त में ये श्री ब्रैडला से पृथक् होने को भी तैयार हो गईं । 'फेबियन समाज' में जिस मनोभाव को लेकर आई उसका वर्णन करते हुए उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—

“औरों के समान मैं भी इन दुर्दशाग्रस्त और उपेक्षित मजदूरों की सहायता करने लगी । इन अभागों के नाले-नालियों के समान गन्दे घरों में घुसकर मैं सोचती कि क्या इस रोग की कोई औषधि नहीं है ? क्या यह गरीब अमीर का भेद सदा ऐसा ही बना रहेगा ? मेरा विश्वास था कि ऐसा हर्गिज नहीं होना चाहिये । दरिद्रता का मुख्य कारण अज्ञान और दूषित सामाजिक संगठन है । यदि मजदूरों के बच्चों को रहने के लिये अच्छा स्थान मिले, शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद, पढ़ने-लिखने की ठीक व्यवस्था की जाये, तो आगे चलकर ये भी सभ्य और सुशिक्षित नागरिक बन सकते हैं । पर इनको अपने माता-पिता के साथ ऐसी अत्यन्त गरीबी और गन्दगी में रहना पड़ता है कि उन्नति के सब रास्ते रुक जाते हैं और जो थोड़ी बहुत शिक्षायें प्राप्त कर लेते हैं वह भी प्रभावहीन हो जाती है ।”

पर 'फेबियन सोसायटी' के आन्दोलन का सफल होना भी सहज न था । उस समय सरकार में पूरी तरह अमीरों का बोलवाला था और सारा संसार उनकी मुट्ठी में रहता था इसलिये मजदूर-आन्दोलन में भाग लेने वाले राज्यद्रोही समझे जाते थे और उनके साथ बड़ा अनादरपूर्ण व्यवहार किया जाता था ।

फिर भी श्रीमती बेसेण्ट ने इस नये संगठन में शामिल होकर जोर-शोर से मजदूरों में काम करना शुरू किया । इनको आन्दोलन सम्बन्धी अनुभव पहले से ही था, इसलिये सभा-समाजों में इनके भाषण का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ता था । उन्होंने मजदूरों को समझाया कि वे पार्लियामेंट के चुनावों में अपने साथ सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों को ही 'वोट' दें । जब कभी ऐसा अवसर अग्ये तो भाषणकर्त्ता से यही प्रश्न करें कि वह गरीबों की क्या सुधारने की क्या

काम करेंगे ? मजदूरों को अपने हितैषियों को ही पार्लियामेंट में अधिकाधिक संख्या में भेजना चाहिये जिससे वहाँ वे उनकी दशा में सुधार करने वाले कानून बनवा सकें ।

उन दिनों रूस में भी मजदूर-आन्दोलन बहुत जोरों पर था और वहाँ की निरंकुश सरकार न्याय की माँग करने वालों का घोर दमन कर रही थी । रूस में राजनीतिक कैदियों पर राक्षसी अत्याचार किये जाते थे और उनको साइबेरिया के रेगिस्तान में ठण्ड में चलने के लिये भेज दिया जाता था । बहुतों को देश निकाला भी दे दिया गया था । इन अत्याचारों का समाचार फैलने पर इंग्लैण्ड में सहायता के लिये एक कमेटी बनाई गई । इस प्रकार के आन्दोलन में भाग लेना उस समय बड़े साहस का काम था । यह सभा श्रीमती बेसेण्ट के मकान पर ही की गई ।

मजदूर आन्दोलन में सहायता देने के लिये श्रीमती बेसेण्ट ने 'अबर कार्नर' नाम का अखबार निकालना आरम्भ किया जिसमें कारखाने वालों के अन्यायपूर्ण कार्यों और सरकारी दमन के समाचार रहते थे । इसमें इन्होंने मालिकों की दुरभिसन्धियों का भंडाफोड़ करते हुए बतलाया कि "कारखाने वाले जिस प्रकार बन पड़ता है मजदूरों की मजदूरी घटाने की चेष्टा करते रहते हैं । जो कोई उनका विरोध करने की हिम्मत करता है उसे उसी समय निकाल दिया जाता है । इससे देश में बेकारों की संख्या बढ़ रही है और देश भर में अशान्ति का वातावरण तैयार हो रहा है ।" उस समय एक मजदूर ने निराशा के भाव से इनसे कहा था—“अब हम इस दशा को सहन नहीं कर सकते । हम काम करते हुए भूखों मरते ही हैं, तो बिना काम किये ही क्यों न भूखों मर जायें ?”

सरकार भी इस काम में मालिकों का साथ देती थी, क्योंकि उस समय अमीरों की ही सरकार थी । 'फेबियन सोसायटी' इस सम्बन्ध में मजदूरों में पहले से ही आन्दोलन कर रही थी । परिणाम यह हुआ कि सब मजदूरों में ज्यादा जोश बढ़ गया तो पुलिस ने सोशलिस्टों की सभाओं को सार्वजनिक स्थानों में होना रोक दिया । ऐसी सभाओं में पुलिस डण्डे का प्रयोग करके दर्शकों को तितर-बितर कर देती थी ।

इस अवसर पर श्रीमती बेसेण्ट अद्भुत साहस का परिचय दे रही थीं । सरकार और 'स्वतन्त्र विचार दल' दोनों उनके विरोधी हो रहे थे । फिर भी वे निरन्तर मजदूर-संगठन का काम बढ़ाती रहीं । उन्होंने प्रत्येक शहर के कुछ लोगों की एक ऐसी नामावली तैयार की जिनका काम मिरफतार होने वाले मजदूर-नेताओं को जमानत देकर छुड़ा लाना था । इसके साथ ही मुकद्मा लड़ने के लिये

एक दूसरी कमेटी बनाई गई । इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने से मजदूरों में तेजी के साथ आन्दोलन बढ़ने लगा ।

इसी वर्ष (सन् १८८७) लन्दन में 'खूनी रविवार' की प्रसिद्ध घटना हुई । इंग्लैण्ड के गृह-विभाग के मन्त्री के यह आश्वासन देने पर कि मजदूर खुले स्थानों में सभा कर सकते हैं । १३ नवम्बर को ट्रेफ़लगर स्क्वायर में एक बहुत बड़ी सभा का आयोजन किया गया । यह निश्चित किया गया कि शहर की सभी मजदूर संस्थाएँ अपना अलग-अलग जुलूस बनाकर सभा-स्थल पर आवें और अगर पुलिस इस कार्य में हस्तक्षेप करे तो वे उसके विरोध में सत्याग्रह करें, पर जब सभा-स्थल पर भीड़ इकट्ठी हो गई तो एकाएक पुलिस के घुड़सवारों ने हमला कर दिया । अनेक व्यक्ति घोड़ों से कुचले और भालों से मारे गये । यह देखकर श्रीमती बेसेण्ट ने लोगों को लौट जाने की घोषणा कर दी तो भी कितने ही लोग मारे गये और सैकड़ों घायल हो गये ।

इस घटना को सभी न्यायाधीश लोगों ने 'जनता के साधारण न्याय' का युद्ध बतलाया और चारों तरफ सरकार और पुलिस की निन्दा होने लगी । जनता ने पुलिस का बहिष्कार करना आरम्भ कर दिया । पुलिस भी इनके साहस को देखकर दंग रह गई । अब सरकार को भी अनुभव होने लगा कि यदि यही दशा अधिक समय तक बनी रही तो स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो जायेगी । इसलिये कुछ दमदिलासा की बातें कहकर उस घटना के जिम्मेदार पुलिस अप्सर का तबादला कर दिया गया ।

अब 'फेबियन-समाज' ने अपने आन्दोलन को क्रियात्मक रूप देना आरम्भ कर दिया । उसकी एक सदस्या ने अपने भाषण में यह सुझाव पेश किया कि "हम सबको उन्हीं दुकानों से माल खरीदना चाहिये जहाँ मजदूरों को उचित वेतन देने वाले कारखानों का ही माल बेचा जाता हो ।" इसके पश्चात् दूसरे वक्ता ने बतलाया कि दियासलाई बनाने वाले 'ब्रिवाट एण्ड कं.' कारखाने में इतना अधिक मुनाफा होता है कि उसके ७५ रु. का शेयर इस समय २७० रु. का मिल रहा है । पर मजदूरों की ऐसी खराब हालत है कि एक मजदूर लड़की को सप्ताह में ३ रु. दिया जाता है जिसमें से १.५० रु. कमरे का किराया दे देना पड़ता है । शेष १.५० रु. में वह सात दिन कैसे खाती-पीती होगी यह विचारणीय विषय है ?

इन सब बातों को श्रीमती बेसेण्ट ने 'लन्दन में सफेद गुलामी' शीर्षक लेख में प्रकाशित कर दिया और लोगों से इस कम्पनी की दियासलाईयों को काम में न लाने की अपील की । इस पर कम्पनी ने मानहानि का मुकद्मा चलाने की

१.५१ मरकर भी अमर हो गये जो

घमकी दी, पर श्रीमती बेसेण्ट ने इसकी कुछ परवाह नहीं की और अपने आन्दोलन को बराबर चलाती रहीं। इस बीच में उस कारखाने की तीन मजदूर औरतों ने आकर खबर दी कि “हम से कहा जाता है कि तुम कागज पर दस्तखत कर दो कि हमारी अवस्था सन्तोषजनक है, हमको कोई कष्ट नहीं है, श्रीमती बेसेण्ट की बातें झूठी हैं। आपने हमारे हित के लिये आवाज उठाई है, हम आपके विषय में झूठी बात कैसे कह सकती हैं? कम्पनी वाले हमको इसके लिये बार-बार परेशान कर रहे थे। जब हमने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया तो उन्होंने हमारी मुखिया को बर्खास्त कर दिया।” इस घटना के बाद यह आन्दोलन ऐसे जोर से भड़का कि कम्पनी की १४०० मजदूर स्त्रियों ने एक साथ हड़ताल कर दी।

इस घटना को लेकर श्रीमती बेसेण्ट ने ऐसा धुँआधार आन्दोलन आरम्भ किया कि हड़तालियों की हर तरफ से सहायता की जाने लगी। श्री ब्रैडला ने भी इस सम्बन्ध में पार्लियामेंट में अनेक प्रश्न किये। हड़तालियों का एक प्रतिनिधि मण्डल पार्लियामेंट के अन्य उदार मेम्बरों से मिला। मजदूरनियों भी दृढ़ रहीं। इससे अन्त में कम्पनी को झुकना पड़ा और अधिक मजदूरी, काम करने का कम समय, जुर्माना की प्रथा बन्द आदि माँगें उसको स्वीकार करनी पड़ीं।

स्वयं अभावग्रस्त स्थिति में रहकर भी गरीब और अन्यायों से पीड़ित व्यक्ति के लिये दिन-रात परिश्रम करना तथा सत्ताधारी लोगों के विरोध का खतरा भी उठाना बेसेण्ट जैसी निःस्वार्थ समाज-सेविकाओं का काम होता है। हम सबको भी सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में इसी प्रकार का मनोभाव रखकर प्रविष्ट होना चाहिये। इसमें लाभ, यश अथवा प्रभाव बढ़ने की भावना रखना स्वार्थयुक्त मनोवृत्ति का प्रमाण है। ऐसे व्यक्ति न तो जनता का विशेष हित कर सकते हैं न स्वयं कभी इस क्षेत्र में ऊँचा स्थान पा सकते हैं। इसलिये जनता के सेवकों को श्रीमती बेसेण्ट के चरित्र से यह शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये कि वे मार्ग की कठिनाइयों से कभी विचलित न हों और उद्देश्य की पवित्रता का सदैव पूरा ध्यान रखें। इस प्रकार काम करने वालों को अन्त में अवश्य सफलता मिलती है।

थियोसोफिकल सोसायटी में प्रवेश

अब श्रीमती बेसेण्ट के जीवन में एक नया और बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि—“मजदूर आन्दोलन में काम करते हुए मेरे हृदय में यह भावना दृढ़ होती जाती थी कि सामाजिक बुराइयों को दूर करने की कोई दूसरी औषधि

भी होनी चाहिये। समाजवादियों के प्रयत्न से मनुष्य की आर्थिक दशा सुधर सकती है, पर सब लोग आपस में ऐक्य भावना रखने लगे, ‘मानव बन्धुत्व’ के सिद्धान्त को हृदयंगम करके आत्म-त्याग और आन्तरिक भक्ति के साथ सेवा करने लगे, इसके लिये किसी और बात की भी आवश्यकता है। मैं सोचा करती थी कि इससे अधिक उदार विचारों वाली सामाजिक-संस्था किस प्रकार बनाई जा सकती है। उस समय मैं बहुत निराश हो जाती थी जब इस असली सुधार का कोई साधन दिखलाई नहीं देता था।

“धीरे-धीरे मेरी समझ में यह आने लगा कि मैंने संसार और जीवन के विषय में जो प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्त ग्रहण कर रखे हैं वे अपूर्ण हैं। इस समय मन की विद्या (मेस्मरेजिम, हिप्नोटिज्म आदि) तेजी से बढ़ती जाती थीं। कृत्रिम निद्रा उत्पन्न करके दिमाग से दूर-दूर की बातें कहलवा देना एक आश्चर्यजनक बात जान पड़ती थी। मैं तो अभी तक शरीर को ही असली चीज समझती थी इसलिये यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आया। मैंने इस सम्बन्ध में पता लगाने का निश्चय किया और इसके साहित्य का अध्ययन और मनन करने लगी।”

श्रीमती बेसेण्ट को यह ‘असली ज्ञान’ १० मई, १८८६ को प्राप्त हुआ जब उन्होंने मैडम ब्लवटस्की की ‘सीक्रेट डॉक्टरिन’ (छिपा सिद्धान्त) नामक पुस्तक पढ़ी। उसी समय से इनके भीतर ‘थियोसोफी’ या ‘दैवी ज्ञान’ का प्रकाश फैलने लगा। इसके एक दिन बाद ही इनकी भेंट मैडम ब्लवटस्की से हुई, जो उन दिनों लन्दन आई हुई थीं। उस भेंट के समय इनको ऐसा जान पड़ा कि मैडम के शरीर से एक शक्ति-सी निकल कर मेरे शरीर में प्रवेश कर गई। इनकी समझ में आ गया कि “दुनिया की सभी चीजों के पीछे एक अदृश्य आत्मा बैठी है। यही देवता या ईश्वर है, हम स्वयं भी ईश्वर ही हैं।” इसके बाद ही वे मैडम ब्लवटस्की की शिष्या बन गईं। एक पक्की निरीश्वरवादी को आस्तिक बना देने में यूरोप भर के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और इसे मैडम ब्लवटस्की की एक बहुत बड़ी सफलता माना गया।

भारत में शिक्षा प्रचार का कार्य

इसके कुछ समय पश्चात् सन् १८९३ में श्रीमती बेसेण्ट इसी खोज में अध्यात्म-विद्या की जन्म-भूमि भारत में आ गईं और यहीं से उन्होंने अध्यात्म तथा जन-सेवा के समन्वय का कार्यारम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने शिक्षा की तरफ ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि यहाँ पर अंग्रेजी सरकार तथा ईसाइयों की शिक्षा संस्थाओं में जिस ढंग से पढ़ाया-लिखाया जाता है, वह बड़ा त्रुटिपूर्ण है। उसके

फलस्वरूप यहाँ के युवकों का ध्यान अपने धर्म की तरफ से हटता जाता है और अपनी संस्कृति तथा पूर्वजों का सम्मान भी उनकी दृष्टि में कम होता जाता है। श्रीमती बेसेण्ट स्वयं लन्दन में स्कूल चला चुकी थीं और वहाँ 'स्कूल बोर्ड' नामक संस्था की सदस्या भी रह चुकी थीं। उस अनुभव के आधार पर इन्होंने इस देश में भी एक स्कूल खोलने का विचार किया जिसमें हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति की शिक्षा देते हुए ऊँची से ऊँची आधुनिक शिक्षा भी दी जाये। इस उद्देश्य से काशी में 'सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की गई। इसके लिये उन्होंने समस्त भारत का दौरा करके चन्दा इकट्ठा किया। महाराजा बनारस ने नगर के बीच में एक काफी बड़ा स्थान दे दिया, यह कॉलेज बहुत वर्षों तक भारतीय युवकों को राष्ट्रीय दृष्टि से उपयोगी शिक्षा देता रहा और अन्त में इसी को श्री मदन मोहन मालवीय ने अपने प्रबन्ध में लेकर 'हिन्दू विश्वविद्यालय' के रूप में परिवर्तित कर दिया।

स्त्री शिक्षा की महत्ता

लड़कों के लिये 'सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलेज' की स्थापना करने के बाद आपने लड़कियों की शिक्षा की तरफ ध्यान दिया। उस समय लड़कियों को आधुनिक ढंग की शिक्षा दिलाना तो दूर साधारण हिन्दी पढ़ाने की भी व्यवस्था बहुत कम थी। अधिकांश लोग तो स्त्री-शिक्षा के विरोध करने वाले ही थे। श्रीमती बेसेण्ट ने लोगों की इस हानिकारक मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए कहा—

“जब तक तुम लड़कियों को नहीं पढ़ाओगे तब तक भारत का उद्धार नहीं हो सकता। जब तक भारतीय मातायें अपने पूर्व गौरव को न जानेगी तथा अपने बच्चों को पुरानी सभ्यता की बातें नहीं बतलायेंगी कि भारत पहले क्या था और क्या हो गया, जब तक वे प्राचीन समय की स्त्रियों के समान न हो जायें, जब तक वे अपनी मातृभूमि को हृदय से प्यार न करने लगें तब तक भारत उतना ही कमजोर रहेगा, जितना आज है। जब तक तुम्हारे पुत्रों और पुत्रियों की योग्यता भविष्य में काम करने के लिये नहीं बढ़ जाती है, तब तक तुम यह न समझ लो कि भारत के पुरुषों में ही याज्ञवल्क्य ऋषि जैसे विद्वान् नहीं थे। स्त्रियों में भी उनकी स्त्री मैत्रेयी जैसी पण्डिता थी, जब तक तुम यह न जान लो कि प्राचीन काल की भारतीय स्त्रियाँ वेद-मंत्रों की रचना किया करती थीं। जबकि आजकल स्त्रियों को उनके सुनने का भी अधिकार नहीं है—जब तक तुम इन प्राचीन आदर्शों पर ध्यान देकर आगे नहीं बढ़ोगे तब तक भारत कभी नहीं उठ सकता।”

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हिन्दू-कॉलेज में ही कन्याओं को पढ़ाने का एक विभाग खुलवा दिया। कुछ समय बाद थियोसोफिकल सोसायटी की तरफ से एक बड़ा लड़कियों का स्कूल खुलवाया जो अभी तक एक प्रसिद्ध शिक्षा संस्था मानी जाती है।

सन् १९०७ में आप 'थियोसोफिकल सोसायटी' की प्रधान चुन ली गईं। तब से अनेक बार यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया की यात्रा करके उस समाज का संगठन और प्रचार करती रहीं। इतनी लम्बी यात्रायें करना, साथ ही व्याख्यान देना और संगठन को मजबूत बनाना, बहुसंख्यक पुस्तकें और सामयिक पत्रों के लिये प्रतिदिन घण्टों लिखते रहना, भारत के राजनीतिक आन्दोलन में भी भाग लेते रहना—ये सब काम इतने बड़े थे कि लोगों को इनकी कार्य-क्षमता पर आश्चर्य होता था। ये अपना काम बड़ी पूर्णता से करती थीं और चलती हुई रेल में भी कुछ न कुछ लिखने-पढ़ने का काम करती रहती थीं। इनके नेतृत्व में 'थियोसोफी समाज' ने बहुत उन्नति की, भारत और अन्य देशों में शिक्षा की उन्नति के लिये इन्होंने 'थियोसोफिकल शिक्षण ट्रस्ट' की स्थापना की जो जगह-जगह नये स्कूल खोलकर शिक्षा का प्रचार करता रहता है।

भारत में 'होमरूल' आन्दोलन

भारतवर्ष में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने के लिये श्रीमती बेसेण्ट ने सन् १९१३ में 'कामन वील' नामक साप्ताहिक पत्र अंग्रेजी में निकालना आरम्भ किया। इसका उद्देश्य अध्यात्म का समयानुकूल रूप में विवेचन करना तथा भारतवासियों में अपने राजनीतिक अधिकारों का ज्ञान फैलाना था। यह पत्र जब तक चला अपने उच्च विचारों के कारण इसका देश और विदेश में सर्वत्र सम्मान हुआ।

इसके कुछ ही समय बाद आपने 'मद्रास स्टैण्डर्ड' पत्र को खरीद कर 'न्यू इण्डिया' के नाम से एक दैनिक पत्र प्रकाशित किया। श्रीमती बेसेण्ट स्वयं ही इसकी सम्पादिका थीं और इसका आदर्श (मोटो) था—“देश, नरेश, महेश के लिये संघर्ष।” इसका आशय यह था कि श्रीमती बेसेण्ट भारतवर्ष को राजनीतिक अधिकार दिये जाने की पूर्ण समर्थक थीं, पर वे यह नहीं चाहती थीं कि भारत का सम्बन्ध इंग्लैण्ड से बिल्कुल ही टूट जाये। इस कारण बहुत से उग्रवादी भारतीय आपके 'होमरूल' आन्दोलन से सहमत नहीं थे, पर आज जब हमको पूर्ण स्वाधीनता का अधिकार प्राप्त हो चुका है तब भी 'ब्रिटिश कॉमन वेल्थ' से भारत का सम्बन्ध तोड़ा नहीं गया है और उसकी कॉन्फ्रेंसों में यहाँ के प्रधानमंत्री सदस्य के रूप में भाग लेते रहते हैं। इस दृष्टि से श्रीमती बेसेण्ट की सम्मति सर्वथा निस्सार नहीं

१.५३ मरकर भी अमर हो गये जो

थी। 'न्यू इण्डिया' की एक विशेषता यह भी थी कि अंग्रेजी का दैनिक होने पर भी राष्ट्रीय-भाषा के नाते उसमें एक कौलम हिन्दी का भी रखा जाता था।

यद्यपि अनेक भारतीय राजनीतिज्ञों ने श्रीमती बेसेण्ट के आन्दोलन से असहमति प्रकट की, पर फिर भी भारतीय राजनीति में उसका काफी प्रभाव पड़ा। इनको आन्दोलन करने का जो अभ्यास इंग्लैण्ड में हो चुका था उसी का परिचय उन्होंने यहाँ भी दिया, कुछ ही समय में इन्होंने लेखों और पत्रों की झड़ी लगा दी। लन्दन में भी पत्रों बाँटकर भारतीय जनता की 'माँग' का संदेश प्रचारित किया जाने लगा। "भारत स्वाधीनता के लिये कैसे उद्यत हुआ?" और "भारत एक राष्ट्र" जैसी पुस्तकें लिखकर जनता को उत्साहित किया जाने लगा। इसके साथ ही वे देश में चारों तरफ दौरा करके व्याख्यानों द्वारा भारत के राजनीतिक अधिकारों के लिये जोरदार आन्दोलन चलाने लगीं।

इनके प्रचार कार्य का प्रभाव सरकार पर शीघ्र ही पड़ा और १० जुलाई सन् १८१६ को बम्बई के गवर्नर ने इनको बम्बई प्रान्त में आने और भाषण करने से रोक दिया। सितम्बर सन् १८१६ में मध्य प्रान्त की सरकार ने भी उनको अपने प्रान्त में आने पर रोक लगा दी—इन घटनाओं से जनता में काफी उत्साह फैला और श्रीमती बेसेण्ट का प्रभाव बढ़ने लगा।

१६ जून, १८१७ को मद्रास के गवर्नर लॉर्ड पेण्टलेण्ड ने आपको बुलाकर कहा—“आप यह राजनैतिक आन्दोलन बन्द कर दें। इस विषय में हम भारतीय और अंग्रेज किसी में भेद नहीं कर सकते। अगर आपने हमारी सलाह को नहीं माना तो सरकारी हुक्म से आपके सब काम बन्द करा दिये जायेंगे।”

आपने उत्तर दिया—“गवर्नर साहब! आपको जो शक्ति भित्री हुई है उससे आप जो चाहे कर सकते हैं, मैं तो निराधार हूँ। पर मैं इतना कह देना चाहती हूँ कि ऐसा करके आप ब्रिटिश-राज्य की सेवा नहीं करेंगे वरन् उसको एक घातक धक्का लगायेंगे।”

श्रीमती बेसेण्ट ने अपने जीवन में कभी कायरता नहीं दिखाई थी। उन्होंने गवर्नर साहब का आशय समझ लिया और वे गिरफ्तारी के लिये तैयार हो गईं। वहाँ से वापस आते ही इन्होंने देशवासियों के नाम एक विदाई का संदेश लिखा, जिसमें कहा गया था—

मैं साफ लिख देना चाहती हूँ, क्योंकि ये मेरे अन्तिम शब्द हैं—“मैं एक जर्बर्स्टी की खामोशी व गिरफ्तारी में भेजी जा रही हूँ। मेरा कसूर यही माना गया है कि मैं भारत को प्यार करती हूँ और जगाने की कोशिश कर रही

हूँ, पर मेरा सिद्धान्त यह है कि इज्जत खोने से अच्छा आजादी खोना है।”

“मैं बूढ़ी हूँ पर मुझे विश्वास है कि मरने से पहले मैं भारत को स्वराज्य प्राप्त करते देख सकूँगी। यदि इस शानदार भविष्य को प्राप्त करने में मैं कुछ भी सहायता कर सकी तो मुझे पूरा सन्तोष हो जायेगा। ईश्वर भारत को बचावे। वन्देमातरम्।”

लाट साहब से मिलकर आने के घण्टे भर बाद ही इनको दो साथियों सहित नजरबन्द कर दिया गया। यह समाचार तुरन्त देश भर में बिजली की तरह फैल गया। चारों ओर विरोध सभायें होने लगीं और जो लोग श्रीमती बेसेण्ट से सहमत न थे वे भी सरकार को फटकारने लगे। इस घटना के फलस्वरूप अंग्रेजी माल के बहिष्कार का आन्दोलन जोर पकड़ गया और कितने ही लोग सत्याग्रह की चर्चा भी करने लगे। इसका प्रभाव सरकार पर भी पड़ा और २० अगस्त सन् १८१७ को भारत मन्त्री की तरफ से यह घोषणा की गई कि—“भारत में अंग्रेजी राज्य का उद्देश्य भारत को स्वराज्य का अधिकार देना है और इस सम्बन्ध में जाँच करने के लिये भारत मन्त्री मि. मोंटेग्यू शीघ्र ही भारत आवेंगे।” इसके कुछ समय पश्चात् सरकार ने श्रीमती बेसेण्ट को छोड़ दिया और जनता ने भी उनकी सेवाओं का आदर करके भारत का सर्वोच्च राष्ट्रीय सम्मान उनको प्रदान किया। सन् १८१७ में कलकत्ता कांग्रेस की अध्यक्षता वे ही बनाई गई।

श्रीमती बेसेण्ट हमारे उन देश-भाइयों के लिये अत्यन्त प्रेरणाप्रद हैं जो गई-गुजरी परम्पराओं के नाम पर अपना और समाज का सुधार करने के महान् उद्देश्य से विमुक्त रहते हैं। इस प्रकार के लोग बड़ी संकीर्ण मनोवृत्ति के होते हैं और संसार के अन्य देशों की तो बात ही क्या अपने पड़ोसियों तथा अन्य प्रान्त वालों को भी 'गैर' या 'परदेशी' समझा करते हैं, पर श्रीमती बेसेण्ट ने सात-आठ हजार मील की दूरी पर बसे हुए और भाषा, वेश, आचार-विचार आदि सब दृष्टियों से भिन्न भारत-देश से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया और इसकी इतनी सेवा की कि जिदानी 'भारतीय' होने का गर्व रखने वाले भी बहुत कम कर पाते हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि संसार में भारतवर्ष और भारतीय धर्म का गौरव बढ़ाने में जितना परिश्रम श्रीमती बेसेण्ट ने किया उतना शायद ही हममें से किसी ने किया होगा।

वे यद्यपि जन्म से ईसाई थीं और उनका विवाह एक पादरी से हुआ था, पर फिर भी उन्होंने अन्ध-परम्परा पर चलते रहने के बजाय 'सत्य' की खोज की और सब तरह

की हानि और कष्ट उठाकर भी जिस सिद्धान्त को सत्य समझा उसी का अनुसरण किया। इस प्रकार की परीक्षा प्रधान प्रवृत्ति और दृढ़ता पुरुषों में भी बहुत कम देखने में आती है।

उन्होंने स्त्री होते हुए भी जो महान उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे भी कम प्रशंसीय नहीं हैं। खासकर हमारे देश की महिलायें जो अब अपना कार्यक्षेत्र निज की गृहस्थी को ही मानती हैं और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना अनावश्यक—अनुपयुक्त बतलाती हैं, उनसे बहुत शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। श्रीमती बेसेण्ट ने तर्क और खोज का आश्रय लेकर धर्म और जन सेवा के सम्बन्ध में जो कार्य किया उसका

महत्त्व चिरकाल तक स्थिर रहेगा। अन्य सत्कार्यों के साथ निःसन्देह उन्होंने नारी-जाति के उत्थान में भी अनुपम कार्य किया है।

सन् १६२० से भारत देश के राजनीतिक क्षेत्र में महत्त्वा गौंधी का आविर्भाव हुआ। उनके सिद्धान्तों से मतभेद होने के कारण श्रीमती बेसेण्ट का प्रभाव भारतीय राजनीति पर से घटने लग गया तो भी ये अपने ढंग से जीवन के अन्तिम समय तक देश सेवा और जन-कल्याण के कार्य करती रहीं और सितम्बर सन् १६३३ में ८७ वर्ष की अवस्था में सार्वजनिक सेवा करते हुए ही आपका देहावसान हुआ।

भारतीय संस्कृति की अनन्य आराधिका भगिनी निवेदिता

कुमारी मार्ग्रेट एलिजाबेथ नोबुल का जन्म २८ अक्टूबर सन् १८६७ को आयरलैण्ड के एक प्रसिद्ध पादरी घराने में हुआ था। इनके पिता का नाम सैम्युअल रिचमण्ड तथा माता का नाम मेरी हैमिल्टन था जिनसे उन्हें धार्मिक प्रेरणा मिली। उनके नाना स्वाधीनता आन्दोलन के एक नेता थे जिनसे उन्हें स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। इनकी शिक्षा भी धार्मिक वातावरण में हुई जिससे उनमें धर्म के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। साथ ही उन्हें ईसाई मत के प्रति कुछ शंका भी उत्पन्न हो गई अतः वे सत्य की तलाश में रहने लगीं। अध्ययन के बाद उन्हें १७ वर्ष की आयु में एक ऐसे क्षेत्र में अध्ययन का कार्य दिया गया, जहाँ गरीब मजदूरों की संख्या अधिक थी अतः उनके सम्पर्क से उन्हें गरीबों की दशा सुधारने तथा सेवा करने का भी अवसर मिला। बाद में उन्होंने बालकों के लिये रुस्किन स्कूल भी खोला, जिसमें खेल-खेल में शिक्षा देने का नवीन प्रयोग चलाया। जब सन् १८८५ में वे स्वामी विवेकानन्द के सम्पर्क में आईं, तब स्वामी जी ने उस स्कूल को देखकर उनकी बड़ी प्रशंसा की। अपनी जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये स्वामी जी ने उन्हें पूरा अवसर दिया और उनकी ८ वर्षों की लालसा पूर्ण हुई। स्वामी जी का प्रथम भाषण सुनने के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—

“ऐसे चिन्तनशील व्यक्ति का दर्शन मुझे आज तक कभी नहीं हुआ था।” दूसरे दिन स्वामी जी के ये वाक्य उनके हृदय में प्रवेश कर गये। “जो अमृत और असीम है वही अभूत है, वही शाश्वत है। उसे छोड़कर संसार की

समस्त विषय वस्तु नाशवान है, अस्थायी है, दुःखयुक्त है। इतना होते हुए भी वे स्वामी जी के उपदेशों के बाद अपनी शंकाओं का समाधान कराती रहीं। उन्होंने इस विषय में लिखा—स्वामी जी के जीवन में ज्ञान, भक्ति और साधनों का जो प्रकाश है वह अनेकों पीड़ित, दुःखित और निराश व्यक्तियों को जीवन और आशाएँ प्रदान करने वाला है। इस तरह का धर्म और संस्कृति-युक्त जीवन ही सच्चा जीवन और कल्याण का मार्ग हो सकता है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण को अर्जुन, बुद्ध को आनन्द, श्री रामकृष्ण को विवेकानन्द शिष्य रूप में प्राप्त हुए थे उसी प्रकार विवेकानन्द को भगिनी निवेदिता मिलीं। उनका असली नाम मार्ग्रेट नोबुल था और वे आयरलैण्ड के एक फौजी अफसर की कन्या थीं। जन्म के समय ही उनकी भक्तिमयी माता ने निश्चय कर लिया था कि इस कन्या को ईश्वर की सेवा में निवेदित कर दूँगी किन्तु वह कार्य स्वामी विवेकानन्द ने किया। जब वे विदेश यात्रा करते समय इंग्लैण्ड पहुँचे तब अन्य महिलाओं के समान मार्ग्रेट भी इनका भाषण सुनने पहुँची और इतनी अधिक प्रभावित हुई कि उनके साथ ही भारत आने का आग्रह करने लगीं। उसी समय से उन्होंने स्वामी जी को अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया।

प्रथम दर्शन के साथ ही उनके भीतर छिपे हुए संस्कार जाग उठे। उन्होंने लिखा है—“मेरे गुरु ने मेरी उत्सुकता जागृत कर दी। उस समय भी मेरा मन आध्यात्मिकता से पूर्ण नहीं था बल्कि आधुनिक संस्कारों से युक्त था।

१.५५ मरकर भी अमर हो गये जो

उनके भाषण ने मेरे हृदय के तारों को नहीं छेड़ा किन्तु गुरु की कृपा से यह सब सम्भव हो सका ।” गुरु की अप्रतिम कृपा और प्रेम, शिष्य की नम्रता और भक्ति दोनों ने मार्ग्रेट को निवेदिता बना दिया । वे आयरलैण्ड में उत्पन्न हुई थीं किन्तु, उन्होंने भारत को अपनी जन्म-भूमि से भी अधिक प्रेम और सेवा अर्पण की । एक दृष्टि में विवेकानन्द ने पहचान लिया कि इस बालिका में कितनी प्रतिभा है, उसका क्या स्थान है और क्या भविष्य है ? जिस प्रकार श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द को तैयार किया था उसी प्रकार विवेकानन्द ने निवेदिता को अपने कार्य के लिये तैयार किया और केवल उनका नाम ही परिवर्तन नहीं किया किन्तु सम्पूर्ण जीवन को ही परिवर्तित कर यह सिद्ध कर दिया कि महापुरुषों के सम्पर्क में आकर अपनी प्रतिभा और योग्यताओं को अद्भुत ढंग से विकसित किया जा सकता है ।

भारत में गुरु और शिष्य का आध्यात्मिक सम्बन्ध सब सम्बन्धों से श्रेष्ठ होता है । अन्य सांसारिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर दो आत्माओं का यह आध्यात्मिक सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है । गुरु ईश्वर का रूप होता है । गुरु की आज्ञा शिष्य के लिये वेद-वाक्य के समान होती है । स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में—“गुरु का स्थान माता-पिता से भी ऊँचा है । वह आध्यात्मिक शिक्षक और सर्वोपरि ईश्वर दोनों का सम्मिलित स्वरूप है । गुरु शिष्य के हृदय के गुप्त तन्तुओं और गहराइयों को समझता है ।” शिष्य के जीवन में प्राण और प्रकाश फूँकने वाला गुरु ही सच्चा है पर शिष्य में भी अनुरूप पात्रता आवश्यक है । जहाँ यह संयोग मिल जाता है । गुरु-शिष्य के सम्बन्ध सार्थक हो उठते हैं ।

कभी-कभी शिष्य इन सब बातों को न समझकर उनके प्रति संशय और अविश्वास कर बैठता है किन्तु गुरु अपनी कृपा और प्रेम के कारण शिष्य के अपराधों को क्षमा कर उसे सब आपत्तियों से बचाता है । गुरु कभी-कभी शिष्य के प्रति कठोर भी हो जाता है किन्तु वह कठोरता भी माता के समान उसके हित में ही होती है । विवेकानन्द और निवेदिता का सम्बन्ध इसी प्रकार का था । उन्होंने एक पत्र में अपनी प्रिय शिष्या को लिखा था—“मैं मृत्युपर्यन्त तुम्हारे साथ रहूँगा । चाहे तुम भारत के लिये काम करो या न करो, चाहे तुम वेदान्त को मानो या छोड़ दो ।” हाथी के दाँत एक बार निकल आने पर फिर भीतर नहीं जाते ।

मार्ग्रेट की आत्मा सदैव सत्य की खोज में रहती थी । उनकी प्रखर बुद्धि कभी आशा और कभी निराशा के बीच झूलती रहती थी किन्तु उन्हें कोई नहीं सूझ रहा था । चेतना की इस संकटमय और उत्तेजित स्थिति के समय वे

स्वामी जी से मिलीं । उन्होंने प्रथम भेंट और विचार-विमर्श में यह अनुभव किया कि मनुष्य जो लक्ष्य लेकर धरती पर अवतरित होता है उसकी प्राप्ति में भारतीय अध्यात्म स्पष्ट सहायक हो सकता है । भारतीय धर्म, संस्कृति एवं उपनिषदों में वह सामर्थ्य है जो आत्मा को सन्तुष्टि और शाश्वत शान्ति प्रदान कर सकते हैं ।

उसी समय से मार्ग्रेट के मन में भारत के प्रति श्रद्धा और हिन्दू धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हो गई । उसका कारण बताते हुए वे लिखती हैं—“मैंने उनके मुख से किसी मत-विशेष का प्रतिपादन कभी नहीं सुना । समस्त मतों में निहित आधारभूत तत्त्वों को समझाने का प्रयास उन्होंने अवश्य किया था । उनके नाना ने एक बार भारत में ईसाइयत का प्रचार करने की प्रेरणा दी थी किन्तु स्वामी जी ने उन्हें भारत के निर्धनों की सेवा और निरक्षरों में ज्ञान की ज्योति जगाने तथा भारतीय नारियों को जागृत करने की प्रेरणा दी । इसके लिये मार्ग्रेट तुरन्त भारत जाने को उत्सुक थीं किन्तु स्वामी जी उनकी उत्सुकता को सुदृढ़ बनाने के लिये उन्हें रोकते रहे । एक पत्र में भारत से उन्होंने लिखा था—“यह निश्चित है कि संसार को एक बार झकझोर डालने की सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर सुप्त रूप से विद्यमान है । स्वाध्याय और साधना द्वारा उसे जागृत करने की मेरी हार्दिक इच्छा है ताकि तुम भारतीय नारियों को वर्तमान कुण्ठाओं और रूढ़वादिताओं से बचाने में मेरे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर सको । तुम्हें देखकर इस देश की महिलायें अपने आपको भीतर से झकझोरेंगी और कहेंगी “यदि कोई विदेशी नारी इस धर्म और संस्कृति से प्रेरित होकर सेवा के लिये अपना सब कुछ त्याग सकती है तो हम क्यों पीछे रहें ? भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान और भावी संतति को तेजस्वी बनाने के पुण्य मिशन में हम पीछे क्यों रहें ?”

भारत के कार्यों की कठिनाइयों की चर्चा भी स्वामी जी समय-समय पर किया करते थे जिससे मार्ग्रेट अपने मन को और भी पक्का करती जाती थीं । जब सब प्रकार से वे तैयार हो गईं तब उन्होंने उनकी परीक्षा लेने के लिये लिखा—“हम सभी के लिये तुम भारत आने की अपेक्षा इंग्लैण्ड में बैठकर उन्नति का कार्य कर सकती हो ।” किन्तु उससे निराश न होकर मार्ग्रेट भारत आने को बेचैन हुई । उन्होंने लिखा—“मुझे स्पष्ट बतायें कि क्या मेरा जीवन भारत के काम आ सकता है ? मेरी इच्छा है कि भारत मुझे जीवन की पूर्णता की शिक्षा को प्रदान करे ।” इस उत्कृष्टता की भावना को देखकर अन्त में स्वामी जी ने लिख दिया—“अब मैं निश्चित इस मत का हूँ कि भारत में कार्य

की दृष्टि से तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है ।” आवश्यकता एक मनुष्य की नहीं वरन् एक महिला की है जो सिंहनी के समान हो ।

इसी पत्र में उन्होंने कठिनाइयों का भी जिक्र किया था किन्तु मार्ग्रेट रुकने वाली नहीं थी । उसके पिता ने मानों भविष्यवाणी ही कर दी थी—जबकि उनकी माता को निर्देश दिया था—“भगवान की ओर से मार्ग्रेट को एक आह्वान आयेगा । उस समय तुम बाधक न बनना बल्कि उसकी सहायता करना ।” उनकी माता ने मार्ग्रेट के जन्म के पहले ही प्रार्थना करली थी, “यदि सन्तान सकुशल हो तो तेरी इच्छा । मैं तो अपने बच्चे को तेरे समर्पित करती हूँ ।” और उन्होंने सच्चे हृदय से अपनी पुत्री को भारतवर्ष की सेवा करने की अनुमति प्रदान कर दी ।

पात्रत्व की परीक्षा

मार्ग्रेट ने अपने एक मित्र को लिखा—“कल्पना करो कि स्वामी जी मुझे न मिले होते ! वे केवल हिमालय पर ही ध्यानरत रहते तो मैं कभी यहाँ नहीं होती ।” स्वामी जी ने भी अपनी अन्तर्दृष्टि से समझ लिया कि भारत में मेरा कार्य करने के लिये यही महिला उपयुक्त है । बस उन्होंने अपना जीवन उनके कार्य में लगाने की इच्छा प्रगट की तब स्वामी जी ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, “हाँ ! तुम्हारा स्थान भारत में ही है किन्तु अभी उसका समय नहीं आया । अभी तो उसके लिये अपने आपको तैयार करो ।” भारत लौटने पर स्वामी जी ने लिखा—“अब मुझे निश्चय हो गया है कि भारत में तुम्हारे लिये बहुत बड़ा भविष्य है । मुझे किसी पुरुष की नहीं किन्तु एक ऐसी स्त्री की आवश्यकता थी जो भारतवासियों और विशेषकर स्त्रियों के लिये सिंहनी के समान काम करे, भारत अभी महान् महिलाओं को उत्पन्न नहीं कर सकता । अभी उसे दूसरे देशों से उन्हें उधार लेना होगा । तुम्हारी शिक्षा, ईमानदारी, पवित्रता, प्रेम, निश्चय और सबसे ऊपर भारतीय संस्कृति के प्रति अडिग निष्ठा ऐसी आवश्यक महिला का रूप बना देता है जो भारत के लिये आवश्यक है ।”

स्वामी जी का यह कथन भी ध्वनित होता है और सत्य प्रतीत होता है । मार्ग्रेट बड़ी उत्साह और आशा के साथ भारत में आई । अपने गुरु के सम्मुख रहकर वे कार्य में जी-जान से लग गई किन्तु गुरु ने उन्हें कार्य के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट आदेश नहीं दिया । जब वे बहुत अधीर हो गई तो गंगाजी को इशारा करते हुए उन्होंने कहा—“तुम्हारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है उसे देखो, सुनो । कोई योजना मत बनाओ । पश्चिम के राजसी क्रिया-कलाप में पली हुई मार्ग्रेट को भारतीय गुरु की यह शान्ति पसन्द नहीं

आई । भारतीय आध्यात्मिकता उनकी आत्मा में नहीं समाई । स्वामी जी तो अपनी शिष्या को दृढ़ आधार पर स्थापित कर रहे थे और भारतीय ढाँचे में ढाल रहे थे । उसकी तेज प्रतिभा और स्वतन्त्र आत्मा को भारतीय आदर्शों के अनुरूप परिवर्तित कर रहे थे । विदेशी संस्कारों और दोषों को निकालकर उनमें भारत की सेवा और जीवन के आदर्श भर रहे थे ।

मार्ग्रेट के लिये मुख्य बाधा स्वामी जी का व्यक्तिगत आकर्षण ही था । उनके लिये स्वामी जी का व्यक्तित्व ही मुख्य था, भारत की सेवा नहीं । स्वामी जी की सेवा को ही वे भारत की सेवा समझती थीं किन्तु स्वामी जी चाहते थे कि मार्ग्रेट इस संकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठकर अनन्त और अव्यक्त चेतना के स्तर पर पहुँचे । इसलिये उन्होंने निवेदिता को साधना के पथ पर धीरे-धीरे आरुढ़ किया और कहा—“तुमको अपने पैरों पर खड़े होना है । मेरी या किसी अन्य की छाया में नहीं चलना है । प्रेम की उत्कटता तो ठीक है किन्तु उसके साथ कोई बन्धन उचित नहीं । किसी एक के प्रति अपना सब कुछ अर्पण करते ही हमारा कार्य समाप्त हो जायेगा । हमारा मार्गदर्शक शरीर नहीं आत्मा एवं व्यक्त-अव्यक्त कोई विशेष नहीं ब्रह्म होना चाहिये ।”

स्वामी जी का दूसरा प्रयत्न यह था कि निवेदिता भारतीय नारी की तरह शिक्षित हो । पश्चिमी शिक्षा और जीवन के संस्कारों से मुक्त होकर वे भारत को अपनी जन्मभूमि के समान प्रेम करने लगे । अभी भारत को उन्होंने बाहर से देखा है, उसकी अशिक्षा, दरिद्रता आदि ने उन्हें दुःख अवश्य पहुँचाया था किन्तु उन्हें पश्चिमी सभ्यता के अनुसार ऊपरी तरीके से दूर करना चाहती थीं, किन्तु स्वामी जी चाहते थे कि पहले वे अपने हृदय में झॉककर अपनी आत्मा को पहचानें, उससे शक्ति ग्रहण करें और फिर कार्य क्षेत्र में निःस्वार्थ और फलाज्ञा रहित ईश्वर सेवा में परिणत हो । उनका पहला कदम है—गुरु की आज्ञा का पालन । इसी अनुशासन से उनमें कार्य करने की स्वतन्त्रता उत्पन्न होगी ।

उन्होंने आज्ञा दी कि हिन्दू स्त्री के समान रहो । वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, रहन-सहन सभी में उनका अनुकरण करो । पुरुषों से सम्पर्क कम रखो, स्त्रियों से सम्पर्क बढ़ाओ । अपनी पश्चिमी धारणाओं और भावनाओं को नियन्त्रित रखो । अपने मन को ध्यान और एकाग्रता में लगाओ । मार्ग्रेट ने साड़ी पहनना, जमीन पर सोना और उँगलियों से खाना आदि सब भारतीय प्रथाओं का पालन करना प्रारम्भ किया । मार्ग्रेट ने सोचा—विलायत

१.५७ मरकर भी अमर हो गये जो

में भाषण देने वाले स्वामी विवेकानन्द और भारत में तपस्या में विरत और प्रशान्त विवेकानन्द में कितना अन्तर है, किन्तु अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति और भक्ति के कारण वे सब कठोर साधनाओं का पालन कर स्वामी जी की कठिन कसौटी पर खरी उतरा। दो माह बाद स्वामी जी ने मार्ग्रेट को अपनी शिष्या के रूप में दीक्षित कर उनका नाम निवेदिता रखा। उनकी माँ का संकल्प पूरा हुआ और वे सचमुच में निवेदिता बन गई। गंगा के उस पार देखते हुए स्वामी जी ने कहा—“उस जगह में शिष्यों के लिये आश्रम बनाना चाहता हूँ, गुरुजन, शिष्यों की योग्यतायें परखते हैं फिर उन्हें विकसित करने का मार्ग दर्शाते हैं। सुषुप्त शक्तियों का जागरण इसी तरह होता है। उन्हें निवेदिता की वक्तृत्व शक्ति का पता था अतः उन्होंने निवेदिता को भाषण देने के लिये प्रेरित किया। जब पहले-पहल कलकत्ते के एल्बर्ट हाल में भक्ति निवेदिता का सुन्दर और ऊँचा व्यक्तित्व भारतीय वेश-भूषा में जनता के सामने आया तब वह मन्त्रमुग्ध हो गई। स्वामी जी ने उनका परिचय कराते हुए कहा—“भगिनी निवेदिता भारत को इम्पैण्ड की नई देन है।” इसके बाद वे कालीघाट और ब्रह्म समाज की सभाओं में भाषण देने लगीं और पत्रों में लेख भी लिखने लगीं। वक्ता और लेखिका के रूप में उनकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी किन्तु इससे उनकी शान्ति तनिक भी भंग न हुई।

अब स्वामी जी ने निवेदिता को भारत का परिचय कराना शुरू किया। स्वामी जी अपने शिष्यों के साथ हिमालय की ओर रवाना हो गये। वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों, शान्ति तथा नीरवता से निवेदिता के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। स्वामी जी के अधिक निकट सम्पर्क में वे रहने लगीं किन्तु साथ ही उनके मन पर एक उदासीनता-सी छाने लगी क्योंकि स्वामी जी उससे बहुत कम बोलते और उनके काम में भी कोई रस न लेते थे। इससे उन्होंने अपने मन की व्यथा एक दिन स्वामी जी से कही। उसके उत्तर में उन्होंने कहा—“बात ठीक है, अब मैं वन में एकान्त सेवन के लिये जा रहा हूँ। लौटकर अपने साथ शान्ति लाऊँगा।” तब निवेदिता की समझ में आया कि अपने साथ मोह तोड़ने के लिये ही स्वामी जी ऐसा कर रहे हैं। जब स्वामी जी लौटे तो उनके साथ निवेदिता की शान्ति भी लौट आई। अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा—“मुझे आध्यात्मिकता की शिक्षा मिल रही है जो कि सबसे अधिक प्रासंग्य वस्तु है। अनुष्ण-प्रेम के समान ईश्वर-प्रेम प्राप्त करना अन्त्या के लिये आवश्यक है।”

इसी शिक्षा के लिये स्वामी जी ने यह सुशान्त स्थान और समय चुना था। निवेदिता को अपने पैरों पर खड़े

होना आवश्यक है इसी विचार से उन्होंने ऊपर से यह कठोरता धारण की थी। हिमालय में उन्होंने जो शान्ति प्राप्त की थी वही वे अपने शिष्यों को प्राप्त कराना चाहते थे। अभी निवेदिता की परीक्षा पूरी नहीं हुई थी। तपस्या पूरी करने के लिये स्वामी जी ने अमरनाथ की कठिन यात्रा की ओर अपने पैर बढ़ाये। निवेदिता उनके पीछे-पीछे चलीं। गुरु प्रसन्न और आनन्दित, शिष्या शान्त और थकित। अमरनाथ की तुषार-निर्मित अँधेरी गुफा में प्रवेश कर स्वामी जी ने शिवजी को प्रणाम कर निवेदिता के रूप में अपनी एकमात्र भेंट समर्पित की। इस सबका कोई अर्थ निवेदिता की समझ में नहीं आया कि उन्हें नंगे पैरों बर्फ पर चलकर ऊँचे पर्वतों को पार कराकर इस अँधेरी गुफा में क्यों लाया गया और उन्होंने गुरु से कड़े शब्दों में इसका प्रतिवाद किया। आँखों में आँसू भरकर स्वामी जी ने शान्त भाव से कहा—“निवेदिता मुझ में वह शक्ति नहीं कि जो तुम चाहती हो वह तुम्हें दे सकूँ। अभी तुम्हें यात्रा का महत्त्व नहीं मालूम होगा किन्तु बाद में इसका रहस्य प्रकट होगा। माँ काली को पुकारो वे तुम्हारे पास आकर तुम्हें शक्ति देंगी।

ये शब्द कहकर स्वामी जी अज्ञातवास में चले गये। अब निवेदिता ने काली माँ का ध्यान शुरू कर दिया। तब उन्हें अपनी गलती अनुभव होने लगी और समझ में आया कि उनके गुरु किस प्रकार उनके दोष का निराकरण कर उन्हें अपनी ओर खींचते जा रहे हैं। अपने दोषों को देखना भी महत्त्वपूर्ण साधना है। इस साधना से पूर्वकृत पापों और मानसिक दुर्भावों का परिमार्जन होता है। आत्म-चिन्तन और शोध की यह प्रक्रिया ही व्यक्ति को आत्म-सत्ता की महत्ता और सन्निध्यता तक पहुँचा देती है। साधक अपने आपको शक्ति का अकूत भण्डार अनुभव करने लगता है। काली के ध्यान से निवेदिता की सब निराशा और दुःख दूर होकर हृदय में आनन्द भर गया। स्वामी जी के लौटने पर निवेदिता ने अपना सिर उनके चरणों पर रखकर कहा—“अब मैंने अपनी दिव्य माता को पहचान लिया। निष्कलंक हुई उनकी आत्मा ही मैं काली थी जिसे पाकर वे विभोर हो उठीं।”

इस यात्रा में स्वामी जी अपने शिष्यों को धार्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय कराते। अपनी ज्ञान-दृष्टि से वे निवेदिता के हृदय में प्रवेश कर उनकी शोकाओं का समाधान करते और उनके पश्चिमी संस्कारों को उखाड़ कर भारतीय संस्कारों को जमाते रहते थे। एक दिन निवेदिता ने भारत से अपने देश की तुलना की तो स्वामी जी ने फटकारा। तुम इस प्रकार क्यों तुलना करती हो जो वहाँ के लिये उपयुक्त है वह वहाँ के लिये नहीं हो सकती। इस प्रकार की देश-भक्ति

एक पाप है। क्या यह हमारी संकीर्णता नहीं है कि हम केवल आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड या भारतवर्ष को ही अपनी जन्मभूमि मानें? विशाल पृथ्वी हमारी माता और सम्पूर्ण विश्व की आत्मा ही हमारा उपास्य है। उस महत्त्व की ओर उन्मुख होकर हमें देश, भाषा, भूमि की संकीर्णता का परित्याग करना ही उचित है।

कुछ दिनों बाद निवेदिता ने लिखा—“मेरी शिक्षा अभी चल रही है। दृष्टिकोण साफ होता जा रहा है। गुरु की कृपा से मैं प्रकाश पा रही हूँ। मेरे जो भ्रम रास्ते को रोक रहे थे वे जागृत प्रतिभा के प्रकाश में दूर होते जा रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि गुरु केवल प्रकाश देते हैं अपने विचार लादते नहीं। यही उनकी शिक्षा का मुख्य सिद्धान्त है।”

स्वामी जी का दूसरा उद्देश्य निवेदिता के राजनैतिक विचारों में परिवर्तन करना था। वे समझती थीं कि भारत अंग्रेजी साम्राज्य का स्थायी अंग है। इस विचित्रता और विविधतापूर्ण देश की एकता बाहरी शक्ति के द्वारा ही सम्भव है। अंग्रेजी राज्य ने भारत का बहुत उपकार किया है। भारत का स्वतन्त्रता चाहना स्वाभाविक है किन्तु उसे प्राप्त करने में सैकड़ों वर्ष लग जायेंगे। इसलिये उनके जीवन का उद्देश्य भारत और इंग्लैण्ड के बीच प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना था। इस पर स्वामी जी ने कहा कि—“काम करो, अभीप्सा करो, शायद रास्ता मिल जाये। दो साल पहले भी मैं ऐसे ही विचार रखता था” और बहुत जल्दी इस विषय में निवेदिता का स्वप्न दूर हो गया। ज्यों-ज्यों निवेदिता भारत में अंग्रेजों के सम्पर्क में आती गई त्यों-त्यों वे उनकी साम्राज्य लिप्सा को समझने लगीं। सबसे पहले धक्का तब लगा जब शासन ने विवेकानन्द द्वारा संस्कृत कॉलेज के लिये भूमि देने से इन्कार कर दिया। इससे अंग्रेजों का अभिमान स्पष्ट हो गया। साथ ही कारखानों के मजदूरों, रेल के यात्रियों आदि के साथ किये गये दुर्व्यवहार भी उनके सामने आये तब उनकी आँखें खुलीं।

स्वामी जी का वह तो बाहरी शिक्षण था, वे तो निवेदिता के अन्तरंग को बदलना चाहते थे। भीतरी हृदय बदल जाने से बाहरी परिवर्तन में ढेर नहीं लगती। इसलिये उन्होंने आदेश दिया कि तुम्हें आन्तरिक और बाह्य जीवन में एक ब्राह्मण ब्राह्मचारिणी के समान रहना होगा और अपने जीवन को अपने भूतकाल और उन्नती स्मृति को ईश्वर के चरणों में अर्पित करना होगा।

यात्रा समाप्त होने पर निवेदिता कलकत्ता लौट आई। वे श्री शारदामणि देवी के समीप रहने लगीं। उनकी साधुता, पवित्रता और मधुरता से वे बहुत प्रभावित हुईं।

अब तो स्वामी जी ने उन पर और भी कठिन तपस्या के नियम लगा दिये और कहा—अब तुमको एक हिन्दू विधवा के समान जीवन-यापन करना होगा। तुम्हें किसी से मिलना-जुलना बन्द कर एकांत में रहना होगा। अपने मन की चंचलता को नियन्त्रित करो और चेहरे पर कोई भाव प्रकट न होने दो। बिना किसी भावना के अपने आपको पहचानो।

कुछ दिनों बाद लड़कियों के लिये पाठशाला खोली गई और निवेदिता को अपने मन का काम मिल गया। अब स्वामी जी ने उनसे कहा कि—तुम्हें अब कोई शिकायत नहीं करनी चाहिये कि प्रार्थना और ध्यान के लिये अब समय नहीं मिलता। कार्य ही को अपने जीवन का ध्येय समझो। इसी लक्ष्य की ओर तुम्हें ले जाना चाहता हूँ। मेरा ध्येय न तो रामकृष्ण का है, न वेदान्त का है वरन् जनता में मनुष्यता को जगाना है। विदेशों में यह कार्य स्त्रियों ने किया है। वह दिन कब होगा जब भारतीय नारियाँ अपनी कमजोरी को दूरकर अपना ध्येय पूरा करेंगी।

इसी बीच कलकत्ता में भयानक प्लेग फैला और निवेदिता ने निर्भीकता, आत्मत्याग और एकाग्रता से जनता की सेवा की। उनकी व्यक़्त्ता को देखकर एक शिष्य से स्वामी जी ने कहा—उस पर तरस मत खाओ अब वह सब बातों से ऊपर उठकर भारत के प्रति निवेदिता हो गई है, मैंने उसे बनाने में इतना समय दिया है जितना किसी को नहीं दिया। अब निवेदिता पत्रों में लेख लिखने लगीं। उनके द्वारा लिखित प्लेग का हाल पढ़कर जनता स्तम्भित रह गई। वे ब्रह्म-समाज के साथ काम करने लगीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ भी इनका सम्पर्क स्थापित हो गया।

भारत में स्त्रियों के लिये काम करने की प्रेरणा भविनी निवेदिता को किस प्रकार मिली इस पर वे लिखती हैं कि—

एक बार बातचीत करते समय मेरी तरफ उन्मुख होकर उन्होंने कहा “अपने देश की स्त्रियों के लिये मैंने योजनायें बनाई हैं जिनसे मुझे बड़ी सहायता मिल सकती है।” मैंने योजना के बारे में उस समय नहीं किन्तु कुछ दिन बाद जब मैंने उनसे ‘नन्दन’ को स्वच्छ बनाने की बात कही तब वे बोल पड़े “तुमने नगर को सुन्दर बनाने के लिये बहुत से नगरों पर बमबारी की है।” ये शब्द अब तक मेरे कानों में गूँजते रहे। एक बार उन्होंने फिर कहा—“अंग्रेज लोग एक छोटे से द्वीप में पैदा हुए हैं और वे उसी में सुन्दर जीवन बिताना चाहते हैं।” तब मुझे यह बात अपने सम्बन्ध में ठीक लगी कि मेरे विचार कितने

१.५६ मरकर भी अमर हो गये जो

संकुचित हैं। इसी के बाद मैंने स्वामी जी के कार्य में सहायता देने की इच्छा प्रकट की तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ किन्तु वे बोले—“मैं तो अपने कार्य को पूरा करने के लिये २०० बार जन्म लेने को तैयार हूँ।” अभी तक ये विचार मेरे मन में बैठे हुए हैं।

नारी शिक्षा का श्रीगणेश एक कन्या विद्यालय से कराया गया। काली पूजा की पुण्य तिथि से बोसपारा लेन से इसका शुभ आरम्भ हुआ। माँ शारदा देवी ने आशीर्वाद दिया किन्तु कट्टरपंथियों ने इसका कम विरोध नहीं किया। एक विदेशी महिला को कोई मकान में प्रवेश देने को तैयार न था और उसके संरक्षण में अपनी लड़कियों को पढ़ाना कोई पसन्द न करता था। बड़ी कठिनाई से दो-चार विवेकशील अभिभावकों ने अपनी कन्यायें भेजीं पर जब लोगों ने नारी-शिक्षा के महत्त्व को समझना शुरू किया तो यह संख्या भी बढ़ने लगी किन्तु बड़ी बाधाओं को पार करके ही इस शाला की संख्या बढ़ी। इस प्रकार जिस दिन कालीघाट के काली मन्दिर में स्वामी जी ने निवेदिता को भाषण देने के लिये निमन्त्रित किया उस दिन कट्टरपंथियों का विरोध और भी बढ़ गया, किन्तु स्वामी जी के आदेशों के अनुसार जब उन्होंने नंगे पैरों से मंदिर में प्रवेश किया और अपने भाषण में महाशक्ति के प्रति अपने हृदय के भावों को व्यक्त किया तब कहीं लोगों का विरोध शान्त हुआ। बाद में चलकर “काली दी मदर” नामक पुस्तक की रचना की तो लोगों की श्रद्धा और बढ़ गई।

प्लेग के समय निवेदिता ने अपने प्राणों को हथेली पर रखकर लोकसेवा की उसके सम्बन्ध में सर जगदीशचन्द्र बसु ने अपनी पत्नी को एक पत्र में लिखा था—

“अनेक लोगों को स्मरण होगा कि इस समय कितना भयंकर आतंक फैल गया था। रेलें तथा स्टीमर भागने वाले लोगों से भरे रहते थे। जिस समय आतंक अपनी चरम सीमा पर था उस समय भगिनी निवेदिता सहायता कार्य में जुटी थीं। उन्होंने नवयुवकों के एक दल का संगठन किया।”

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर उनके स्थान पर काव्य चर्चा करने आये, इसी बीच वैलूर मठ से उनके लिये बुलावा आया। हर्ष के साथ उन्होंने वह समाचार गुरुदेव को सुनाया। गुरुदेव ने मन में कहा—“निवेदिता को अपना चुना हुआ ईश्वर मिल गया। ब्रह्म-समाज के साथ उनका सम्पर्क अधिक समय तक नहीं चला इससे सुरेन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र बसु तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर सरीखे मित्र अवश्य प्राप्त हुए जिनके द्वारा उनका सम्बन्ध स्वदेशी आन्दोलन से हो गया।

अब तो निवेदिता को सार्वजनिक सभाओं में बोलने का निमन्त्रण मिलने लगा, इतने दिनों तक दबी हुई शक्ति एक प्रवाह के रूप में निकलने लगी। स्वामी जी ने आज्ञा दी कि तुम्हें माँ काली के विषय में बोलना है। शान्त भाव से निवेदिता ने भाषण दिया जिसकी श्रोताओं ने बड़ी प्रशंसा की, कालीघाट के पुरोहितों ने भी उन्हें बोलने के लिये बुलाया। स्वामी जी की अध्यक्षता में भाषण होना था किन्तु उन्होंने निवेदिता को अकेले ही जाने का आशीर्वाद देकर भेजा—“सदा याद रखना कि तुम माँ काली की सेविका हो, निवेदिता नंगे पैरों से चलकर कालीघाट पहुँची। उनके भाषण से जनता मन्त्रमुग्ध हो गई। निवेदिता को भी विश्वास हो गया कि काली की कृपा हमें प्राप्त हो गई है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने बड़ी सावधानी, प्रेम और संयम के साथ निवेदिता का आन्तरिक और बाह्य संसार में भविष्य में अपना कार्य करने के लिये तैयार किया।

ज्ञान-साधना और सेवा का श्रीगणेश

स्वामी जी अचानक बीमार पड़ गये। कार्य की अधिकता ने स्वामी जी को कमजोर बना दिया। निवेदिता को घर भेजना आवश्यक था किन्तु आर्थिक प्रश्न सामने था। इसी समय अमेरिका से उन्हें निमन्त्रण मिला और वे निवेदिता के साथ रवाना हो गये। उन्होंने कहा—“मैं तुम्हारा भूत और भविष्य दोनों देख रहा हूँ किन्तु इस समय तुम्हें नम्र और आज्ञाकारी बनना है।” जाते समय निवेदिता ने दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण की प्रिय पंचवटी में बैठकर प्रार्थना की—“माँ स्वामी जी को शान्ति और आराम दीजिये और उनका कष्ट मुझे दीजिये मैं उनकी पूजा करती हूँ, उनसे प्रेम करती हूँ, उनके व्यक्तित्व से प्रेम करती हूँ, जीवन पर्यन्त मैं उनके लिये जीऊँगी और काम करूँगी।”

समुद्र की स्वास्थ्यप्रद वायु के प्रभाव से स्वामी जी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। शिष्या भी प्रसन्न मुद्रा में रहने लगीं, उनके घनिष्ठ सम्बन्ध से वे अपने को धन्य मानने लगे। चुपचाप उनके पास बैठने, उनके साथ डेक पर घूमने, उनके ज्ञान-भण्डार से अमूल्य रत्न संग्रह करने से निवेदिता को बड़ा लाभ हुआ उनका आध्यात्मिक प्रभाव अज्ञात रूप से निवेदिता पर पड़ता रहा जो कि मन और वाणी से कहीं परे था। स्वामी जी ने उनके हृदय में प्रवेश कर उनके दोषों को एक-एक कर निकालना और विदेशी संस्कारों के बदले भारतीय संस्कार भरने का काम शुरू किया, इससे उनके जो भी रहे-सहे दोष ये वे सब निकल गये, उनका मोह और वासनायें भी दूर हो गईं। यह स्वर्ण अवसर उनके लिये एक अलभ्य लाभ सिद्ध हुआ। स्वामी जी से वे बार-बार पूछतीं—अपूर्णता किस प्रकार दूर की जाये,

पूर्णता कैसे प्राप्त की जाये, शान्ति का अवतरण किस प्रकार हो ? स्वामी जी का एक ही उत्तर था—बिना किसी भावना के अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करो यही महान रहस्य है । कोई चिन्ता मत करो, अशान्ति को दूर कर अपनी शक्ति में प्रतिष्ठित हो । मुक्ति आप से आप आयेगी किन्तु उसके लिये त्याग अनिवार्य है ।

छः सप्ताहों के बीच निवेदिता ने अपने गुरु के असीम ज्ञान भण्डार को आत्मसात कर लिया । तत्त्व-ज्ञान, इतिहास, धर्म, संस्कृति, तपस्या, शिक्षा, मनुष्य और साधना कोई भी ऐसा नहीं था जिस पर गुरु-शिष्य में चर्चा न हुई हो । इन सबसे ऊपर गुरु की वाणी ध्वनित होती थी । “माँ मैं निर्भय बनूँ इसी उपनिषद् के मन्त्र का बार-बार उच्चारण किया है । यह आत्मा बलहीनों के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती मेरा आदर इस योद्धा सन्त का है जिसने स्वतन्त्रता संग्राम में मरते समय कहा था—‘‘तुम भी वही हो ।’’

इस प्रकार जहाज लन्दन पहुँचा और वहाँ से स्वामी जी अमेरिका चले गये । निवेदिता कुछ दिन बाद इनकी सेवा में पहुँची वहाँ इनका काम धन संग्रह करना था । अपने भाषणों द्वारा काफी धन संग्रह भी किया । पश्चिमी जनता में इस बात की उत्सुकता थी कि एक विदेशी महिला भारत को किस प्रकार देखती है । इस बीच स्वामी जी निवेदिता को अनेक विषयों की शिक्षा दिया करते थे । एक दिन उन्होंने कहा—देखो, एक तत्त्व है प्रेम और दूसरा तत्त्व है मिलन । मिलन, प्रेम से श्रेष्ठ है । जिसे हम प्रेम करते हैं वह कभी अपना नहीं बना है, यही ज्ञान और भक्ति में अन्तर है किन्तु निवेदिता एक ओर गुरु के वचनों से शक्ति संग्रह करती जाती थीं और दूसरी ओर उन्हें यह भय लगता था कि गुरु के बिना मैं कैसे रहूँगी ? अब उनका प्रेम गहन और शुद्ध हो गया था । उन्होंने कहा—अब वे मेरे सम्पूर्ण जीवन में हैं । मैं कम होने के बदले अपने प्रेम के अधिक समीप हो गई हूँ ।

अमेरिका में विविध कार्य-कलाप में व्यस्त रहने के कारण स्वामी जी का स्वास्थ्य फिर गिरने लगा था । वे भारत लौटने के लिये उत्सुक हो रहे थे उन्होंने एक दिन निवेदिता से पूछा—“और कितने दिन यहाँ रहोगी, अपना असली कार्य कब शुरू करोगी ?” प्रश्न सुनकर निवेदिता स्तब्ध रह गई । उन्होंने शान्त स्वर में कहा—मैं आपकी आज्ञा से यहाँ आई थी । मैं तुरन्त चलने को तैयार हूँ । उन्होंने एकाएक श्रीमती बुल के कमरे में निवेदिता के साथ प्रवेश किया । सब शिष्यायें चकित हो गई । उन्होंने दोनों हाथ पसार कर कहा—“मेरी पुत्रियों, मैं आ गया हूँ !”

फिर श्री बुल की कमर में अपना शाल लपेटते हुए कहा—तुम संन्यासी हो । फिर दोनों के सिरों पर हाथ रखते हुए—“मैं अपनी सारी शक्ति जो मुझे गुरु से मिली तुम्हें दे रहा हूँ और मैं शान्ति से रहने जा रहा हूँ ।” निवेदिता उनके चरणों पर गिर गई उन्हें लगा कि एक सर्वग्राही शक्ति उसमें प्रवेश कर रही है । उनका शरीर तर्क, विवेक और चेतना सब लुप्त हो गई है । अपने सिर पर उन्होंने गुरु के गरम, भारी और शक्तिशाली हाथों का अनुभव किया मानो सर्वोपरि सूर्य के समान हाथ हों । उन्हें लगा कि वह सचमुच ब्रह्मचारिणी है, गुरु ने आदेश दिया था कि तुम्हें जीवन भर ब्रह्मचारिणी रहना है ।

इसी प्रकार एक दिन श्री रामकृष्ण ने विवेकानन्द के सिर पर हाथ रखकर कहा था—आज मैंने सब कुछ दे डाला है और मैं फकीर हो गया हूँ ।

निवेदिता हर्ष से विह्वल हो गई किन्तु उनमें एक भय भी समा गया । इतनी शक्ति अपने शिष्य को देने के बाद श्री रामकृष्ण केवल डेढ़ वर्ष तक ही जीवित रहे थे । क्या मेरे गुरु भी ऐसा ही करना चाहते हैं ? मैं जानती हूँ कि वे कितने कष्ट में रहे हैं । यदि यही उनकी इच्छा है तो मैं कभी उनके रास्ते में न जाऊँगी । “मैं ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि उनकी सेवा में कुछ धन अर्पण कर सकूँ ।” इस प्रकार निवेदिता अपने गुरु में तन्मय हो गई थी । उनकी इच्छा केवल उनके कार्यों में सहायता करने की थी । धन का संग्रह बहुत कठिनाई से हो रहा था । निराशा ने उन्हें घेर लिया, फिर गुरु के वचनों का उन्हें स्मरण हुआ “अपनी शक्ति पर भरोसा रखो, याद रखो जिसके पास कुछ मौलिक तत्त्व है उसे संसार अवश्य सुनेगा ।” धीरे-धीरे सब बाधाएँ दूर हो गई । निवेदिता की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी और धन एकत्रित होने लगा । निवेदिता के मुख से भारत की वाणी सुनकर गुरु का हृदय गद्गद हो गया ।

अमेरिका में काम समाप्त कर निवेदिता फ्रांस गई । वहाँ स्वामी जी के दर्शन हुए साथ ही प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु भी मिले जो विज्ञान परिषद् में भाषण देने आये थे । इस अवसर पर स्वामी जी ने एक ऐसी बात की कि जिससे निवेदिता को बहुत धक्का लगा । वे प्रसिद्ध गायिका ऐमा कालवे का गायन सुनने जा रहे थे । निवेदिता ने उसका विरोध करते हुए कहा—स्वामी जी यदि आप ओपेरा में जायेंगे तो लोगों को बहुत धक्का लगेगा और आपके विरुद्ध आन्दोलन कर बैठेंगे । स्वामी जी को बहुत आश्चर्य हुआ किन्तु कोई उत्तर न देकर केवल मुस्करा दिये । बाद में जब कालवे स्वयं स्वामी जी से मिलने आई तो उससे फ्रांस का राष्ट्रगीत गाने को कहा, निवेदिता ने फिर विरोध

१.६१ मरकर भी अमर हो गये जो

किया। स्वामी जी यह तो युद्ध का गीत है, इसमें बन्दूकों की गड़गड़ाहट और योद्धाओं की चीख-पुकार के सिवाय और कुछ नहीं है। इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया—

“मैं तो इसी विचार का गीत चाहता हूँ। तुम नहीं देखती कि इस गीत में कितनी वीरता, कितना देश प्रेम और कितना त्याग भरा है, इसमें एक साहस की भावना है। देश प्रेम और त्याग की भावना भरी हुई है। मैं यह गीत अपने मठ के साधुओं को भी सिखलाऊँगा। यह बात निवेदिता को अनुचित लगी और वह अपने काम से उदासीन होने लगीं। स्वामी जी ने केवल यह कहा—अब मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ। मैं जन्म-जात स्वतन्त्र हूँ, मैं फिर बालक बन गया हूँ।”

गुरु और शिष्या के बीच मतभेद बढ़ता ही गया। एक दिन स्वामी जी ने कहा—तुम बहुत हठीली हो गई हो, तुम्हारे कार्यों में इच्छा-शक्ति प्रकट होती है, अब देवी माता तुम्हें सन्हालेगी। कुछ दिन एकन्त वास करो क्योंकि तुम अच्छे और बुरे का भेद करने लगी हो, तुम्हारे भीतरी रूप के सभी ढाँचे फूटने चाहिये तभी आध्यात्मिकता प्रवाहित होगी। इस फटकार से निवेदिता की आँखें खुलीं, गुरु-भक्ति और उसके पूर्वाग्रहों में क्या भेद है उसका उन्हें पता लगा। अपने कार्यों में वे ईश्वर प्राप्ति के बदले स्वयं अपनी सन्तुष्टि चाह रही थीं। गुरु को असन्तुष्ट करने के बजाय आत्मसन्तोष पाना चाहती थीं। उनका अहम् बहुत बढ़ गया था इस कारण गुरु के कार्य में भी गुण-दोष देखने लगी थीं। एक पत्र में उन्होंने अपनी भावना प्रकट की, उसके उत्तर में स्वामी जी ने लिखा—तुम समझती हो कि मैं तुम्हारे साथियों से ईर्ष्या कर रहा हूँ किन्तु तुम्हें मालूम होना चाहिये कि मैं बिना ईर्ष्या, लोभ और शत्रुता की इच्छा के उत्पन्न हुआ हूँ। चाहे जो दोष मुझमें हों उनमें सिर्फ चुनाव कर सकती हो।

प्रश्न यह था कि निवेदिता सरीखी शिष्या जो कि गुरु के प्रति इतनी अनुरक्त हो उनके गुण-दोषों को देख सकती है। वैसे गुरु ने उन्हें आत्म-विकास के लिये काफ़ी स्वतन्त्रता दे रखी थी। अपने गुरु श्री रामकृष्ण जी के समान वे अपनी शिष्या को तैयार कर रहे थे। यह सच है कि मनुष्य बिना स्वतन्त्रता के आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। वे कुछ राजनैतिक विचारों और शत्रुता प्रणालियों के कट्टर विरोधी थे। दूसरे, निवेदिता का प्रेम और श्रद्धा चाहे कितनी अधिक हो उसकी चेतना ने गुरु से अभी तक एकस्वता प्राप्त नहीं की थी। श्री अरविन्द जिस बात को चेतना की एकता कहते हैं उसी को विवेकानन्द ज्ञान कहते थे—ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा एक व्यक्ति की चेतना, दूसरे व्यक्ति की

चेतना में मिल जाती है। निवेदिता की चेतना अच्छे और बुरे भावों से ऊपर नहीं उठ सकी थी। उसके परिवर्तन के बाद भी निवेदिता के स्वभाव में पुराने संस्कारों की छाप अवश्य थी।

आधुनिक विचार वालों के लिये स्वामी जी के कुछ कार्य शिष्यों को युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ते थे। निवेदिता ने अपने गुण-दोष स्वामी जी को बताये किन्तु उन्हें भी उसके दोष बताने चाहिये थे, न बताने का कारण यह हो सकता है कि उन्हें ऐसा भास होने लगा था कि उनका जीवन-कार्य समाप्त होने को है। इसलिये वे शिष्यों की मानसिक शुद्धि पर बल देते थे।

स्वामी जी के पत्र ने निवेदिता को बहुत लज्जित किया वे पश्चाताप की अग्नि में जलने लगीं किन्तु इस तपस्या से उनका पुनर्जन्म ही हुआ। भारत लौटने के पहले स्वामी जी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—“नेता को चाहिये कि जब कार्यकर्ता तैयार हो जायें तब उन्हें दूसरी जगह चले जाना चाहिये। अपने सामने वह उन्हें स्वतन्त्र नहीं बना सकता। अब मैं तुम्हारे लिये कुछ नहीं रहा, मैंने अपनी सारी शक्ति तुम्हें दे दी। संसार के सामने जाओ, यदि मैंने तुम्हें बनाया हो तो समाप्त हो जाओ और यदि देवी माता ने बनाया है तो जीती रहो” यह कार्य निवेदिता का आज्ञा भंग करने का पहला उदाहरण था। इसके बाद निवेदिता एक मन्त्र-मुख्य सर्प के समान बन गईं। अब वे यूरोप में अकेली ही रह गईं, जगदीशचन्द्र बसु लन्दन ही में थे। रॉयल सोसायटी में अपना निबन्ध पढ़ना चाहते थे, निवेदिता का साथ उन्हें ईश्वर का वरदान सरीखा मिला। अपने कार्य के सम्बन्ध में उन्हें उत्साह और उत्सुकता थी। निवेदिता ने रमेशचन्द्र दत्त से भी सम्पर्क स्थापित किया और वे राजनीति में भी रस लेने लगीं। उनको अंग्रेजों के प्रति इसलिये घृणा हो गई कि वे भारतीयों के प्रति न्याय नहीं करते केवल धर्म और शिक्षा ही उनके रुचिकर विषय हैं किन्तु राजनीति मुख्य विषय बन गया। वह भारत स्वीटीं तब उन्होंने स्वामी जी की बीमारी का हाल सुना।

निवेदिता को पाकर स्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए। अपनी योगदृष्टि से उन्होंने निवेदिता की आत्मा का प्रकाश देख लिया। उस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था और भारत भर के नेता एकत्रित थे। बीमारी का हाल सुनकर सब लोग उनके पास आते और मार्गदर्शन प्राप्त करते। इस समय निवेदिता को भारतीय नेताओं से परिचय प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला।

अन्तिम दिवस निवेदिता बैलूर गई हुई थीं। स्वामी जी ने स्वयं उन्हें भोजन परोसा और हाथ धुलाये। उनकी

आँखों से अनन्त प्रेम बरस रहा था। मन ही मन वे समझ गई कि स्वामी जी अब विदा होने वाले हैं। दो दिन बाद स्वामी जी ने समाधि ले ली। समाचार सुनकर वे बैलूर लीटी उसके पहले ही वे प्रकृति में उनका अनुभव कर चुकी थीं। दिन भर वे उनके पास रहीं। उनका सिर अपनी गोद में रखकर बैठी प्रार्थना करती रहीं प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। अग्नि-संस्कार के समय एक अद्भुत घटना घटी, स्वामी जी के गेरुए वस्त्र का अधजला टुकड़ा हवा में उड़ता हुआ जावा और निवेदिता की गोद में गिर पड़ा मानो स्वामी जी का उत्तराधिकार ही उनको मिल गया।

अब निवेदिता बिल्कुल अकेली रह गई अब उनके सामने विस्तृत कार्यक्षेत्र था। गुरु अपने अपूर्ण कार्य का भार छोड़कर विदा हो गये थे। कितनी सावधानी, कितनी कोमलता, कितनी कठोरता, कितने प्रगट और कितने प्रच्छन्न रूप से, कितनी दूरी और कितने समीप से स्वामी जी ने उन्हें प्रशिक्षण दिया था। कभी वे कठोरता धारण करते और कभी उद्वासीनता और कभी परमप्रिय मित्र अथवा स्नेहमय पिता के समान बर्ताव करते। जिस प्रकार कोई शिल्पी किसी मूर्ति या भवन को तोड़ता-फोड़ता, उठाता-गिराता, उसका निर्माण करता है उसी प्रकार गुरु ने इस स्वतन्त्रप्रेता आधुनिक शिष्य का निर्माण किया था। आध्यात्मिकता के इतिहास में यह एक अद्भुत उदाहरण था।

निवेदिता अकेली थीं किन्तु असह्य नहीं उनके विचार और व्यक्तित्व गुरु की शक्ति से ओत-प्रोत थे। उन्हें आदेश मिला था कि केवल भारतीय नारी जाति का उन्नयन ही नहीं किन्तु सारी जनता की सेवा और साथ ही अन्त-साधन उनका कार्य है।

भगिनी निवेदिता लेखिका के रूप में

निवेदिता ने इंग्लैण्ड में ही बौद्ध-धर्म का अध्ययन शुरू कर दिया था। भारत में स्वामी स्वरूपानन्द जी को उन्हें हिन्दू शास्त्र और बंगला पढ़ाने के लिये नियुक्त किया गया। जिसको बाद में उन्होंने गीता के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में लिखा “इस छोटे से काव्य के विषय में जो माउण्ट पर दिये गये उपदेश की लम्बाई का केवल १।३ अथवा १।४ सेण्ट मार्क के उपदेश से कहीं छोटा है—केवल इतना ही इस क्षण कहा जा सकता है कि मानव रचित पवित्रतम रचनाओं में कोई भी इतनी संक्षिप्त एवं महान् नहीं है परन्तु वह केवल वैष्णवों की सम्पत्ति नहीं वरन् कश्मीर से कन्याकुमारी तक व्याप्त समस्त धार्मिक विचारों की आधार भूमिका है—

“वेब ऑफ इण्डियन लाइफ”

देश-दर्शन की यात्रा के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक “नोट्स ऑन सन् वाण्डरिंग विद स्वामी विवेकानन्द” में लिखा है—अल्मोड़ा से मुझे अनुभव होने लगा कि मानों मेरा स्कूल जाना आरम्भ हो गया है, ठीक इसी भाँति जैसे किसी छात्र को विद्यालय जाना अटपटा लगता है। यहाँ भी मुझे कष्ट की अनुभूति हुई, परन्तु दृष्टि का अन्धापन तो नष्ट होना ही चाहिये।

तीर्थयात्रा के अन्त में उन्होंने एक पत्र में लिखा—“मुझे दिखाई पड़ता है कि मैं देवात्मा द्वारा उन्मुक्त कर दी गई तथा मुझे अनुभव होता है कि किसी विचित्र ढंग से ही क्यों न इस तीर्थ-यात्रा के परिणामस्वरूप मैं उनके (स्वामी) तथा भगवान् के अधिक निकट पहुँच गई हूँ।”

स्वामी जी ने उन्हें शक्ति-साधना को आकर्षित किया। कश्मीर में क्षीरभवानी की उपासना के बाद जो परिवर्तन हुआ उसके सम्बन्ध में निवेदिता ने लिखा—

“आज उनकी भाव-भगिनी से आमूलचूल परिवर्तन था। शान्तिपूर्वक वे हम सभी के पास से आशीर्वाद देते हुए हमारे सिरों पर सुनहरे पुष्प रखते हुए चले गये। हममें से एक को पुष्पहार भेंट करते हुए उन्होंने कहा—“मैंने इनको माँ के चरणों में समर्पित कर दिया है।” कहने की आवश्यकता नहीं कि यह “एक” निश्चय ही निवेदिता स्वयं ही थीं।”

शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—“आधुनिकता का राष्ट्रीयकरण तथा पुरातन का आधुनिकीकरण और वह भी इस ढंग से कि इसमें सकल का दर्शन हो सके यही उनकी सुलझन थीं……” स्वामी जी इस विचार-विमर्श में विशेष रुचि लेते थे। इन परिकल्पनाओं के सम्बन्ध में वे घण्टों विचार करते थे। इसी सागर मन्यन का परिणाम थी भगिनी निवेदिता की पुस्तक “हिण्ट्स ऑन एजूकेशन इन इण्डिया” जो इसी चर्चा का निष्कर्ष मात्र ही कही जा सकती है।

बैलूर मठ के लिये धन संग्रह करने हेतु जब स्वामी जी ने कार्यक्रम बनाया तब निवेदिता को भी साथ ले जाना अनिवार्य हो गया। समुद्र यात्रा करते समय स्वामी जी से जो चर्चा होती रहीं, उनके बीच वे अनेक उपाख्यान भी कहा करते थे। उनको अपनी भाषा में लिखकर निवेदिता ने एक पुस्तक भी तैयार कर दी जो कि “क्रिडिल टेल्स ऑफ हिन्दूइज्म” के नाम से विख्यात हुई। साथ ही डॉ. जगदीशचन्द्र बसु की प्रसिद्ध पुस्तक “लिविंग एण्ड नोन लिविंग” का सम्पादन किया।

बंगाल के क्रांतिकारी जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने एक पुस्तक लिखी—“हमारा कार्य अब

१.६३ मरकर भी अमर हो गये जो

केवल रक्षा करना नहीं बल्कि दूसरों को परिवर्तित करना है। एक-एक करके जो कुछ हमारे पास था उसका रक्षण नहीं वरन् जो हमारे पास कभी नहीं था उसको भी विजित करने का हमारा दृढ़ निश्चय है। प्रश्न यह नहीं कि दूसरे, हमारे विषय में क्या सोचेंगे वरन् यह कि हम, दूसरों के विषय में क्या सोचते हैं? क्या हमने सुरक्षित रखा है, यह विचारणीय नहीं है वरन् क्या हमने छीनकर प्राप्त किया है? अब हम शरणागति की कल्पना नहीं कर सकते हैं क्योंकि संघर्ष हमारी विजय का प्रथम चरण बन गया है।”

उन्होंने नार्वे देश में एकान्तवास करके 'ईसाई मिशनरियों के प्रसिद्ध "लैम्ब एमंग वोल्वज" पुस्तक लिखी तथा दूसरी पुस्तक "वेव ऑफ इण्डियन लाइफ" लिखने का प्रयास किया।

स्वामी स्वरूपानन्द के आकस्मिक निधन के कारण "प्रबुद्ध भारत" के सम्पादकीय लेख लिखने का भार निवेदिता पर आ पड़ा। श्री अरविन्द का "युगान्तर" भी निवेदिता के सहयोग से चल रहा था। उनके "वन्दे मातरम्" पत्र में भी निवेदिता के लेख नियमित रूप से मिलते थे। मद्रास के श्री तेरूमलाचार्य ने भी अपने पत्र "बाल-भारती" के संचालन का आग्रह निवेदिता से किया था किन्तु वे उसे स्वीकार न कर सकीं। इस प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में निवेदिता ने काफी यश प्राप्त कर लिया था, यहाँ तक कि श्री रामानन्द चटर्जी उन्हें अपना गुरु मानते थे।

उड़ीसा के अकाल निवारण में अथक परिश्रम करने के कारण निवेदिता बहुत बीमार पड़ थीं किन्तु थोड़ा स्वस्थ होने पर उन्होंने अपनी लेखनी चलाना आरम्भ कर दिया। "दी मास्टर एज आई सौ हिम" तथा "क्रेडिल टेल्स ऑफ हिन्दूइज्म" नामक प्रसिद्ध पुस्तकें उनकी इसी काल की देन हैं। इसी के साथ श्री जगदीशचन्द्र की दूसरी पुस्तक "कम्पैरेटिव इलैक्ट्रिक फिजिओलॉजी" का सम्पादन भी उन्होंने किया। इसके बाद लन्दन की रॉयल सोसायटी के पत्र "एग्नेसिव हिन्दूइज्म" में उनके लेखों से सम्बन्धित लेख पुस्तकाकार रूप ग्रहण कर सके।

श्री अरविन्द के पाण्डिचेरी जाने के बाद चलाये हुए पत्रों के सम्पादन के नाम से उन्हीं के लेख उनमें छपने लगे जिससे लोगों को उनका अभाव नहीं खटकने पाया। भगिनी निवेदिता का एक और महान् कार्य भारतीय कला का उन्नयन था। उन्होंने सर्वप्रथम भारतीय चित्रकला के मौलिक तत्वों के पुनरुज्जीवन की आवश्यकता अनुभव कर इस दिशा में प्रयास किया। वे उस समय के प्रसिद्ध चित्रकारों को बराबर प्रोत्साहित करती रहती थीं।

उनकी साहित्य साधना बराबर चलती रहती थी। अपनी यात्राओं का वर्णन भी बड़े भावपूर्ण शब्दों में वे करती थीं। अपनी पुस्तक "केदारनाथ" और "बद्रीनारायण" में उन्होंने अपनी यात्रा का सजीव वर्णन किया है। अपने गुरु के प्रति अपने अन्तिम कर्तव्य का पालन उन्होंने स्वामी जी से सम्बन्धित पत्रों, भाषणों, लेखों आदि का संकलन किया जो कि "लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द बाय हिज ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिससिल्स" में संग्रहीत हैं।

सन् १९११ में जबकि वे क्रियात्मक जीवन से विराम ले चुकी थीं तब भी उन्होंने अपनी लेखनी को विश्राम नहीं दिया और अपनी शेष पुस्तक "फुटफल्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री" तथा "स्टडीज फ्रॉम ऐन ईस्टर्न होम" में निमग्न रहती थीं इसके अतिरिक्त इसी समय रामकृष्ण वचनामृत को भी संकलित कर डाला।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में अग्रणी निवेदिता

निवेदिता का उदय धार्मिक पृष्ठभूमि में हुआ था किन्तु उन्होंने भारतीयों को धर्म और उनकी प्रसुप्त आध्यात्मिकता के लिये कुछ करने से पूर्व वातावरण को दुरुस्त करना अधिक उचित समझा। आवश्यकता इस बात की थी कि पहले भारतीय अपने स्वाभिमान को समझें, उनमें शिक्षा और संस्कृति का विस्तार हो। उनमें विचार आयें, संकल्प जागृत हों पर इसमें एक प्रमुख बाधा थी, वह थी राजनैतिक पराधीनता। इसलिये भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना ही उस समय उनका मुख्य उद्देश्य बन गया और वे उसी में पूरी तरह व्यस्त हो गईं। ठीक भी था जो उत्तरदायित्व सामने हो उसे ही ठीक तरह पूरा कर ले तो एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो जाने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। इसके बाद राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लिया और भारत में यात्रा करना प्रारम्भ किया, क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित करतीं, धार्मिक मिशन छोड़कर उन्होंने राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की साधना प्रारम्भ की।

बेविन्सन ने लिखा है कि—वह भारतीयता से आप्लावित थे। स्वामी ब्रह्मानन्द ने कहा—विवेकानन्द के सिवा किसी व्यक्ति ने भारत को प्यार नहीं किया। रबीन्द्रनाथ ने कहा—मैं निवेदिता को जनता की माता के रूप में देखता हूँ, अनेक रूप से उन्होंने हमारी सुप्त आत्मा को जगाया है। स्वयं स्वामी जी ने उन्हें राष्ट्रीयता के जागरण के लिये अपना समर्पण तथा अन्य साधकों को मना किया था कि निवेदिता की स्वतन्त्रता में बाधा न आने दें।

हम देखते हैं कि कभी वे नरम दिल वालों के साथ हैं तो कभी राष्ट्रवादियों के साथ, कभी युवकों का साथ दे

रही हैं तो कभी पत्रकारों का । कभी स्वदेशी का प्रचार कर रही हैं तो कभी अकाल पीड़ितों की सहायता कर रही हैं । कभी वैज्ञानिकों के साथ अनुसन्धान में लीन हैं तो कभी अभावग्रस्त कलाकारों की सहायता कर रही हैं । कभी साहित्यिक आन्दोलन चला रही हैं तो कभी सांस्कृतिक । वे स्वयं एक संस्था बन गई थीं । उनकी अक्षय प्राण-शक्ति आत्म विस्तारक व्यक्तित्व आश्चर्यचकित करने वाला था । जान पड़ता था कि उन्होंने स्वामी जी के साथ तपस्या कर जो आध्यात्मिक शक्ति अर्जित की थी और जो अभी तक रुद्ध थी वह अचानक प्रवाहित हो गई है ।

गुप्त समितियों के साथ इनका सम्पर्क लोगों को आश्चर्य में डाल देता है । इस कार्य के लिये उन्होंने सारे भारत की यात्रा की । जब वे बड़ौदा आई तब उनकी श्री अरविन्द से भेंट हुई । वे भी उस समय गुप्त समितियों के संगठन में लगे थे । दोनों एक-दूसरे से परिचित थे । अरविन्द ने निवेदिता की पुस्तक 'मौ- काली' पढ़ी थी और निवेदिता ने श्री अरविन्द के लेख इन्दु प्रकाश आदि पत्रों में पढ़े थे । निवेदिता ने सीधा प्रश्न किया—क्या आप काली के उपासक हैं ? अर्थात् क्या क्रान्ति में विश्वास करते हैं ? गायकवाड़ से भी उन्होंने क्रान्ति में सम्मिलित होने को कहा । निवेदिता खुले आम क्रान्ति का प्रचार करती फिरती थीं । उन्होंने श्री अरविन्द से भी बंगाल चलने को कहा किन्तु उन्होंने उत्तर दिया—अभी समय नहीं आया, मैं क्षेत्र तैयार कर रहा हूँ ।

उसके बाद निवेदिता ने श्री अरविन्द के राजनैतिक आन्दोलन को आगे बढ़ाना आरम्भ कर दिया । श्री अरविन्द में उन्होंने विवेकानन्द की छाया देखी । श्री अरविन्द भी राष्ट्रीयता को अपना धर्म समझते थे । इसलिये दोनों एक-दूसरे के समीप आकर सहयोगी बन गये । निवेदिता पूरी तौर से क्रान्तिकारी थीं । क्रान्ति ही उनका स्वधर्म बन गया था । "मौ काली" पुस्तक में उन्होंने बड़े खुले शब्दों में रक्तमय क्रान्ति का प्रतिपादन किया है ।

किन्तु आन्तरिक रूप से निवेदिता एक योगिनी और साधिका और कला-प्रेमी थीं । स्टेशन से आते समय धर्मशाला के भवन को देखकर वे कह उठीं कितनी सुन्दर है, और जब कॉलेज के भवन को देखा तो बोलीं कितना भद्दा है । इन्हीं परस्पर विरोधी गुणों का मिश्रण होने के कारण बड़े-बड़े लोग भी निवेदिता को नहीं समझ पाये । श्री अरविन्द ने उन्हें अच्छी तरह समझा था । एक दिन जब लोगों ने किसी क्रान्तिकारी नेता के विषय में कहा कि वे क्रान्तिकारी थे तब श्री अरविन्द चुप रहे किन्तु जब निवेदिता की चर्चा आई तब वे बोल उठे हाँ, वे जरूर अग्निस्वरूपा थीं । विवेकानन्द ने उन्हें सचमुच सिंहनी बना

दिया था । साथ ही उनका सौन्दर्य भी अप्रतिम था । जहाँ भी वे जातीं लोग उनके शक्तिमय सौन्दर्य और प्रतिभा से प्रभावित हो जाते थे । उनके पवित्र सौन्दर्य के सामने बड़े-बड़े दरबारों और शासकीय भवनों की सजित सुन्दरियाँ भी लज्जित हो जाती थीं । उनका सौन्दर्य पार्थिव न था वरन् साधना एवं संयम की तेजस्विता दमदमाती थी । उस पर ज्ञान और वाणी के ओजस्व ने मिलकर उनके व्यक्तित्व को निखारा । वे कुछ ऐसी बन गई कि जहाँ गई वहीं लोगों ने प्रकाश की प्रेरणा पाई ।

इसके साथ ही वे जितनी नम्र और कोमल थीं सिद्धान्तों के प्रति उतनी ही कठोर थीं । वे भारतीय युवकों से कहती थीं इंग्लैण्ड, बर्मों की भाषा ही समझता है । तुम्हारी मिट्टी ने कितने वीरों को पैदा किया है । उन्हीं के समान तुम भी युद्ध करो । क्रान्तिकारी जब कारागार में बन्द थे, तब वे उनकी स्त्री और बच्चों को देखकर कर्षणा से द्रवित हो जाती थीं और उनको अपना सब पैसा दे डालती थीं । इन सब कार्यों के कारण वे शासन की कुदृष्टि से नहीं बच पाई थीं किन्तु वे न तो किसी शासन से भयभीत होती थीं और न किसी की कृपा से द्रवित । परमात्मा को पाकर किसी को संसार से भय क्यों होने लगा ?

एक ओर विवास्तर और वन्देमातरम् में श्री अरविन्द के क्रान्तिकारी लेख और दूसरी ओर निवेदिता के आग उगलने वाले भाषण, दोनों ने मिलकर बंगाल ही नहीं समग्र भारत को उत्तेजित कर दिया था । इसके कारण बहुत से निकट मित्रों से उनका मतभेद भी हो गया किन्तु उन्होंने देश के लिये इसकी कोई परवाह न की । वे युवकों को जगदीश बसु और प्रफुल्लराय के पास बम बनाना सीखने तथा विदेशों से अस्त्र-शस्त्र संग्रह को भेजती रहीं तथा इधर शासन का दमन-चक्र भी तीव्रगति से चलता रहा । श्री अरविन्द इस समय जेल में थे किन्तु शासन की इच्छा थी कि बाहर निकलते ही उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया जाये । इसका पता जैसे ही निवेदिता को चला तो इन्होंने उनको चन्द्रनगर जाने की सलाह दी । श्री अरविन्द को भी ईश्वरीय आदेश मिल गया था और वे कर्मयोगी का भार निवेदिता पर छोड़कर वहाँ चले गये । श्री अरविन्द के इस प्रकार विदेश जाने के कारण क्रान्तिकारी आन्दोलन भी धीरे-धीरे शान्त हो गया । निवेदिता में भी अब वह उत्साह नहीं रहा उनमें भी अपने गुरु के समान स्वतन्त्रता की अवैयक्तिक भावना उदय हो गई, उन्होंने भी आन्दोलन से अलग होकर अपनी आत्मा के मन्दिर में प्रवेश किया ।

ब्रिटिश शासन के दुष्कृत्यों एवं स्वाधीनता की लहर के कारण सन् १९०५ के प्रारम्भिक दिनों में ही बंगाल भी

१.६५ मरकर भी अमर हो गये जो

एक सुप्त ज्वालामुखी की भीति हो गया था। तत्कालीन वायसराय की उषष्टता ने उस ज्वाला में धी डालने का काम किया। कलकत्ता नगरपालिका व विश्वविद्यालय बिल का उग्र विरोध चल रहा था। ऐसे ही काल में ११ फरवरी, सन् १९०५ को कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में लॉर्ड कर्जन स्वयं पधारने वाले थे। हठवादी वायसराय ने अपने क्रोध को व्यक्त करने का यह अच्छा अवसर ढूँढ़ निकाला, अत्यन्त असभ्य, अपमानजनक भाषा में स्नातकों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—“पश्चिम देश की तुलना में शारीरिक, बौद्धिक अथवा नैतिक दृष्टि से यदि पूर्व की प्रमुख विशेषता को यदि मुझे एक ही शब्द कहना पड़े तो मुझे उसके लिये गण्य मारना या डींग मारना शब्द को ही प्रयोग में लाना होगा। यह देशी प्रेस के लिये और भी अधिक उपयुक्त है।”

विशाल मण्डप में न्यायाधीश बनर्जी के निकट बैठीं निवेदिता धर्म-प्रधान भारतीय जन-जीवन पर असत्य-वादिता के भीषण आरोप को सुनकर क्रोध से आग-बबूला हो उठीं, यह असहनीय था। कार्यक्रम समाप्त होते ही बाहर आकर झुल्लाकर वे बोल उठीं—“मैं सिद्ध कर दूँगी कि लॉर्ड कर्जन स्वयं झूठा व्यक्ति है।” विद्वत् मण्डली उनके तमतमाये हुए चेहरे को चकित होकर देख रही थी, किन्तु न्यायाधीश महोदय को विश्वास था कि तथ्यों के आधार पर बोलना निवेदिता का स्वभाव है। भगिनी उसी क्षण न्यायाधीश महोदय को लेकर इम्पीरियल लाइब्रेरी में गई तथा अल्मारी से ढूँढ़कर एक पुस्तक निकाली और एक पृष्ठ खोलकर न्यायाधीश महोदय के हाथों पर रख दिया। श्रीयुत बनर्जी महोदय के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। जब उन्होंने देखा कि उक्त पुस्तक ‘प्रोबलम्स ऑफ ईस्ट’ के लेखक लॉर्ड कर्जन स्वयं थे तथा पृष्ठ पर एक घटना का उल्लेख किया हुआ था जिसमें उन्होंने जान-बूझकर झूठ बोला था। मन ही मन न्यायाधीश महोदय भगिनी के प्रकाण्ड पाण्डित्य पर चकित थे। आज भगिनी में उन्होंने एक वीरांगना के दर्शन किये थे। दूसरे दिन अमृतबाजार पत्रिका में लॉर्ड कर्जन की पोल खोलते हुए “झूठा कौन” शीर्षक सम्पादकीय प्रकाशित हुआ जिसकी प्रेरणा भगिनी निवेदिता ने ही दी थी। इससे जनता की दृष्टि में लॉर्ड झूठे साबित हो गये।

बंग-भंग के आन्दोलन में भगिनी निवेदिता ने अस्वस्थ होने पर भी खुलकर भाग लिया। इस विषय की प्रथम सभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—“हम अपने संघर्ष को उस समय तक जारी रखेंगे जब तक कि भारतीय वीरों के बलिदान, बंग-भंग की इस अपमानजनक दीवार को

तोड़कर हमारे प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अंग्रेजों को बाध्य न कर लेंगे।”

स्वदेशी के बारे में आपने एक बार कहा था कि—“एक समय आयेगा जब जो वस्तु स्वदेश में प्राप्त होती है उसे विदेश से खरीदने वालों की गणना गौ हत्यारों में की जायेगी क्योंकि दोनों अपराध नैतिक दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं।”

निवेदिता ने कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर बड़े परिश्रम के साथ स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया था। जिसमें स्वदेशी हस्तकला के बहुत से नमूने संग्रहीत किये गये थे। इसी अवसर पर उन्होंने राष्ट्रीय झण्डे का एक रूप प्रस्तुत किया था। उसमें भगवे रंग के ऊपर वज्र का चिह्न अंकित किया था। राष्ट्रीय पताका का यह प्रारम्भिक रूप था जो विकसित होते हुए वर्तमान रूप में आया।

सन् १९०५ में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोखले ने भगिनी निवेदिता को विशेष रूप से आमन्त्रित किया था उस समय विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रस्ताव विशेष रूप से विचारणीय था किन्तु गोखले जी की अनुमति से निवेदिता को उस समय अनुपस्थित रहना पड़ा। वे प्रारम्भ ही से क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की थीं। अतः उन्हें कांग्रेस की शक्तिपूर्ण नीति पसन्द नहीं थी। देशभक्ति की प्रेरणा प्राप्त करने के लिये उन्होंने राजस्थान की यात्रा की और वीरों के बलिदान-स्थलों पर अपनी अर्द्धाञ्जलि अर्पण की।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का दमन-चक्र जोरों से चल रहा था किन्तु निवेदिता का निवास-स्थान उन सबके लिये आश्रय स्थान बन रहा था। उन्होंने न केवल क्रान्तिकारियों को क्रान्ति की बीधा दी थी किन्तु अनेक क्रान्तिकारियों को बम बनाने तक की शिक्षा दी थी। कई तरुणों को तो उन्होंने इसी निमित्त विदेशों में भेजा था। जब भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी जी के भाई) को दस हजार का दण्ड दिया गया तब निवेदिता ही उसे चुकाने में सहायक हुई।

सन् १९०७ में निवेदिता ने फिर इंग्लैण्ड की यात्रा की और वहाँ अपने परिवार कल्लों से पाँच वर्ष बाद मिलने पर भी अपने लेखन कार्य को जारी रखने के साथ ही संसद के प्रमुख सदस्यों से मिलकर उन्हें भारत का समर्थक बनाया। इतना ही नहीं अपितु वहाँ के प्रमुख पत्र-सम्पादकों को भी भारत के पक्ष में लिखने के लिये प्रेरित किया। इससे भी सन्तुष्ट न होकर उन्होंने पेरिस से “इण्डियन नेशनलिस्ट”, बर्लिन से “तलवार” तथा जिनैवा से “वन्देमातरम्” पत्रों के प्रकाशन की प्रेरणा दी।

इसके बाद उन्होंने अमेरिका में तीन मास निवास कर प्रमुख नगरों की यात्रा की। विशेष राजनीतिज्ञों और

पत्रकारों से मिलकर उन्होंने भारत का समर्थन करवाया। अमेरिका प्रवासी भारतीय क्रान्तिकारियों से भेंटकर उनके लिये चन्द्रनगर में निवास करने की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त अपने विद्यालय के लिये धनसंग्रह और स्वामी जी के पत्रों को एकत्र करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। भारत के आन्दोलन का उन्हें सदा ध्यान रहता था। अपनी मरणासन्न माता के दर्शन करने के लिये वे १९०६ में क्लायत लीटी, किन्तु उसी वर्ष जुलाई में भारत के लिये प्रस्थान कर दिया, यहाँ भारत में, कई क्रान्तिकारियों की हत्याएँ हो चुकी थीं और क्रान्तिकारी जेलों में सड़ रहे थे। उनकी सेवा-सुश्रुषा के लिये निवेदिता ने अपने बन्धु-बान्धवों का मोह भी त्याग दिया।

अमेरिका की श्रीमती बुल, स्वामी जी की अनन्यतम शिष्याओं में से थीं। उन्हीं की सहायता से 'बैलूर मठ', 'निवेदिता बास्विका विद्यालय' तथा 'बोस अनुसन्धान संस्थान' स्थापित किये जा सके थे। उनको स्वामी जी धीरा माता कहा करते थे। इनकी बीमारी का समाचार पाकर निवेदिता सन् १९१० में बोस्टन नगर पहुँचीं और उन्होंने उनकी अचक सेवा की किन्तु वे उन्हें मृत्यु के मुख से न बचा सकीं। उसके पहले वे अपनी प्रिय संस्थाओं को सहस्रों पौण्ड अपने वसीयतनामे के द्वारा दान कर गई थीं। वहाँ से लौटकर निवेदिता ने भी अपने कार्य से विश्राम ले लिया। उनके देखते ही देखते एक के बाद एक स्वामी जी के सभी साथी उन्हें छोड़ते चले जा रहे थे। उन्होंने भी अलवायु परिवर्तन के लिये दार्जिलिंग की ओर प्रस्थान किया। वहाँ वे स्वास्थ्य लाभ न कर सकीं। धीरे-धीरे उनकी हालत बिगड़ती ही गई। मृत्यु के ४ दिन पूर्व उन्होंने एक बड़ा मार्मिक लेख लिखा जिससे आगामी घटना का स्पष्ट पता लगता है। उनके मुख से अन्तिम प्रार्थना निकली—

जस्सो मा सद्गमय।

तस्सो या ज्योतिर्गमय।

मृत्यो मा जन्मृतं गमय।

मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी डायरी में ये चिरस्मरणीय शब्द लिखे—“मेरा प्रियतम वह चिरानन्द सर्वप्रिय है जो इस खिड़की से झाँक रहा है, जो इस द्वार को खटखटा रहा है। ओह प्रियतम ! मेरा सार सर्वस्व तुम्हारा ही है।”

तेरह अक्टूबर को उनका प्रयाण दिवस आ गया। बैलूर मठ से श्री गगनेन महाराज प्रसाद लेकर पहुँच गये। मानो निवेदिता के प्राण इसी के लिये अटके थे। प्रसाद पाने के बाद यह बोल पड़ी—“टूटी नाव अब डूब रही है। परन्तु मेरा विश्वास है कि उदय होते ही दर्शन अवश्य करेंगी” और वह दिव्यवाणी सदैव के लिये मूक हो गई।

सारे देश में इस समाचार के साथ शोक छा गया। बड़े समारोह के साथ उनका अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ। उनकी समाधि पर ये शब्द अंकित मिलते हैं—

“यहाँ चिरशान्ति में लीन हैं—भगिनी निवेदिता” जिन्होंने भारत के लिये अपना सर्वस्व निछावर कर दिया।”

एक बार किसी ने श्री अरविन्द से पूछा था कि निवेदिता ने अपना आध्यात्मिक कार्य छोड़कर क्रान्तिकारी आन्दोलन में क्यों प्रवेश किया ? श्री अरविन्द ने उत्तर दिया—अपने गुरु के आदेश से। निवेदिता की आध्यात्मिक साधना के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा—उनमें समाधि लगाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी।

आज चाहे भारत भले ही निवेदिता को भुला दे किन्तु उनका अक्षय ऋण भारत के धर्म, राजनीति, शिक्षा नीति और समाज सुधार के क्षेत्र में सदा अमर रहेगा। विवेकानन्द के आदर्श के अनुसार, एक दिन भारत फिर से संसार के गुरु का स्थान ग्रहण करेगा। निवेदिता की प्रेरणा से उनके गुरु की दी हुई शक्ति से भारत की सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गई। उन्होंने शिक्षा की नवीन पद्धति का प्रयोग किया, नारी जागरण को बल दिया, भारतीय चित्रकला तथा हस्तकलाओं के क्षेत्र में योगदान दिया, पत्रकारिता को नई दिशा दी, विदेशों को भारतीय संस्कृति का परिचय दिया तथा भारत को भक्ति की दिव्यवाणी से माँ काली के स्वरूप का ज्ञान कराया। स्वतन्त्रता आन्दोलन को नवीन शक्ति प्रदान की तथा अपनी लेखनी से अपार साहित्य का सृजन किया। इन कारणों से संसार में वे सदा अविस्मरणीय रहेंगी।

इस सन्दर्भ में रबीन्द्रनाथ ठाकुर का एक चित्र सामने आता है, उसमें भारत माता के हृदय में निवेदिता खड़ी हैं। उनके सिर पर विवेकानन्द हैं और उनके ऊपर ध्यान मग्न रामकृष्ण हैं। निवेदिता के दोनों ओर जगदीश बोस और एक ओर स्वयं रबीन्द्रनाथ हैं और एक ओर रामानन्द, मोतीलाल तथा तिलक, गोखले आदि नेता हैं, यह चित्र प्रतीकात्मक है।

यहाँ निवेदिता के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का एक वाक्य उद्धृत करेंगे। ‘भगिनी निवेदिता के प्रति हमारे ऋण का कोई अन्त नहीं है।’

भगिनी निवेदिता अपने समय के जिन-जिन महापुरुषों के सम्पर्क में आई उन सभी ने उनके प्रति उच्चभाव प्रकट किये हैं। श्री रबीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा—“वास्तव में निवेदिता जगत जननी थीं। हमने शायद ही कभी इतने मातृस्नेह के दर्शन किये होंगे जो अपने परिवार क्षेत्र से बाहर एक सम्पूर्ण देश को आत्मसात कर सकता

१.६७ मरकर भी अमर हो गये जो

हो ।” श्री यदुनाथ सरकार के शब्दों में—“वे राष्ट्रवादियों में अग्रगण्य थीं ।” श्री विपिनचन्द पाल ने कहा—“वे हमारे मध्य आत्म-समर्पण के भाव से प्रेरित होकर आई थीं ।” श्री मोतीलाल बोस ने लिखा है—“वे दग्ध मानवता को सुख प्रदान करने के लिये मानव रूप में एक देवी थीं ।” श्री दिनेशचन्द सेन ने कहा—“निस्पृह व्यक्तित्व का केवल आज ही मैं दर्शन कर सका हूँ ।”

प्रसिद्ध दार्शनिक रोम्यां रोलों ने उनके सम्बन्ध में लिखा था—“जिस प्रकार सेण्ट क्लारा का नाम सेण्ट फ्रान्सिस से जुड़ा है, इसी प्रकार दक्षिणेश्वर की काली के साथ विवेकानन्द का तथा उनके साथ भगिनी निवेदिता का नाम सदैव जुड़ा रहेगा ।”

पीड़ित मानवता की सेविका : फ्लोरेन्स नाइटिंगेल

संसार के सामाजिक इतिहास में स्त्रियों की स्थिति सदा से प्रायः पराश्रित जैसी रही है । यद्यपि मानव सभ्यता की आदिम अवस्था में घर-गृहस्थी की बागडोर पूर्णरूप से उसी के हाथ में थी और अनेक प्रदेशों में पुरुष के बजाय उसी को परिवार का मुखिया माना जाता था, तो भी शारीरिक शक्ति में पुरुष से न्यून होने और प्रसवावस्था में कुछ समय तक सर्वथा असहाय हो जाने के कारण उसे प्रायः पुरुष का आधिपत्य स्वीकार करना ही पड़ा । फिर बीच के समय में तो ऐसी स्थिति आ गई जबकि स्त्रियों की दशा दास (गुलामों) जैसी हो गई । उस समय शक्तिशाली और सत्ताधीश व्यक्ति सैकड़ों स्त्रियों को पत्नी, रखैल और दासियों के रूप में रखा करते थे ।

स्त्रियों की ऐसी पराधीन अवस्था में यदि अधिकांश स्त्रियों का जीवन घर के चूल्हा-चक्की तक ही सीमित रहता है और सांसारिक अनुभव की दृष्टि से वे कूप-मण्डूक ही बनी रहती हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । विशेषकर हमारे भारतवर्ष में, जहाँ बड़े घरों और उच्च-जातियों की स्त्रियों को तो पर्दे के भीतर बन्द रखा जाता हो और छोटी जाति की स्त्रियाँ गाय-बैलों की तरह घर के काम-काज और खेतों में परिश्रम के लिये उपयोगी समझी जाती हों, वहाँ सामाजिक या राष्ट्रीय क्षेत्र में स्त्रियों का किसी रूप में आगे बढ़कर कोई उल्लेखनीय कार्य कर सकना कहीं तक सम्भव हो सकता था ?

वैसे चरित्र, सेवा-भाव, त्यागमय-जीवन की दृष्टि से भारतीय स्त्रियाँ प्राचीनकाल से आज तक प्रसिद्ध रही हैं, पर उनके ये समस्त गुण और विशेषतायें परिवार के अत्यन्त

मानवमात्र में आत्मीयता की भावना, सेवा-धर्म की सर्वोपरिता और परोपकार के महान् आदर्श की प्रेरणा तो हम भगिनी निवेदिता के चरित्र से ग्रहण कर ही सकते हैं, पर उनकी एक बड़ी शिक्षा की तरफ अभी तक हमने थोड़ा ही ध्यान दिया है—वह यह है कि भारतीय नारी को ऊँचा उठने के लिये उचित अवसर और सुयोग प्रदान किया जाये । नारी क्या कर सकती है ? इसका एक बहुत बड़ा और अकाट्य उदाहरण उन्होंने अपने चरित्र और कार्यों से दिखाया । धार्मिक, शिक्षा सम्बन्धी, कला सम्बन्धी, राजनैतिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उन्होंने ऐसा काम कर दिखाया जिसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती ।

सीमित क्षेत्र में ही समाप्त हो जाते हैं । कभी लाखों-करोड़ों स्त्रियों में से एकाध, अवसर पा जाने से अपनी योग्यता का परिचय दे सकीं तो उसे अपवाद की तरह मान लिया जाता है ।

ऐसी अवस्था में जब हम विदेशों की उन अनेक महिलाओं का वर्णन पढ़ते हैं, जिन्होंने मानव-सेवा और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पुरुषों के समान ही महत्त्व के कार्य किये हैं तो हमारे हृदय में उनके प्रति आन्तरिक श्रद्धा-भाव उत्पन्न होता है । जब हम यह देखते हैं कि इन देवियों ने स्वेच्छा से संसार के समस्त सुखों का त्याग करके कठिनाइयों का जीवन स्वीकार किया और आजीवन परिश्रम करके लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के कष्टों को दूर किया तो उनको एक दैवी आत्मा मानकर भक्तिभाव से मस्तक झुकाना ही पड़ता है । ऐसी ही एक परम पूज्य देवी ‘फ्लोरेन्स नाइटिंगेल’ थीं, जिसके अद्भुत त्याग और अपूर्व सेवा-भाव की गाथा आज देश और विदेशों में लिखी और पढ़ी जाती है ।

नाइटिंगेल (सन् १८२० से १८९०) का जन्म इंग्लैण्ड के एक धनी परिवार में हुआ था । उस समय तक उस तरह के बड़े घरों की कन्यायें सिवाय संगीत, नृत्य और शानदार उत्सवों में भाग लेने के और कुछ नहीं करती थीं । उनके जीवन की सबसे-बड़ी सफलता यही मानी जाती थी कि वे किसी बड़े और मानवीय युवक को आकर्षित करके उसकी सहधर्मिणी बन जायें और जीवनभर ‘भद्र-समाज’ के सभा-समाजों और जलसों की शोभा बढ़ाती रहें । पर न जाने किस दैवी-प्रेरणा से नाइटिंगेल इस मार्ग से बाहर निकल गई । कहा जाता है कि जब वह ६ वर्ष की थी

तभी कहा करती थी कि 'ईश्वर ने ७ फरवरी, सन् १८३७ में मुझे अपनी सेवा के लिये बुलाया है।' वह ये शब्द ईश्वर पर दृढ़ विश्वास और बाल सुलभ प्रेरणा से ही कहती थी, पर वह नहीं समझती थी कि वह 'सेवा' क्या होगी और कहाँ तथा कैसे की जायेगी? पर इस बात से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि जैसे संसार की अनेक महान घटनाओं में एक प्रकार की 'दैवी प्रेरणा' दिखाई पड़ा करती है, वैसा ही कोई अदृश्य और अज्ञात प्रभाव नाइटिंगेल पर भी पड़ रहा था।

नाइटिंगेल का ध्यान आरम्भिक अवस्था से ही गरीबों और दुःखियों की दुर्दशा की ओर चला गया था। वैसे उसके माता-पिता भी बड़े दयालु स्वभाव के थे। वे अपने गरीब पड़ोसियों की सहायतार्थ सदा प्रस्तुत रहते थे तो भी उनका व्यवहार वैसा ही था जैसे बड़े, छोटों के ऊपर कृपा करके किया करते हैं, पर नाइटिंगेल को केवल इतने 'परोपकार' से सन्तोष नहीं होता था, वह दूसरों का दुःख देखकर स्वयं दुःखी हो जाती थी। गरीब और साधनहीन लोगों की दीनावस्था देखकर उसे अपनी सम्पन्नता और सुख-सामग्री की बहुलता खटकने लगती थी। वह सोचती थी कि भगवान ने सब लोगों को सुखी और सम्पन्न ही क्यों न बनाया? इस प्रकार की भावनाओं का परिणाम यह हुआ कि युवावस्था में ही वह त्याग और संयम का जीवन बिताने लगी। वह सदा ऐसे अवसर ढूँढ़ती रहती थी जब किसी अभावग्रस्त की किसी प्रकार की सेवा सहायता करने का अवसर प्राप्त हो सके।

यद्यपि नाइटिंगेल सभी दीन-दुःखियों की सहायतार्थ तत्पर रहती थी, पर उसका विशेष ध्यान 'रोगी परिचर्या' की तरफ था। उस समय तक अस्पतालों का प्रचार कम ही हुआ था और उनकी व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। उनमें रोगियों की सेवा के लिये आजकल की तरह 'नर्सों' (दाइयों) की व्यवस्था नाम मात्र को ही आरम्भ हुई थी। इस कार्य को हीनता का कार्य समझा जाता था, जिससे केवल बहुत छोटे और सभ्यता-शिष्टता की दृष्टि से पिछड़े घरों की स्त्रियाँ ही इस कार्य के लिये तैयार होती थीं। उनको वेतन बहुत कम दिया जाता था, इस कारण वे अपना काम भी बड़ी लापरवाही से करती थीं। उनका रहन-सहन बहुत गन्दा और चरित्र निम्न स्तर का था। इससे रोगियों को अस्पतालों में भी आराम नहीं मिलता था, घरों में तो नर्सों के आकर सेवा करने का रिवाज ही जारी नहीं हुआ था। इसलिये सभी व्यक्तियों को बीमारी की दशा में बहुत कष्ट उठाना पड़ता था और मृत्यु का औसत भी वर्तमान समय की अपेक्षा कहीं अधिक था।

नर्सिंग (धातृ-विद्या) की शिक्षा प्राप्त करना

जब सामान्य दर्जे के लोग भी अस्पताली नर्सों के घन्घे को नीची निगाह से देखते थे तो नाइटिंगेल के माता-पिता जो उच्चवर्ग के सम्मानित सदस्य थे, अपनी पुत्री को कैसे इस कार्य की अनुमति दे सकते थे, उन्होंने सैर-तमाशे और मनोरंजन के विविध साधनों द्वारा उसके विचारों को बदलना चाहा और एक मित्र के साथ उसे रोम की सैर करने को भेज दिया। उनका ख्याल था कि रोम की शानो-शौकत और शिल्प-सौन्दर्य को देखकर, उसका ध्यान उच्चकोटि की कलाओं की तरफ चला जायेगा पर वहाँ पहुँचकर नगर की शोभा और मूर्तियों की कला को देखने के बजाय वह 'रोमन कैथोलिक सिस्टर्स' के सेवा कार्यों का अवलोकन करने लगी और प्रत्यक्ष अनुभव करने की अभिलाषा से 'पवित्र हृदय मठ' नामक संस्था में दस दिन तक निवास करने चली गई। वहाँ रहकर उसने उक्त संस्थान के संगठन और कार्य-प्रणाली का अध्ययन किया।

रोम में ही उसकी भेंट इंग्लैण्ड के भूतपूर्व युद्ध सचिव श्री सिडनी हर्बर्ट से हो गई। इन दोनों के सेवाभावी विचार एक-दूसरे से मिलते थे, इसलिये शीघ्र ही दोनों में घनिष्ठ मित्रता का सम्बन्ध हो गया। श्री हर्बर्ट एक धार्मिक प्रवृत्ति के और विवाहित सज्जन थे तथा उनकी धर्मपत्नी से भी नाइटिंगेल की गाढ़ी मित्रता थी। एक श्री हर्बर्ट ही क्या नाइटिंगेल की योग्यता, सद्ब्यवहार, आकर्षकवाणी और शारीरिक सौन्दर्य के कारण उसके अनेक मित्र हो गये थे और अनेक उच्च पदस्थ व्यक्ति उससे विवाह करने को भी इच्छुक थे पर उसका ध्यान 'सेवा-कार्य' की तरफ इतना अधिक था कि उसने घर-गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेना पसन्द ही नहीं किया।

यात्रा और चिकित्सालयों का अनुभव

रोम में ६ मास बिताने के पश्चात् नाइटिंगेल अपने घर वापस आ गई। वह 'नर्स' के कार्य की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करना चाहती थी पर इंग्लैण्ड में इसकी कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। इसके लिये कुछ स्त्रियों को वहाँ के 'सेन्सबरी अस्पताल' में रखकर यह कार्य साधारण रूप से सिखा दिया जाता था। नाइटिंगेल ने वहाँ जाने की इच्छा प्रकट की, पर एक तो वहाँ बहुत अधिक भ्रष्टाचार फैला हुआ था और दूसरे जो स्त्रियाँ वहाँ जाती थीं वे समाज के बहुत निम्न स्तर के परिवारों की होती थीं इसलिये नाइटिंगेल के माता-पिता ने उसको वहाँ जाने की अनुमति नहीं दी। तब वह इस उद्देश्य से यूरोप के अन्य देशों की यात्रा के लिये चल दी जहाँ उसे इस विषय की उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त होगा वहीं रहकर इसका

१.६६ मरकर भी अमर हो गये जो

ज्ञान प्राप्त करेगी। सन् १८४६ में वह पेरिस पहुँची, वहाँ 'कैथोलिक मिशन' की दो 'सिस्टर्स' से उसकी पहचान हो गई। उनका परिचय-पत्र लेकर वह पूरा यूरोप पार करके मिस्र के 'अलैकजैण्ड्रिया' नगर में पहुँची जहाँ उक्त संस्था के कई अस्पताल और स्कूल चलाये जा रहे थे। यहीं उसने सबसे पहले अस्पतालों के प्रबन्ध में अनुशासन का सबक सीखा।

मिस्र से वापस लौटते समय नाइटिंगेल जर्मनी के 'कैसरवर्थ' में ईसाई धार्मिक महिलाओं की धातृ-विद्या सम्बन्धी संस्था को देखने गई और वहाँ १५ दिन ठहर कर उनकी कार्यप्रणाली को देखा। उसे मालूम हुआ कि उसमें जो स्त्रियाँ कार्य सीखने आती हैं, वे वेतन के लोभ से नहीं आतीं वरन् उनके हृदय में दीन-दुःखियों की सेवा के भाव पूरी तरह मौजूद हैं और वे अपना धर्म-कर्तव्य समझकर ही इस कार्य को करती हैं। नाइटिंगेल ने इंग्लैण्ड लौटकर अपने माता-पिता को इस संस्था का हाल बताया। कुछ महीने बाद वह अपनी एक बहिन के साथ पुनः 'कैसरवर्थ' गई और चार महीने तक रहकर वहाँ की पूरी शिक्षा प्राप्त की। उसे एक पादरिन के कठोर नियन्त्रण में रहना पड़ता था, बड़े सवरे उठकर अपना समस्त सेवा-कार्य स्वयं करना होता था, भगिनी-समाज का बहुत साधारण भोजन करना पड़ता था और तब धातृ-विद्या सम्बन्धी व्याख्यानों को कई घण्टे तक सुनना पड़ता था। एक बड़े घर की कोमल और सुकुमार प्रकृति की नारी के लिये इस प्रकार का जीवन निःसन्देह कठिन और आत्म-त्याग का था, पर उसकी 'सेवा-भाव' की लगन सच्ची थी इसलिये वह वहाँ प्रसन्नता पूर्वक ठहरी रही। उसे सन्तोष था कि यहाँ रहकर वह उस ज्ञान को प्राप्त कर रही है, जो उसके महान उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त नाइटिंगेल ने अन्य कितने ही ऐसे स्थानों की यात्रा की जहाँ रोगियों की सेवा का कार्य उत्तम रीति से चलाया जाता था। इसका वर्णन करते हुए 'पश्चिमी मानव सेविकायें' नामक पुस्तिका में बतलाया है—'नाइटिंगेल ने चेष्टा करके वे ही स्थान तलाश किये जहाँ दुःखियों और मोहताजों के लिये किसी प्रकार का अच्छा कार्य किया जा रहा था। कई बार उसने सोचा और अन्त में यही निश्चय किया कि उसे केवल वही काम चुनना चाहिये जिसकी उसके देश में आवश्यकता हो और जिसके वहाँ पूरा हो सकने की सम्भावना हो।' उसका काम एक नेता की तरह केवल मार्ग प्रदर्शन और संकेत कर देना नहीं है, उसे तो अपना रास्ता स्वयं परिश्रम करने बनाना होगा। यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा करने के पश्चात् वह उस मार्ग के अवलम्बन करने का दृढ़ निश्चय लेकर लौटी जिस पर

चलना उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। वह जानती थी कि सारे दुराग्रहों और कड़े विरोधों को उसे स्वयं अपने हाथों से दूर करना होगा। उसने अपने आस-पास और लन्दन नगर में जीवन के उस खोखलेपन का अनुभव किया, जो सामाजिक रूढ़ियों के कारण उसे मानव-सेवा करने से रोक रहा था। ऐसी मनोभावना और परिस्थिति में उसने अपने एक मित्र को लिखा—

“इस वर्ष भी कुछ कार्य न हो सका और न मुझे विश्वास है कि आगे चलकर हो सकेगा। मुझे अपने युवावस्था के जीवन से इसके अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं जान पड़ता कि मेरी आयु का एक-एक वर्ष निष्फल होकर न्यून होता जाता है। मैं कभी किसी कार्य के योग्य न हो पाऊँगी। मेरा जीवन धूल और राख से भी गया-बीता हो रहा है। हे ईश्वर! मेरा क्या होगा? इन सब बातों से मेरा निस्तार कैसे होगा? मुझे कुछ करने का अवसर दीजिये।”

नाइटिंगेल किसलिये दुःखित थी? उसे भरा-पूरा परिवार, बहिन-भाई, दास-दासी सब कुछ उपलब्ध थे, और 'उच्च श्रेणी' के कहलाने वाले सांसारिक मनुष्य भी जो कुछ करते हैं उसका उद्देश्य इन्हीं वस्तुओं को प्राप्त करना होता है। अगर इस स्थिति को 'ईमानदारी' का व्यवहार करके प्राप्त किया जा सके तो आजकल की दुनिया में उसे कोई बुरा भी नहीं कहता पर फिर भी नाइटिंगेल अपनी आत्मा के भीतर एक व्याकुलता और घोर अभाव का अनुभव कर रही थी। उसे सदैव यही जान पड़ता था कि इस प्रकार खाने-पीने और सुखपूर्वक समय व्यतीत कर देने में जीवन की सार्थकता नहीं है, भगवान ने हमको केवल इन्हीं बातों के लिये संसार में नहीं भेजा है, मानव-जीवन का उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। अच्छा भोजन, वस्त्र, मकान आदि तो भले-बुरे, सज्जन-दुष्ट, परिश्रमी, आलसी सभी को मिल सकता है पर यदि हमारा जीवन दूसरों के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं होता, हम भगवान की सृष्टि को अधिक उत्तम, रहने योग्य बनाने में कुछ योगदान नहीं करते तो वह जीवन 'सार्थक' नहीं कहा जा सकता।

हम समझते हैं कि ये विचार हमारे यहाँ अधिकांश नर-नारियों को कुछ अजीब से जान पड़ेंगे। यहाँ अधिकांश व्यक्ति तो अभी 'सामाजिकता' का अर्थ ही नहीं समझते। अपने छोटे से परिवार या अल्पसंख्यक बिरादरी (जाति) के घेरे के भीतर रहकर, उसके रीति-रिवाजों का पालन करते हुए, अगर वे अच्छी तरह कमा और खा सकते हैं तो वे इसको अपनी जीवन की पूर्ण सफलता मान लेते हैं। इससे यदि किसी का विचार आगे बढ़ता है और वह धर्म-कर्म

को भी जीवन में एक आवश्यकता मानता है, तो वह थोड़ी देर किसी तरह की पूजा-पाठ, देवोपासना, कथा-कीर्तन आदि कर लेता है और सन्तुष्ट हो जाता है कि उसने 'ईश्वर को प्रसन्न' कर लिया, पर दूसरे लोगों के कष्टों या अभावों को देखकर इतना दुःखी हो जाना कि उनको अपना 'सुखी-जीवन' भी भारी पड़ जाये—इसे वे एक भावुकता ही समझते हैं। वे ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा में चाहे मुँह पर दो-चार बातें कह दें पर मन में और पीठ पीछे उसे भूख या सनकी ही बतलायेंगे।

खेद है कि जिस देश के मनीषियों ने सर्वप्रथम आत्मा की एकता और मनुष्यमात्र के भ्रातृ-भाव का संदेश संसार को दिया, जिन्होंने अपना समस्त धन-सम्पत्ति, राजपाट ही नहीं वरन् अपनी हड्डियाँ तक दूसरे के हितार्थ अर्पण कर दीं, आज उन्हीं की सन्तानों को 'परोपकार' और 'सेवाधर्म' का महत्त्व समझाना कठिन हो गया है। एक पश्चिमी देशों के नर-नारी हैं जो प्रत्यक्ष में भौतिकवादी होने पर भी अपने आपद्ग्रस्त देशवासियों की सहायता के लिये तन-मन-धन अर्पण करने को तुरन्त तैयार हो जाते हैं और एक हमारे ये भाई हैं, जिन्हें इस प्रकार के कामों में सिवाय मूर्खता अथवा बहक जाने के अतिरिक्त और कुछ नजर ही नहीं आता !

अब नाइटिंगेल ने 'नर्स' के पेशे में पदार्पण करने का निश्चय कर लिया। उस समय वह समस्त इंग्लैण्ड में इस विद्या की सबसे बड़ी जानकार और सब प्रकार से सुयोग्य और चरित्रवान महिला थी। सच पूछा जाये तो 'नर्स' का पेशा उसके समान किसी त्यागमयी देवी की ही राह देख रहा था। यद्यपि इस कार्य की आवश्यकता और महत्ता को सब मन में अनुभव करते थे, पर जब तक कोई उच्चकोटि की महिला उसमें हाथ नहीं डालती तब तक उसका उचित विकास और उद्धार होना सम्भव नहीं था और किसी उच्च श्रेणी महिला का उसमें आना इसलिये कठिन था कि एक तो यह काम बड़ा परिश्रम साध्य और एक दृष्टि से अरुचिकर था, दूसरे उसका स्तर बहुत गिरा हुआ था, जिससे उच्च वर्ग की कोई भी महिला उसमें सम्मिलित होना अपने सम्मान की दृष्टि से हानिकारक समझती थी।

अपने घर वालों तथा इष्ट-मित्रों की ऐसी विरोधात्मक भावनाओं के कारण नाइटिंगेल भी अभी तक अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित न कर सकी थी। यह बात नहीं कि वह उस समय 'नर्सों' की पतित और हेय स्थिति को न समझती हो, पर इसी दुरावस्था का सुधार करने के उद्देश्य से तो वह इस कार्य को स्वयं आरम्भ करना चाहती थी। उसकी इच्छा थी कि इस पेशे का इस प्रकार सुधार किया

जाये और सच्ची सेवा-भावना द्वारा उसे इतना पवित्र और सम्माननीय बनाया जाये कि किसी श्रेष्ठ स्त्री को उसमें भाग लेने में संकोच न जान पड़े। उसके शुभचिन्तक श्री सिडनी हर्बर्ट ने भी उसके इन विचारों का समर्थन किया और स्वयं मध्यस्थ बनकर उसके घर वालों से उसे अनुमति दिला दी।

सबसे पहले नाइटिंगेल को जिस संस्था का कार्यभार ग्रहण करना पड़ा उसका नाम था 'अमीर महिलाओं का स्वास्थ्य निकेतन' (सैनीटोरियम)। यह सन् १८५३ की बात है जब वह ३३ वर्ष की हो चुकी थी। इस कार्य में भी उसे पुराने प्रबन्धकर्ताओं द्वारा अनेक कठिनाइयों और विरोधों का सामना करना पड़ा, पर वह अब इस सम्बन्ध में इतना अनुभव प्राप्त कर चुकी थी कि शीघ्र ही उसने सब स्त्री-पुरुष कार्यकर्ताओं को अधिकार में कर लिया। उसकी कार्यकुशलता से संस्था का नाम कुछ ही महीनों में इतना बढ़ गया कि पुराने मकान को छोड़कर एक नया मकान लेना पड़ा। इस सम्बन्ध में उसका सबसे मुख्य सिद्धान्त था 'सफाई'। इस काम के लिये स्वच्छ वायु की आवश्यकता थी। अभी तक रोगियों के कमरों की खिड़कियाँ बन्द रखने की नियम था, पर नाइटिंगेल ने उनको खुला रखने का आदेश दे दिया और इससे रोगियों का स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा शीघ्र सुधरने लगा। इस प्रकार के कितने ही सुधार उसने उक्त संस्था में किये, जिससे उसकी ख्याति चिकित्सा क्षेत्र में दूर-दूर तक फैल गई। इसी समय सन् १८५४ के सितम्बर मास में क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया। वैसे तो यह रूस और टर्की के बीच आरम्भ हुआ था। पर इंग्लैण्ड ने टर्की का पक्ष लिया और अपनी सेना को क्रीमिया के युद्ध क्षेत्र में भेज दिया। उस समय वहाँ कितनी ही बातों की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकी थी, जिससे सिपाहियों को तकलीफ उठानी पड़ती थी। खास कर घायलों और रोगियों की बड़ी दुर्दशा थी। साधनों की कमी और अधिकारियों की लापरवाही से उनकी स्थिति बड़ी असन्तोषजनक हो रही थी। इसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु संख्या भी बहुत अधिक थी। इसका वर्णन करते हुए इंग्लैण्ड के प्रमुख पत्र 'टाइम्स' के युद्ध-क्षेत्र स्थित सम्वाददाता ने निम्नलिखित पत्र भेजा था—

“सर्व साधारण के लिये यह बड़े आश्चर्य और दुःख का विषय है कि यहाँ घायलों की रक्षा के लिये उचित प्रबन्ध नहीं है। न तो यहाँ सर्जनों की ही पर्याप्त संख्या है और न नर्स और पट्टी बाँधनेवाली स्त्रियों की ही। इस त्रुटि के लिये किसी को दोष न देकर यह समझ लेना चाहिये कि यह प्रचलित परिचर्या-प्रणाली का ही अपराध है। जहाँ घायलों के घावों पर पट्टियाँ बाँधने को बस्त्रों तक का अभाव हो, उसके सम्बन्ध में भला और क्या कहा जाये ? स्कूटारी

१.७१ मरकर भी अमर हो गये जो

(युद्ध क्षेत्र के पास का कस्बा जहाँ अस्पताल काम कर रहा था) के अभागे निवासियों के दुःख को देखकर लोगों के हृदय में करुणा का समुद्र उमड़ रहा है, प्रायः सब ही परिवार पट्टी आदि की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये अपनी पुरानी पोशाकें दे रहे हैं परन्तु यह समझ में नहीं आता कि इस आने वाली आवश्यकता का पहले ही ध्यान क्यों नहीं रखा गया ? कभी-कभी यहाँ तक होता है कि घायल लोग अलग पड़े घोर यन्त्रणा सहते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करते रहते हैं और उनके पास डॉक्टर झाँकने को भी नहीं आ पाते । जब रोगी एक विशाल भवन में लाये गये तो हमें आशा हुई कि वहाँ बेचारों की ठीक देख-भाल की जायेगी परन्तु जब पता लगाया तो देखा कि वहाँ तो किसी मामूली अस्पताल के समान भी औजार आदि का प्रबन्ध नहीं है । ऐसी बुरी दशा में यदि रोगी मरने लगे तो आश्चर्य ही क्या ? ब्रिटिश सेना के चिकित्सा विभाग की यह बड़ी भारी भूल है, जो वह अपने कर्तव्य की उपेक्षा करके मैले-कुचैले चियड़ों की पट्टियों द्वारा अपने घायलों को स्वस्थ करने की आशा कर रहा है ।”

इस पत्र ने जनता में रोष की एक लहर फैला दी और सब विचारों के लोग सरकारी अधिकारियों पर दोषारोपण करने लगे । उस समय श्री सिडनी हर्बर्ट ही युद्ध सचिव का काम कर रहे थे । उनको तुरन्त नाइटिंगेल का ध्यान आया और उसे एक पत्र द्वारा सूचित किया कि ‘घायलों के सम्बन्ध में सारे काम का निरीक्षण करने वाला वहाँ कोई नहीं है, क्या तुम जा सकती हो ?’ इस पत्र को पढ़ते ही नाइटिंगेल को अनुभव हुआ कि बस ‘ईश्वरीय बुलावे’ का समय आ गया । उधर जनता की तरफ से युद्ध-क्षेत्र में लड़ने वाले सिपाहियों को सुख-सामग्री एकत्रित करने के लिये एक ‘निधि’ स्थापित की गई और ‘नर्सों (घायलों) के लिये एक अपील प्रकाशित की गई । बड़ी शीघ्रता के साथ सब बातें तय की गई और नाइटिंगेल को सरकारी तौर पर युद्ध-विभाग का एक पत्र मिला जिसके द्वारा वह टर्की में अंग्रेजी जनरल अस्पताल की ‘स्त्री-सेवा-संस्था’ की सुपरिन्टेन्डेण्ट नियुक्त की गई । दो दिन पश्चात् २१ अक्टूबर सन् १८५४ को वह ‘स्कूटारी’ के लिये रवाना हो गई । उसके साथ ३८ स्वयंसेविका ‘नर्सों’ का एक दल था, जिन्हें उसने उसी बीच जमा किया था और जिनकी वह परीक्षा कर चुकी थी ।

सरकारी आज्ञा द्वारा नाइटिंगेल को भेजे जाने की घोषणा होते ही उसका नाम भी चारों तरफ फैल गया । लोग कहने लगे कि ‘देखो यह कैसी सज्जन और सेवाव्रती है जो धनवान, सर्वप्रिय और आकर्षक होते हुए भी अपना सुख और समृद्ध जीवन त्यागकर भय, त्रासदी और कष्टों

का सामना करने को तैयार है ।’ सेना के जिस प्रधान अप्सर और रणक्षेत्र के प्रमुख चिकित्सा अधिकारी द्वारा इस कार्य के लिये धन का प्रबन्ध करना था, उस पर धन और उपहारों की वर्षा होने लगी और समस्त जनता इस बात के लिये कटिबद्ध हो गई कि सामग्री के अभाव से एक भी घायल अंग्रेज सिपाही को न मरने दिया जाये ।

पर अब कुछ दुराग्रही लोगों ने एक नया ही राग छेड़ा । नाइटिंगेल ने जो दाइयाँ इकट्ठी की थीं उनमें रोमन कैथोलिक, एंग्लीकन और अन्य सम्प्रदायों की भी दाइयाँ थीं । चालीस दाइयों को भेजने की योजना बनाई गई थी, पर नाइटिंगेल बहुत प्रयत्न करके ३८ ही ऐसी योग्य दाइयाँ पा सकीं जो इस कठिन और असुविधाओं का जीवन स्वीकार करने के लिये आगे आईं । पर ‘धर्म’ के नाम पर दुराग्रह करने वाले और अन्धविश्वासी लोगों को वास्तविक कार्य से क्या मतलब ? वे तो नाइटिंगेल पर आक्षेप लगाने लगे कि उसने अपने सम्प्रदाय का पक्षपात किया है । जब स्वयं महारानी विक्टोरिया ने ‘नर्सों’ की मुखिया को अपना आशीर्वाद दिया तब इस प्रकार के आक्षेपों का अन्त हो सका ।

इस घटना को पढ़कर हमें अपने देश के वे दृश्य याद आ जाते हैं, जहाँ परोपकार और सेवा के कार्यों में पंडित लोग और ‘विद्वान’ कहलाने वाले धर्मशास्त्र के नियमों के नाम पर बाल की खाल निकालने लगते हैं । वे सेवाकार्य करने वाले को प्रोत्साहन और सहायता देने के बजाय उल्टी इस प्रकार की नुक्ताचीनी करते हैं, जिससे कार्य में बाधा पड़ती है । ऐसे लोग उद्देश्य की महानता की चिन्ता न करके अपने व्यक्तिगत महत्त्व और प्रतिष्ठा के अधिक अभिलाषी होते हैं और उसी मनोवृत्ति से उत्तम पुण्य-कार्यों में भी रोड़ा अटकाने से बाज नहीं आते ।

कुछ सरकारी अप्सरों ने भी इस योजना पर यह आक्षेप किया कि जो कार्य मुख्यतः पुरुषों का था, उसकी जिम्मेदारी एक स्त्री को क्यों दी गई ? उस समय तक इंग्लैण्ड में भी सार्वजनिक कार्यों और खासकर युद्ध सम्बन्धी कार्यों में स्त्रियों का प्रवेश नहीं हुआ था और इस कार्य का भार उठाने के लिये बड़े साहस की आवश्यकता थी, पर जब फ्लोरेन्स को महारानी का प्रोत्साहन वाला संदेश मिल गया तो उसने ऐसे स्वयंभू आलोचकों की कुछ परवाह न की और दृढ़तापूर्वक कर्म-क्षेत्र में पहुँचकर कर्तव्य-पालन में प्रवृत्त हो गई ।

घायलों की स्थिति में सुधार

जब फ्लोरेन्स अपने नर्स-दल के साथ ‘स्कूटारी’ पहुँची तो उसे अस्पताल के लिये तुर्कों की लम्बी-चौड़ी बारकें दे

दी गई। यहाँ पर चार अस्पताल थे, जिनमें से एक पहले का बना 'जनरल हॉस्पिटल' था इसकी दशा कुछ अच्छी थी और उसमें घायलों तथा रोगियों की संख्या लगभग एक हजार थी। दूसरा यही बारकों वाला अस्पताल था। इनके अतिरिक्त दो और थे। जिस समय फ्लोरेन्स वहाँ पहुँची उस समय इनकी क्या दशा थी इस सम्बन्ध में कहा गया था—

“ये सब अस्पताल असाधारणरूप से अस्वास्थ्यकर तथा गन्दे थे और उनमें रोगियों का बुरी तरह जमघट था। जो जहाज क्रीमिया से रोगियों और घायलों को वहाँ लाते थे, उनमें चिकित्सा तथा सेवा सुश्रूषा की कोई व्यवस्था न थी। बालबलेवा के युद्ध क्षेत्र से स्कूटारी तक आने में जहाजों को २½ दिन लगते थे। अव्यवस्था के कारण हर जहाज में एक हजार में से ७४ व्यक्ति रास्ते में ही मर जाते थे। रोगियों को जहाज से उतारने में भी बड़ा कष्ट होता था। जिन लोगों को चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान नहीं उन्होंने इन बारकों को ही अस्पताल के लिये यथेष्ट और पर्याप्त समझ लिया था। यहाँ तक कि वहाँ के प्रधान मेडीकल अफसर ने चूने से पुत जाने मात्र से उनको अस्पताल के योग्य बतला दिया, पर वास्तव में वे मकान 'रोग के घर' थे। उनमें दुर्गन्ध के मारे रोगियों का नाक में दम था। वायु के आवागमन के लिये पर्याप्त मार्ग न था। नालियों में इतना कीचड़ और कूड़ा-कर्मट भरा था कि पानी बीच में ही रुका सड़ा करता था। एक रोगी को जितना स्थान मिलना चाहिये उससे एक चौथाई ही मिलता था।”

इन दूषित परिस्थितियों के सम्बन्ध में मिस फ्लोरेन्स ने कई वर्ष बाद रॉयल कमीशन के सामने गवाही देते हुए कहा था—“रात्रि में बारक के अस्पतालों की जो दुर्दशा रहती थी उसका वर्णन करना असम्भव है। मैंने यूरोप के अनेक बड़े-बड़े नगरों में गन्दे और भ्रष्ट मकान देखे हैं, पर इतना बुरा कोई नहीं देखा, जिसकी इस अस्पताल से तुलना की जा सके। रोगियों के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी, उन सबकी वहाँ कमी थी। चारपाइयाँ और साधारण व्यवहार के बर्तन तक नहीं थे। पट्टी बाँधने का कपड़ा इतना मोटा और खुरदरा था कि उसकी पट्टी बँधवाने की अपेक्षा घायल कम्बलों में लिपटे रहना ही अधिक अच्छा समझते थे। वहाँ सोने के लिये कोई पृथक कमरा नहीं था और न किसी प्रकार का सामान (फर्नीचर) ही था। प्रकाश के लिये बोटलों में लगाई गई बत्तियाँ ही टिमटिमाया करती थीं और आवश्यकता पड़ने पर चीर-फाड़ के औजारों के लिये बगलें झोंकनी पड़ती थीं। ऐसी हालत में भला उन रोगियों की दीन-हीन दशा पर क्या प्रभाव पड़ सकता था

जो घायल होकर या सर्दी खाकर अथवा दस्त आदि की बीमारी के कारण इतनी लम्बी कष्टप्रद समुद्री यात्रा के पश्चात् आरोग्य लाभ करने के लिये वहाँ आते थे।”

अपार कार्य-भार और सहनशीलता

जैसा ऊपर कहा गया है, सेना विभाग के कितने ही अधिकारी स्त्री होने के कारण फ्लोरेन्स को उपेक्षा की निगाह से देखते थे और उसकी आज्ञानुसार कार्य करना अपनी तौहीन समझते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे आरम्भ में बड़ा परिश्रम करना पड़ा, जिसकी एक सम्पन्न घराने की सुकुमार महिला से कभी आशा नहीं की जा सकती थी। इसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने उसके अपूर्व गुणों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा उससे हमारे अनेक पुरुष भाई भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

जब फ्लोरेन्स को यह मालूम हुआ कि अधिकारी वर्ग उसकी व्यवस्थाओं के संचालन में सहायक न होंगे तो इस वीरांगना ने प्रतिदिन बीस घंटे तक काम किया, जिसमें उसे रसोइये, गृह प्रबन्धक, मेहतर, घोड़ी, गोदाम-रक्षक और सामान ढोने वाला आदि सबके कर्तव्य अकेली को पूरा करने पड़े। उसने अपना यह नियम बना लिया था कि चाहे रात को कितनी ही देर क्यों न हो गई हो, या सुबह अँधेरा ही हो तो भी अपना दफ्तर का सब काम समाप्त करके विश्राम करने से पूर्व अपने अस्पताल का अन्तिम दौरा कर आती थी। लम्बी, दुबली-पतली आकृति, काला ऊनी वस्त्र पहिने, भूरे बालों पर सफेद टोपी लगाये, हाथ में लैम्प लिये हुए वह रोगियों के बिस्तरों की कतारों के बीच में से हर रास्ते से होकर जाती और बीमार लोगों को सान्त्वना देती फिरती। इसलिये सिपाहियों में उसका नाम 'लैम्प वाली महिला' पड़ गया और इसी नाम से वह अमर हो गई।”

जैसाकि सरकारी कामों में प्रायः देखा जाता है कि सब सामग्री होने पर भी कर्मचारियों की लापरवाही और विभिन्न स्थानों में लिखा-पढ़ी में देर कर देने से उसका उचित उपयोग नहीं होता। पुरुष कर्मचारी प्रायः परिस्थिति और किसी के सुख-दुःख पर ख्याल न करके 'लिखित नियमों' का पालन करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं, चाहे ऐसा करने से वह सामग्री और उद्देश्य दोनों ही क्यों न नष्ट हो जायें। पर फ्लोरेन्स का मार्ग ही दूसरा था। वह किसी भी प्रकार जरूरतमन्दों के कष्टों को मिटाना चाहती थी, चाहे इसके लिये उसे किसी प्रकार के 'कानूनी एतराज' या ऊँचे अफसरों के विरोध का सामना ही क्यों न करना पड़े। 'स्कूटारी' में अस्पताल की व्यवस्था करते हुए उसने इस

१.७३ मरकर भी अमर हो गये जो

प्रकार की समस्यायें किस प्रकार सुलझाई इसके दो-एक उदाहरण निम्न दिये जाते हैं ।

एक बार मकान बनवाने का कार्य उसने अपने जिम्मे लिया । अस्पताल में कुछ कोठरियाँ ऐसी बेहंगी बनी थीं कि उनमें रोगियों को ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती थी । उधर सेना के कमाण्डर ने आज्ञा दी कि बहुत से नये रोगी तथा घायल शीघ्र ही अस्पताल में भेजे जायें परन्तु वहाँ जगह की कमी पहले से ही बहुत थी । जो मकान अभी खाली पड़े थे वे मरम्मत करके उन रोगियों के रहने लायक बनाये जा सकते थे । इस कार्य के लिये एक बड़ी रकम की आवश्यकता थी । जिसे और कोई उच्च सैनिक अधिकारियों के अतिरिक्त मंजूर नहीं कर सकता था, मिस फ्लोरेन्स ने इस विषय में सबसे पहले प्रयत्न आरम्भ किया । उन्होंने अस्पताल के प्रधान अधिकारी डॉक्टर ग्रेगरी की अनुमति लेकर मकान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लेडी स्टेट फोर्ड को लिखा । उन्होंने कार्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसे पूरा करने के लिये अपने चीफ इंजीनियर मि. गौर्डन को नियुक्त कर दिया ।

मकान बनाने का कार्य १२५ मजदूरों से आरम्भ किया गया । पर पीछे मजदूरों की संख्या थोड़ी देख कर फ्लोरेन्स ने २०० मजदूर अपने अधिकार से बढ़ा दिये, जिससे कार्य बहुत जल्दी समाप्त हो गया । अब अनुमतिदाता लेडी स्टेट फोर्ड ने तो अपना उत्तरदायित्व पहले के १२५ मजदूरों तक ही स्वीकार किया और शेष दो सौ के वेतन की जिम्मेदारी फ्लोरेन्स पर छोड़ दी, जिसको बाध्य होकर उसे अपने पास से चुकाना पड़ा, पर जब युद्ध विभाग के सर्वोच्च अधिकारियों को इसका पता लगा तो उन्होंने फ्लोरेन्स के कार्य को उचित स्वीकार करते हुए उस बिल का रुपया वापस कर दिया ।

एक और घटना का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इंग्लैण्ड से २७ हजार कमीजों का एक चालान आया । मरीजों को उसकी तत्काल ही आवश्यकता थी, पर नियमानुसार उसे खोलने के लिये 'बोर्ड ऑफ सर्वे' की रिपोर्ट की प्रतीक्षा करनी थी । मिस फ्लोरेन्स ने अपनी जिम्मेदारी पर बण्डलों को खुलवा डाला और कमीजें रोगियों को दिलवा दीं । इसी प्रकार फर्श को रगड़कर साफ करवाने के लिये कड़े ब्रूशों और बोरों की आवश्यकता हुई । यदि इन वस्तुओं के लिये सेना के 'परवेयर जनरल' (सामग्री जुटाने वाला अफसर) को लिखा जाता तो हफ्तों की देर लग जाती । अतः उसने 'टाइम्स' अखबार द्वारा प्रदत्त सहायता का उपयोग करके उसी समय काम पूरा करा दिया ।

रोगियों के कपड़े धोने का ठेका एक ठेकेदार को दे रखा था । वह फ्लोरेन्स के आने से पूर्व महीने भर में ५—६ कमीजें धोकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता था । जिस अस्पताल में रोगियों की संख्या सैकड़ों तक हो, बहुत से लोग जहाँ विशूचिका, सड़न और अन्य संक्रामक रोगों से पीड़ित हों वहाँ महीने भर में ६ कमीजों की धुलाई—यह कैसे आश्चर्य की बात है ! फ्लोरेन्स से यह दुर्दशा न देखी गई । उसने एक मकान लेकर उसमें कपड़ा धोने की भट्टी बनवा दी और सिपाहियों की स्त्रियों को वहाँ कपड़ा धोने पर नियुक्त कर दिया । यह कार्य भी उसने 'टाइम्स' के कोष से प्राप्त होने वाली सहायता से पूरा किया । इतना ही नहीं वह अपना ७५०० रु. वार्षिक वेतन भी रोगियों की परिचर्या में ही व्यय कर देती थी ।

युद्ध-स्थल में सिपाहियों के लिये शराब पीना आजकल भी बहुत प्रचलित है । उस समय तो इसे एक मनोरंजन के रूप में भी समझा जाता था और सिपाही अपने वेतन का एक बड़ा भाग इस दुर्व्यसन में व्यय कर डालते थे । जो धन उनके स्त्री-बच्चों के पालन-पोषण में खर्च किया जाना चाहिये था, वह शराबखोरी जैसे जघन्य और हानिकारक कार्य में खर्च कर दिया जाता था । मिस फ्लोरेन्स नाइटिंगेल का विश्वास था कि जो लोग देश के गौरव की रक्षार्थ प्राण उत्सर्ग कर रहे हैं, वे युद्ध समाप्त होने पर अवश्य उन्नति कर सकेंगे । इस उद्देश्य से उसने सिपाहियों के मनोरंजन के लिये वहाँ एक वाचनालय तथा कॉफी की दुकान खुलवा दी । उसने एक मनीऑर्डर ऑफिस भी स्थापित करा दिया जिसके द्वारा सिपाहियों को अपना वेतन अपने परिवारों के पास भेजने की सुविधा हो गई । इस प्रकार ६ मास में ही सिपाहियों के घरों को १० लाख ६५ हजार रु. भेजे जा सके यह देख कर वे सब मुक्त कण्ठ से फ्लोरेन्स की प्रशंसा करने लगे । उसमें से एक ने अस्पताल का वर्णन करते हुए लिखा था—'फ्लोरेन्स के आगमन के पूर्व यहाँ बहुत अधिक दुराचार फैला था परन्तु अब यह स्थान एक गिर्जा के समान पवित्र प्रतीत होता है ।' फ्लोरेन्स सिपाहियों को धार्मिक ईसाई समझकर व्यवहार करती थी । वे लोग भी उसे 'धर्म की देवी' की तरह मानते थे ।

जब उसने ब्रिटिश सैनिकों की अन्य सामान्य आवश्यकताओं की व्यवस्था करना प्रारम्भ किया तो अनेक लोगों ने उसकी खिल्ली उड़ाई तो भी उसने रोगमुक्त सिपाहियों के लिये खेल, मनोरंजन की सामग्री और भोजनालय की व्यवस्था की । उस समय तो लोगों ने इन सुधारों का पूरा मूल्य नहीं समझा पर आज ये सब बातें सैनिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग हो गई हैं । उस समय

जितने अस्पताल फ्लोरेन्स की देख-रेख में थे, वे सब भी एक नवीनरूप धारण करने लगे थे ।

एक बार वह युद्ध के मोर्चे पर गई और उसने अनुभव किया कि सैनिकों की कार्यक्षमता के लिये ताजा भोजन और अन्य सुविधायें भी वैसी ही आवश्यक हैं, जैसी कि गोली-बारूद आदि । जिन स्थानों में घमासान लड़ाई हो रही थी उन स्थानों के उसने तीन बार दौरे किये और हर बार कुछ न कुछ सुधार किया पर वहाँ भी ईर्ष्यालु पुरुष डाक्टरों तथा अन्य कुछ अधिकारियों ने उसका विरोध किया और उसके काम में तरह-तरह से बाधाएँ डालीं । अगर उसके पास खर्च के लिये निजी कोष न होता तो उसे अपनी सहकारी नर्सों सहित बहुत दुःख भोगना पड़ता, क्योंकि उसके पास बड़े विलम्ब से रसद पहुँचाई जाती थी । यद्यपि वह युद्ध विभाग की आज्ञानुसार युद्ध क्षेत्र में गई थी, पर दस दिन तक किसी ने उस बेचारी की बात तक नहीं पूछी ।

युद्ध-क्षेत्र में दूषित जलवायु और उस प्रदेश के प्रतिकूल वातावरण में रहने से फ्लोरेन्स पर भी उसी ज्वर का आक्रमण हो गया जिससे अन्य हजारों सिपाही पीड़ित हुए थे और फ्लोरेन्स ने ही देखभाल, सेवा-सुश्रूषा करके जिनकी प्राण रक्षा की थी । ज्वर का आक्रमण ऐसा तीव्र था कि कुछ समय तक उसके जीवन की आशा ही जाती रही । वह किसी प्रकार बच तो गई पर उसके सुन्दर केश नष्ट हो गये और उसका स्वास्थ्य इतना गिर गया कि वह फिर कभी अपने सौन्दर्य को प्राप्त न कर सकी ।

शायद कुछ पाठक इस बात के महत्त्व को साधारण ही समझें, पर उनको जानना चाहिये कि प्रायः सभी महिलायें सबसे ज्यादा चिन्ता अपने सौन्दर्य की ही करती हैं और यूरोपियन स्त्रियाँ तो इसके लिये कितने ही खर्च और परिश्रम की भी चिन्ता नहीं करतीं । आजकल तो वहाँ ऐसी सौन्दर्य प्रेमी स्त्रियों की भी कमी नहीं, जो अपने केश, आँख, दाँत आदि का बीमा लाखों रुपये का कराती हैं, कि इनकी सुन्दरता को किसी प्रकार क्षति न पहुँचे । ऐसी दशा में फ्लोरेन्स का सेवा-धर्म के लिये सौन्दर्य का भी बलिदान कर देना साधारण बात नहीं थी ।

और समझने वालों ने उस समय भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया । ब्रिटिश साम्राज्य की साम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया ने फ्लोरेन्स को स्वयं लिखकर एक पत्र भेजा जिसमें कहा था—“मुझे उस समय बड़ा सन्तोष होगा जब तुम अपने देश में लौट आओगी । तुम्हारी मित्रता प्राप्त करके मुझे अत्यन्त हर्ष होगा, क्योंकि तुमने स्त्री-जाति के लिये एक उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया है । मैं अपनी

प्रत्येक प्रार्थना में तुम्हारे स्वास्थ्य की रक्षा को स्थान देती हूँ । तुम सदा मुझे अपना शुभाकॉक्षी समझो ।”

इस प्रकार फ्लोरेन्स की सच्ची सेवा भावना और निःस्वार्थता का यह परिणाम हुआ कि उसका नाम देश-विदेशों में प्रसिद्ध हो गया । आरम्भ में जो व्यक्ति उस पर आक्षेप करते थे, उसके त्याग और बलिदान को देखकर उन सबका मुँह बन्द हो गया और वे भी उसकी प्रशंसा करने को बाध्य हो गये । रह गये फौजी अफसर जो स्वार्थवश अथवा अपने अधिकारों में हस्तक्षेप होता समझकर उसकी योजनाओं का विरोध करते थे, उनको अन्त में चुप रह जाना पड़ा, क्योंकि फ्लोरेन्स की सुव्यवस्था और सुधारों के फलस्वरूप घायल होकर अस्पतालों में आने वाले सिपाहियों में से जहाँ पहले १०० में से ४२ की मृत्यु हो जाती थी, वहाँ अब २२ ही मरते थे । इस प्रत्यक्ष प्रमाण ने फ्लोरेन्स के कार्य की उपयोगिता और श्रेष्ठता सब पर प्रकट कर दी और किसी को नुक्ताचीनी करने की गुंजायश न रही ।

यद्यपि बीमारी के फलस्वरूप फ्लोरेन्स बहुत निर्बल हो गई थी और उसका स्वास्थ्य बहुत समय तक नहीं सँभला, तो भी अपने मित्रों तथा परिवार वालों के लगातार आग्रह को अस्वीकार करके वह उस समय तक क्रीमिया में ठहरी जब तक तमाम अंग्रेजी सेना इंग्लैण्ड वापस न लौट गई । जब वह अपने देश को वापस आई तो जनता ने उसके स्वागत की बड़ी तैयारियाँ कीं, पर उसने इसके लिये इन्कार कर दिया और एक दिन चुपचाप स्टेशन पर उतर कर पैदल ही अपने घर पहुँच गई ।

किन्तु शीघ्र ही महारानी विक्टोरिया ने स्वयं ‘बाल मोरल’ नामक स्थान में उसका स्वागत किया और उसके कार्य की सराहना की । उसकी सेवाओं के उपलक्ष्य में जनता ने ५० हजार पौंड (७½ लाख रुपया) का चन्दा एकत्रित किया पर उसने अपनी सेवा के लिये इस प्रकार का कोई धन लेना स्वीकार न किया । तब उसके मित्रों ने उस धनराशि से ‘सेण्ट टामस अस्पताल’ में “नाइटिंगेल ट्रेनिंग स्कूल फॉर नर्सिंग” (नाइटिंगेल धातु शिक्षणालय) की स्थापना कर दी, जिसमें उपयुक्त नारियों को इस कार्य की उत्कृष्ट शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी । निःसन्देह इस योजना से नाइटिंगेल को हार्दिक सन्तोष हुआ, क्योंकि वह नर्सिंग (धातु कला) को केवल एक पेशे का साधन ही नहीं मानती थी । वरन् चाहती थी कि नर्सें रोगियों की सेवा को एक धर्म-कार्य समझकर भी करें । जिन नर्सों ने उसके साथ क्रीमिया में काम किया था उनमें से कुछ के सम्बन्ध में उसने एक जगह लिखा है ।

१.७५ मरकर भी अमर हो गये जो

“वे उत्कृष्ट एवं पवित्र तथा निःस्वार्थ भाव से काम करने वाली हैं। वे सदैव रोगियों को शान्ति और सान्त्वना देने के लिये कार्य करती रहती थीं।”

फिर भी नाइटिंगेल ने अनुभव किया कि बिना उपयुक्त शिक्षा (ट्रेनिंग) के ऐसी सहृदय नर्सों भी चिकित्सा और सफाई का कार्य जैसा चाहिये वैसा नहीं कर सकतीं। ‘सेण्ट टामस’ वाले स्कूल में इन दोनों बातों पर लक्ष्य रखा गया था। यद्यपि नाइटिंगेल अन्य कार्यों की अधिकता के कारण उसमें स्वयं शिक्षा देने में कोई भाग न ले सकी, तों भी वह उस संस्था में शिक्षा पाने वाली नर्सों के काम में ‘ट्रेनिंग’ लेते समय तथा वहाँ से कार्य क्षेत्र में चले जाने पर भी गहरी दिलचस्पी लेती थी। उसने ‘घातृ-विद्या’ पर कई उत्तम पुस्तकें भी लिखीं जिनके द्वारा इस धन्ये को करने वाली महिलायें अपने यथेष्ट ज्ञान में वृद्धि कर सकती हैं। इन पुस्तकों में से ‘नोट्स ऑन नर्सिंग’ (घातृ-विद्या के सम्बन्ध में चुनी हुई बातें) अभी तक इस विषय की एक श्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती है।

उसकी संस्था में शिक्षा पाकर अनेक महिलाओं ने वैसी संस्थायें अन्य स्थानों पर खोलीं और इस प्रकार ‘नर्सिंग’ का धन्धा नये और लोकहितकारी रूप में इंग्लैण्ड ही नहीं यूरोप के सभी देशों में फैल गया। यद्यपि ‘नाइटिंगेल घातृ शिक्षणालय’ का पाठ्यक्रम केवल एक वर्ष का था पर उसमें छात्राओं की ज्ञान-वृद्धि तथा आचार-शुद्धि दोनों बातों की तरफ भरपूर ध्यान दिया जाता था। नाइटिंगेल इस विषय में प्रत्येक नर्स से सम्बन्ध बनाये रहती थी और जब वे स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके नौकरी पर चली जाती थीं तब भी उनसे पत्र-व्यवहार करती रहती थी।

इस प्रकार उसने इस पेशे को, जो थोड़े ही वर्ष पूर्व हीनता और दुश्चरित्रता की निगाह से देखा जाता था, निरन्तर प्रयत्न करके सम्माननीय और समाज के लिये कल्याणकारी बना दिया। अब आवश्यकता पड़ने पर शाही और सरदारों (लॉर्ड्स) घरानों की महिलायें भी नर्सों का काला लबादा और सफेद टोपी पहिन कर रोगियों की सेवा करने में संकोच नहीं करती। अवश्य ही वे इस कार्य को देश की रक्षा और मानवता की दृष्टि से करती हैं और इसके लिये किसी प्रकार का वेतन नहीं लेतीं। पर इससे नर्स के पेशे का सम्मान इतना बढ़ जाता है कि सब देशों के निवासी युद्ध और शान्ति, प्रत्येक स्थिति में उनकी मान-मर्यादा की रक्षा का पूरा ध्यान रखते हैं। सन् १८१५ में जब जर्मनी का फ्रांस और इंग्लैण्ड से युद्ध हो रहा था, बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में एडिथ कैवेल नामक ‘नर्स’ को जर्मन सैनिक अधिकारियों ने, कैदी अंग्रेज सिपाहियों को छिपाकर

भगाने के अभियोग में गिरफ्तार किया। नर्स कैवेल ने अपना ‘अपराध’ स्वीकार किया और उसे गोली से उड़ा दिया गया। एक सेवा कार्यरत स्त्री और वह भी ‘नर्स’ का पवित्र पेशा करने वाली की, हत्या से संसार भर में हलचल मच गई और कुछ समय बाद अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध जो युद्ध की घोषणा की उसका एक कारण नर्स कैवेल की ‘हत्या’ भी थी।

जिस समय नाइटिंगेल क्रीमिया से वापस आई उसका स्वास्थ्य ठीक न था। दो वर्ष तक हजारों सिपाहियों की प्राण-रक्षा के लिये कठोर परिश्रम करने और अन्त में ज्वर के भीषण आक्रमण से उसकी निर्बलता बहुत बढ़ गई थी। इसलिये उसके सभी शुभचिन्तक यह सम्मति दे रहे थे कि अब कुछ महीनों तक वह पूर्ण विश्राम करके अपने स्वास्थ्य को ठीक कर ले। पर नाइटिंगेल के मन में विचार उठ रहा था कि उसका असली काम तो अब आरम्भ हुआ है। क्रीमिया के युद्ध से पहले तो उसे पता ही न था कि अस्पतालों की इतनी दुर्दशा है। यह तो ठीक है कि युद्ध-क्षेत्र में जाने पर अनेक सैनिकों को मरना ही पड़ता है, पर जो घायल बच सकते हैं उनको समय पर चिकित्सा, सेवा और स्वच्छता की कमी से मरने देना एक अन्याय अथवा दण्डनीय लापरवाही की बात है।

सैनिक चिकित्सा विभाग की यही त्रुटि उसे बराबर खटकती रहती थी और इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सुधार कराने के लिये उसने इंग्लैण्ड लौटते ही प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। वह समझती थी कि अभी तो मामला गर्म है, जनता को युद्ध-क्षेत्र में सिपाहियों के कष्ट सहन की बात याद है, यदि इसी समय सैनिक-चिकित्सा विभाग में सुधार करने का प्रस्ताव और कार्यक्रम जनता के सामने पेश किया जायेगा तो उसका सुपरिणाम निकल सकता है।

उसने समस्त सैनिक कागज-पत्रों तथा रिपोर्टों की जाँच सन् १८५८ में ही ८०० पन्नों की एक रिपोर्ट छपाकर प्रकाशित की जिसमें अंग्रेजी सेना के अस्पतालों के प्रबन्ध, उनकी सुव्यवस्था और सैनिकों के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाली अनेक बातों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये गये थे। इस रिपोर्ट का जनता पर इतना प्रभाव हुआ कि सरकार को उसकी इच्छा-पूर्ति के लिये उसी समय एक रॉयल कमीशन नियत करना पड़ा, जिसने सबसे अधिक सहायता नाइटिंगेल की रिपोर्ट से ही ली। उस कमीशन के सामने नाइटिंगेल ने जो गवाही दी वह भी बहुत महत्वपूर्ण थी। कहना न होगा कि ‘रॉयल कमीशन’ ने नाइटिंगेल के अधिकांश सुझावों का समर्थन और कुछ समय बाद वे सब सुधार कार्यरूप में परिणित हो गये। महारानी

विक्टोरिया तो उसके सेवाकार्य से इतनी प्रसन्न थीं कि उन्होंने उसे सचमुच अपनी सखी बना लिया। महारानी की मित्रता भी उसके प्रभाव को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई और इसका उपयोग भी उसने 'नर्सिंग' की वृद्धि और प्रचार करने के लिये ही किया।

परोपकार की भावना की शक्ति कितनी अधिक है और अन्त में वह किस प्रकार सफलता प्राप्त करती है, नाइटिंगेल का जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसका ध्यान करके हमको अपने उन देशवासियों पर तरस आता है जिनके मुहँ से सदा यही निकलता है—'अजी यह संसार बड़ा खराब है। यहाँ 'होम' करते हाथ जलता है।' 'जिसके साथ भलाई करो वही उल्टा बुराई करने को तैयार होता है।' हम जैसे लोग पहले तो बिना किसी प्रकार के अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष लाभ की आशा के किसी सार्वजनिक काम में हाथ ही नहीं डालते और यदि कभी कुछ करने को तैयार भी होते हैं तो फूँक-फूँक कर कदम रखते हैं और जरा-सा भी विरोध, कठिनाई या हानि की सम्भावना सामने आते ही भाग खड़े होते हैं। दरअसल हम कोई भी सार्वजनिक काम समाज का एक सदस्य होने के नाते अपना कर्तव्य समझकर नहीं करते, वरन् या तो किसी प्रकार के दबाव से करते हैं या भविष्य में धन अथवा यश प्राप्ति की भावना से करते हैं। इसलिये ज्यों ही परिस्थिति तनिक बदलती है, लोगों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति में निराशा नजर आती है, त्योंही वे समस्त दोष का भार दूसरों पर डालकर अलग जा खड़े होते हैं।

ऐसे लोगों को नाइटिंगेल के चरित्र से अवश्य कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उसने जो कुछ किया स्वेच्छा से, बिना किसी प्रकार के दबाव या आग्रह के किया। हमारे बन्धुगण तो इष्ट-मित्रों के आग्रह और बुजुर्गों के आदेश से भी किसी ऐसे काम के लिये प्रस्तुत नहीं होते, जिसमें कष्ट-सहने की सम्भावना हो या किसी प्रकार की हानि होती जान पड़े पर नाइटिंगेल ने इष्ट-मित्रों के लगातार मना करने और घर वालों के विरोध करते रहने पर भी ऐसा मार्ग ग्रहण किया जिसमें कष्टों और खतरों के सिवा किसी सांसारिक लाभ की तनिक भी आशा न थी। उसके विरोधियों ने उस पर मनमाने ढंग से काम करने का दोष तो लगाया, पर यह आक्षेप किसी ने नहीं किया कि उसने इस काम में कुछ कमाई कर ली है या कोई जमीन-जायदाद प्राप्त कर ली है। कोई करता भी कैसे—वह तो आवश्यकता पड़ जाने पर उल्टा अपनी गौँठ का रुपया भी सरकारी सिपाहियों की सुख-सुविधा के लिये खर्च कर डालती थी। उसे इस काम में केवल एक ही सुख मिलता था कि यह उसकी अन्तरात्मा के अनुकूल था। अपनी अन्तिम आयु

में उसने अपनी डायरी में एक जगह लिखा था—'हे प्रभो! आपने मेरा हृदय दीन-दुःखियों के दुःखों को दूर करने के लिये प्रेरित किया है, उसे मैं आपकी सेवा में समर्पित करती हूँ। आप जो सेवा चाहें उससे लीजिये।'

लॉर्ड स्टेनली ने 'लैम्पवाली लेडी' की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'मिस नाइटिंगेल के अतिरिक्त मैं और किसी व्यक्ति को नहीं जानता जिसने इंग्लैण्ड या यूरोप के अन्य देशों में पिछले सौ वर्ष में स्वेच्छा से आने वाले खतरों का मुकाबला किया हो और जिसने अरुचिकर पदों को स्वीकार करके एक महान और उपयुक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये इतना कार्य किया हो।'

भारत सम्बन्धी कार्य

क्रीमिया युद्ध की समाप्ति के एक वर्ष बाद ही भारत में गदर छिड़ गया। नाइटिंगेल की इच्छा हुई कि वह यहाँ आकर भी अपना सेवा-कार्य जारी करे, पर एक तो उस समय वह काफी अशक्त हो गई थी और दूसरे उसे सन्देह था कि इतने दूरवर्ती और सर्वथा अपरिचित देश में जाकर मैं कोई उपयोगी कार्य कर भी सकूँगी या नहीं? आरम्भ में तो उसे यहाँ आने का विचार गोरे सिपाहियों की चिकित्सा और स्वास्थ्य-सुधार के लिये ही उत्पन्न हुआ था, परन्तु पीछे उसका दृष्टिकोण काफी विस्तृत हो गया और वह अस्वास्थ्यकर दशा में पड़े हुए लाखों-करोड़ों भारतवासियों की अवस्था और उनके सुधार के उपायों का बड़े ध्यान से अध्ययन करने लगी। उसने सोचा कि इस शिक्षा-प्रचार के विचार-प्रधान युग में यह कोई आवश्यकता नहीं कि हम मौके पर जाकर ही लोगों की सेवा करें। दूर रहकर भी हम उनकी अवस्था का पता लगा सकते हैं और लिखा-पढ़ी के द्वारा उनके हित की बातों में सहायक बन सकते हैं। इसलिये उसने भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विभिन्न विषयों की रिपोर्टों का अध्ययन करना आरम्भ किया और भारतवर्ष से सम्बन्ध रखने वाले देशी-विदेशी मुख्य व्यक्तियों से मिलकर बातचीत और पत्र व्यवहार करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय में उसने इस विषय में काफी अभिज्ञता प्राप्त कर ली। भारत की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं पर उसकी सम्मति बड़ी तथ्यपूर्ण मानी जाने लगी। उसकी चेष्टा से भारतवर्ष की स्वास्थ्य सम्बन्धी अवस्था की जाँच करने के लिये एक 'सेनेटरी रॉयल कमीशन' (स्वच्छता सम्बन्धी आयोग) नियुक्त किया गया, जिसने तीन-चार वर्ष तक पूरी छानबीन करके इस सम्बन्ध में २०२८ पृष्ठ की एक रिपोर्ट तैयार की। इसमें एक स्थान पर उन उत्तरों को भी प्रकाशित किया गया है जो भारतवर्ष के सैनिक अधिकारियों को भेजे गये प्रश्नों के सम्बन्ध में

१.७७ मरकर भी अमर हो गये जो

प्राप्त हुए थे । इस विषय में जब नाइटिंगेल की सम्मति माँगी गई तो उसने २३ पृष्ठों में अपने विचार लिखकर दिये । उसने बताया कि 'सेना में जो रोग फैले हुए हैं उनका मुख्य कारण सैनिक-छावणियों के लिये अस्वास्थ्यकर स्थानों का निर्वाचन करना है । दूषित जल, गन्दी नालियाँ, दुर्गन्धयुक्त बाजार, वायु के आवागमन में रुकावट, थोड़ी-सी जमीन पर अनेक बारकें तथा रोगियों को घरों की अनुपयुक्त बनावट आदि अनेक बातें भी रोगों के फैलने में सहायक बनती हैं । मदिरा-पान की बुराई भी कम हानिकारक नहीं है । सिपाहियों को जैसी सुविधायें मदिरापान के लिये दी जाती हैं वैसी ही यदि नहाने-धोने के लिये होतीं तो भारतीय सेना स्वच्छता के विचार से संसार भर में अग्रसर रहती ।'

इस रिपोर्ट में भारतीय सेना की स्वास्थ्य-रक्षा के सम्बन्ध में जो सिफारिशें की गई हैं वे वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं, पर केवल रिपोर्ट में लिख देने से कोई योजना लाभदायक नहीं हो सकती, उसके लिये आवश्यकता है कि किसी सुयोग्य व्यक्ति को उसकी पूर्ति का भार दिया जाये । उस समय लॉर्ड लारेंस भारत के वायसराय होकर आ रहे थे । यह जानकर नाइटिंगेल उनसे मिली और भारतीय स्वास्थ्य-सुधार के सम्बन्ध में काफी विचार विमर्श किया । नाइटिंगेल की बातों का लाट साहब पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भारतवर्ष में आकर कुछ ही महीनों में 'सैनेटरी कमीशन' की सिफारिशों के अनुसार कार्य आरम्भ कर दिया । कमीशन के सदस्य सेना के स्वास्थ्य-सुधार के सम्बन्ध में उपयोगी परामर्श देने लगे और सभी फौजी अस्पतालों और अन्य सैनिक-संस्थानों में स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा ।

सेवा-धर्म की सच्ची अनुरागिणी होने के कारण नाइटिंगेल मानव-जाति को एक परम-पिता की सन्तान और आपस में भाई-भाई समझती थी और अवसर मिलने पर केवल इंग्लैण्ड ही नहीं, अन्य किसी भी देश के सम्बन्ध में स्वास्थ्य-सम्बर्धन की योजनाओं में सहयोग देने को तैयार रहती थी । यद्यपि क्रीमिया के युद्ध में कार्य करने के पश्चात् स्वास्थ्य के निर्बल हो जाने से दूर देशों की यात्रा और अधिक शारीरिक परिश्रम तो उसके लिये कठिन हो गया था, पर इस कमी को उसने अपने नियमित अध्ययन और पत्र-व्यवहार द्वारा पूरा कर लिया था । वह स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं पर सदैव विचार करती और संसार भर के विद्वानों के ग्रन्थों और वार्तालाप द्वारा सदैव इस विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करती रहती थी ।

इस प्रकार इस विषय में उसका ज्ञान इतना बढ़ गया था और उसकी सम्मति इतनी उपयोगी हो गई थी, कि अस्पतालों के निर्माण और उनकी सुव्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक देशों के कार्यकर्ता और अधिकारी भी उससे परामर्श लेते थे । कई सम्राटों तक ने इस विषय में उसकी सम्मति ली और उसके आधार पर अपने यहाँ अनेक सुधार किये । वह भी इस सम्बन्ध में बड़ी तत्परता से काम लेती थी और बिना आलस्य अथवा प्रमाद के सब पत्रों का विस्तारपूर्वक उत्तर देती थी । सन् १८७० में जब फ्रांस और प्रुशिया (जर्मनी) का युद्ध छिड़ा तो दोनों ही पक्षों के प्रमुख सेनाध्यक्षों ने रोगी-सैनिकों की परिचर्या के विषय में उसकी सलाह ली और उसके आधार पर अपने घायलों की प्राण-रक्षा की व्यवस्था की । सेवा-धर्म वाले के लिये कोई भी शत्रु नहीं रहता । वह जीवमात्र से मैत्री-भाव अनुभव करता है । उसको दृढ़ विश्वास रहता था कि वह जो कार्य कर रही है वह ईश्वर की प्रेरणा से और उसी के आदेश के अनुकूल है । वह बाल्यावस्था से ही जिस 'ईश्वरीय-आज्ञा' की प्रतीक्षा करती रहती थी उसका आशय समाज-सेवा से ही था, क्योंकि ईश्वर की सेवा का एकमात्र मार्ग पीड़ित-मानवता और अन्य सभी प्राणियों के कष्टों को यथाशक्ति मिटाते रहने का प्रयत्न करना ही है ।

इसी दृष्टिकोण से वह भारतवासियों के जीवन-सुधार की अनेक समस्याओं पर गहरा अध्ययन और विचार करती रहती थी और उनके सम्बन्ध में योग्य अधिकारियों से वार्तालाप अथवा पत्र-व्यवहार करके अपने विचार को कार्यरूप में परिणित कराने का प्रयत्न किया करती थी । उसने भारतवर्ष के लिये स्वास्थ्य विषयक उपयोगी पुस्तकें तैयार कराके उनका प्रचार करने का सुझाव 'साहित्य-परिषद्' के अध्यक्ष डॉ. मरडक को दिया । उसने अपने एक पत्र में उनको लिखा—

"मुझे भारतवर्ष के सम्बन्ध में उपयुक्त पुस्तकें उपलब्ध करने में लगातार निराशा हो रही है । मुझे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि 'लेडी डफरिन कमेटी', जिसका उद्देश्य भारत की रोगिणी और प्रसूता स्त्रियों की चिकित्सा और सेवा करने के कार्यक्रमों का प्रसार करना है, अंग्रेजी किताबों से काट छाँटकर ही भारतवासियों के लिये पुस्तकें संकलित कर रही है परन्तु मेरी सम्मति में भारतीय स्त्रियों तथा धार्यों (नर्सों) के लिये जो पुस्तकें लिखी जायें, उनके मूल लेखक वे लोग होने चाहिये जो भारतवर्ष में रहते हों अथवा वहाँ की स्त्रियों की प्रकृति तथा परम्पराओं से भली-भाँति परिचित हों ।"

मिस फ्लोरेन्स ने डॉ. मरडक को जो अनेक पत्र लिखे, उनमें केवल स्वास्थ्य विषयक पुस्तकों का ही जिक्र नहीं होता था। उसने भारतवर्ष में वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों के प्रचार करने की भी सलाह दी थी। उसको पशुओं से भी बड़ा प्रेम था और इस सम्बन्ध में उसने एक पत्र में लिखा था—

“यह जानकर कि भारतवासी अपने पशुओं, खासकर घोड़ों के साथ बुरा व्यवहार और लापरवाही करते हैं, मेरे मन में यह विचार उठा कि घरेलू तथा कृषि-कार्य में काम आने वाले पशुओं के सम्बन्ध में एक छोटी पुस्तक लिखकर वहाँ प्रचारित की जाये। जब मैं अपने घर में कुर्सी पर बैठी हुई पार्कलेन में घोड़ों को देखती हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि वे हमारी अपेक्षा अधिक उपयोगी हैं। किराये की गाड़ियों में जुते घोड़ों की टोंगों की उत्तमता और सुन्दरता को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे बड़े आदमियों की सवारी के घोड़े थे, पर अब उनकी अवस्था में बड़ा अन्तर आ गया है। उनको हरी घास से सज्जित मैदान में दौड़ने की अपेक्षा पक्की सड़क पर चलना पड़ता है तो भी वे भरसक गाड़ियों को खींचने में लगे रहते हैं और इस प्रकार अन्त तक अपने कर्तव्य का पालन करते रहते हैं। मेरा विश्वास है कि ऐसे घोड़े अवश्य स्वर्ग को जायेंगे।”

एक अन्य पत्र में उसने लिखा कि—“एक भारतवासी का अपने ग्राम के साथ कैसा सम्बन्ध होना चाहिये, इस सम्बन्ध में भी एक पुस्तिका लिखी जानी आवश्यक है। मेरी समझ में भारत के प्रत्येक ग्राम में प्रजा सत्तात्मक प्रणाली से मिलती-जुलती पंचायतों का किसी रूप में अस्तित्व होने और गाँव के किसी निवासी ही का उसका मुखिया होने के कारण यह कठिन नहीं है कि इस प्रणाली को फिर से प्रचलित किया जाये। ऐसा करने से आरोग्यता और राज्य-सम्बन्धी नियमों के पालन करने में इंग्लैण्ड की अपेक्षा भारत में अधिक सुविधा हो जायेगी।”

इस प्रकार जिस समय जो भी समस्या उसके सामने आई, उस पर उसने गम्भीरतापूर्वक विचार किया और उसे निवारण करने के उपायों पर अपनी सम्मति प्रकट की। सन् १८७७ में भारतवर्ष में घोर अकाल पड़ा तो उसका ध्यान यहाँ के ‘जल-कष्ट’ की तरफ आकर्षित हुआ। उस समय उसने अपने एक परिचित सज्जन को पत्र में लिखा—“मैं १८ वर्ष से भारतीय स्वास्थ्य-सुधार सम्बन्धी कार्य और प्रचार कर रही हूँ, परन्तु गत चार वर्षों से मेरे मन में एक नवीन भावना उत्पन्न हुई है—वह यह कि जब लोगों के जीवन ही भयानक संकट में हैं, तब उनके लिये स्वास्थ्य विषयक प्रयत्नों से क्या लाभ? बेचारे भारतीय

कृषक अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जमींदार और ऋण देने वाले बौहरों के कारण बुरी तरह मर रहे हैं, यदि इन लोगों के लिये जल का प्रबन्ध कर दिया जाये, तो फिर उनकी रोटी की चिन्ता मिट जायेगी।” और वह सचमुच भारतीय किसानों की आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न हो गई और थोड़े ही समय में उनकी खेती, शिक्षा, लेन-देन सम्बन्धी बातों का यथेष्ट ज्ञान करके उनके सुधार के सम्बन्ध में अधिकारियों से पत्र-व्यवहार करने लगी।

उसके इन कार्यों को देखकर उसके एक मित्र उसे ‘भारत के गवर्नर जनरलों’ पर शासन करने वाली ‘गवर्नरनी’ कहा करते थे और उसकी वह ‘उपाधि’ एक प्रकार से ठीक भी थी। भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार द्वारा ‘वायसराय’ नियुक्त किये जाने की प्रथा सन् १८५७ के बाद ही उसके जीवनकाल में प्रचलित की गई, और तब से जितने भी वायसराय यहाँ आये वे प्रायः सभी इंग्लैण्ड से चलने से पूर्व नाइटिंगेल से भेंट करके स्वास्थ्य सुधार के मामलों पर उसकी सलाह अवश्य ले लिया करते थे, अन्य भारतीय अधिकारियों से भी, जो सभी उस समय इंग्लैण्ड से ही आते थे, वह इस सम्बन्ध में चर्चा करती रहती थी। यद्यपि उस समय वह यह नहीं जानती थी कि भारत की राजनीतिक समस्या कितनी कठिन है और उसके कारण आगे चलकर सुधार के कार्य में कैसी पेचीदगियाँ सामने आयेंगी, तो भी उसने भारतवर्ष में स्वास्थ्य एवं शिक्षा तथा कृषि सम्बन्धी सुधारों के लिये बहुत अधिक प्रचार और कार्य किया। आज चाहे हम उसकी इन अप्रत्यक्ष सेवाओं का हल न जानते हों, पर उन चालीस-पचास वर्षों में यहाँ जो सुधार हुए हैं, उनका कुछ श्रेय मिस नाइटिंगेल को भी अवश्य है।

सेवा-धर्म की महत्ता

मिस नाइटिंगेल ने सामान्य विद्या-बुद्धि की और अनेक बन्धनों में जकड़ी हुई स्त्री होने पर भी केवल ‘सेवा-धर्म’ का पालन करके इतनी उच्च पदवी प्राप्त कर ली थी कि संसार के सबसे बड़े साम्राज्य की आदर्श माने जाने वाली अधीश्वरी विक्टोरिया तथा उनकी पुत्री—जो जर्मनी के कैसर की पुत्रवधू थी—उससे मित्रवत् व्यवहार करती थीं और अनेक सम्राट तथा सेनाध्यक्ष भी उसे बड़ी शिष्टता तथा विनयपूर्वक पत्र लिखते थे। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और जो लोग समझते हैं कि संसार में किसी बड़ी सत्ता या बड़ी धनराशि का स्वामी होने पर ही मनुष्य उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सकता है, उनकी आँखें खोलने वाला है। धन और सत्ता का भी महत्त्व-अवश्य है पर तभी जबकि उन्हें सदाचार और सच्चाई के साथ प्राप्त

१.७६ मरकर भी अमर हो गये जो

किया जाये, अन्यथा एक डाकू के पास भी दस-बीस लाख की सम्पत्ति होने से वह क्या लाभ उठाता है ? वेष्टायें भी लाखों की सम्पत्ति इकट्ठी कर लेती हैं, पर आज तक उनमें से किसी की भी प्रशंसा सभ्य समाज से सुनी गई है ?

नाइटिंगेल ने अपने उदाहरण द्वारा दिखला दिया कि मनुष्य चाहे छोटे-से-छोटे काम में हाथ डाले, पर यदि वह उसे सच्चाई, ईमानदारी और निःस्वार्थ भाव से पूरा कर दिखाता है, तो वह अवश्य लोगों की प्रशंसा और सम्मान का अधिकारी बन सकेगा । इसके विपरीत जो केवल दिखावटी, चालाकी, धूर्तता के आधार पर आगे बढ़ने की चेष्टा करेगा और भीतर स्वार्थ की भावना रखकर ऊपर से निःस्वार्थता का ढोंग करेगा वह अगर लोगों के भ्रम में पड़ जाने से 'आदरणीय' बन भी जाये, तो उसकी यह सफलता क्षणस्थायी ही होगी ।

इस दृष्टि से जब हम अपने देश के सार्वजनिक क्षेत्र की दशा पर विचार करते हैं, तो बड़ी निराशा होने लगती है । हमारे यहाँ क्या राजनैतिक क्षेत्र और क्या सामाजिक अथवा धार्मिक—कहीं भी ठोस कार्यकर्ता ढूँढ़ने पर भी एकाध ही कठिनाता से मिल पाता है । राजनैतिक क्षेत्र में तो जैसा भ्रष्टाचार फैला है और चोटी के नेता से लेकर साधारण कार्यकर्ता तक में जैसी स्वार्थ-भावना भरी पड़ी है, उससे सर्वत्र असन्तोष ही उत्पन्न हो गया है । आज जिसके मुँह से सुनो, राजनैतिक नेताओं की निन्दा ही सुनाई पड़ती है और कोई उन पर विश्वास करने को तैयार नहीं होता । सामाजिक क्षेत्र में यहाँ अधिकांश लोग लकीर पीटने वाले ही हैं ।

वे लोग कभी चाहें, तो सुधार सम्बन्धी लम्बी-चौड़ी बातें भले ही कर लें, पर जब उनको कार्यरूप में परिणित करने का अवसर आता है, तो वही 'ढाक के तीन पात' दिखाई पड़ते हैं । वे परिवार के, बुजुर्गों के या जातीय पंचों के विरोध का नाम लेकर पुरानी पद्धति का ही पालन करने लग जाते हैं । धार्मिक क्षेत्र में तो हालत सबसे अजीब है । जो लोग जितने ही अधिक धार्मिक बनते हैं, वे समाज से, पास-पड़ोसियों से, जनता से उतना ही दूर रहने की चेष्टा करते हैं । यद्यपि वे किसी-न-किसी प्रकार जनता के आधार पर ही जीवन निर्वाह करते हैं, पर सदा 'संसार' से अलग रहने का दावा किया करते हैं ।

इस प्रकार हमारे देश का सेवा-क्षेत्र एक प्रकार से निष्क्रिय पड़ा है । कहने को बहुत सी धर्म समाज, जातीय सुधार सभायें, सेवा समितियाँ, पशुरक्षिणी सभा आदि स्थापित हैं और उनमें से कितनी ही विभिन्न कार्यक्रमों पर लाखों रुपया खर्च भी किया करती हैं, पर वास्तविक उन्नति

अथवा सुधारों के कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ते । जात-पाँत के झगड़े, विवाह में अपव्यय, मरण-भोज, भिखारियों को दान आदि के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी सुधार की बातें सुनने में आती हैं, पर वर्षों बीत जाने पर भी इनके प्रचलन में कोई कमी दिखाई नहीं पड़ती देखी जाती । बात यही है कि इनमें किसी भी क्षेत्र में कोई सच्चा कार्यकर्ता अपना तन-मन-धन लगाकर सुधार के लिये कृत संकल्प नहीं हुआ । अगर यहाँ भी फ्लोरेन्स नाइटिंगेल जैसे दस-पाँच कार्यकर्ता आगे बढ़कर सुधारों के लिये अपने आपको अर्पित कर देते तो सुधारों की गाड़ी अवश्य चल पड़ती और हमको प्रति-दिन इस दिशा में प्रगति होती दिखाई देती ।

पर मिस फ्लोरेन्स का मार्ग दूसरा था उन्होंने 'नर्स' जैसे समाजोपयोगी और परोपकार के पेशे की दुरावस्था देखी तो तत्कालीन नर्सों को उपदेश देने अथवा उनके संचालनों की नुक्ताचीनी करने के बजाय, स्वयं उस काम को पूरी तरह से सीखा और कठिन से कठिन अवसर आने पर भी ऐसी उत्तमतापूर्वक उसका निर्वाह किया कि आज तक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं । आजकल होने वाले युद्धों का नक्शा पहले की अपेक्षा बहुत बदल गया है, नये-नये आविष्कारों के कारण युद्ध-कला में जमीन-आसमान का अन्तर पड़ गया है । इस समय यदि रण-क्षेत्र में कोई बात पूर्ववत् और आशायुक्त रूप में दिखलाई पड़ती है तो वह चिकित्सकों और नर्सों द्वारा बिना शत्रु-मित्र और छोटे-बड़े के भेद-भाव के घायलों और पीड़ितों की सेवा-सुश्रूषा किया जाना है और यह भी प्रत्येक को स्वीकार करना पड़ेगा कि इस आदर्श सेवा-संस्था का अधिकांश श्रेय फ्लोरेन्स नाइटिंगेल को ही है, जिसने पहले साहसपूर्वक हर तरह की कठिनाइयों द्वारा और खतरों को अपने ऊपर लेकर इसमें भाग लेने वाले आगामी व्यक्तियों का मार्ग प्रशस्त किया ।

स्वास्थ्य के निर्बल हो जाने पर भी फ्लोरेन्स ६० वर्ष की आयु तक जीवित रही । अन्तिम दिनों में उसको उन्निद्र का रोग हो गया था, जिससे उसे रात्रि के समय बहुत कम नींद आती थी । ऐसे समय वह सन्त पुरुषों के रचे भक्तिपूर्ण ग्रन्थों को पढ़कर आत्म-शान्ति प्राप्त किया करती थी । वह यह भी समझती थी कि जिस उद्देश्य को लेकर वह चली थी, वह अच्छी तरह पूर्ण हो गया और प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है इसी से उसे पूरा आत्मसन्तोष और प्रसन्नता मिलती रहती थी । इसीलिये १३ अगस्त सन् १९१० को जब उसका देहावसान हुआ तो वह यह विश्वास साथ लेकर मरी कि उसने 'ईश्वरीय आदेश' का पालन कर दिया ।

इस प्रकार के कार्यों में यह ख्याल नहीं करना चाहिये कि हम तो सामान्य मनुष्य हैं हमारी शक्ति और साधन बहुत कम हैं, हम दूसरों का क्या उपकार कर सकते हैं ? परोपकार के लिये मुख्यतः मन की शुद्धभावना और हृदय की सच्चाई आवश्यक होती है । यदि हम इनका आश्रय ग्रहण करके कार्यारम्भ कर दें, अकेले कुछ न कर सकें तो किसी संस्था या संगठन के सहयोग से ही कुछ करने लगें, तो धीरे-धीरे कुछ समय में ही हमको आशातीत सफलता प्राप्त हो सकेगी । इस सम्बन्ध में भारतीय स्त्रियों का कर्तव्य और उत्तरदायित्व और भी अधिक है, क्योंकि वे

अपने को सार्वजनिक-सेवा के और भी अनुपयुक्त मानती हैं और इसलिये घर-गृहस्थी के धन्धे के सिवाय अन्य दृष्टियों से उनका जीवन सर्वथा निष्क्रिय रूप से व्यतीत होता है । उनको मिस फ्लोरेन्स नाइटिंगेल से अवश्य प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिये । फ्लोरेन्स के समय में इंग्लैण्ड के शिष्ट वर्ग की स्त्रियों की अवस्था भी भारतीय स्त्रियों के समान थी । पर उसे असामयिक समझ कर उसने मानव सेवा के मार्ग पर कदम बढ़ा दिया और हजारों लाखों का उपकार करने के साथ ही अपने नाम को भी अमर कर दिया ।

मातृभूमि की सच्ची सेविका : श्रीमती सरोजिनी नायडू

लगभग ७० वर्ष पूर्व की बात होगी कि इंग्लैण्ड की एक निजी गोष्ठी में एक १५-१६ वर्ष की भारतीय बाला उस देश के दो-चार प्रसिद्ध साहित्यिकों से वार्तालाप कर रही थी । अंग्रेजी साहित्य का प्रसिद्ध आलोचक एण्डमण्ड गोसे भी उनमें से एक था । कुछ सोच-विचार कर उसने अपनी कुछ काव्य-रचनायें गोसे के हाथ में दीं और कहा—“इनके विषय में अपनी सैम्मति देने की कृपा करें ।”

गोसे ने बड़े ध्यान से उन रचनाओं को पढ़ा, उन पर विचार किया और फिर कहने लगा—“शायद आपको मेरी बात बुरी जान पड़े, पर मेरी सच्ची राय यही है कि आप इन सब रचनाओं को रद्दी की टोकरी में डाल दें । इसका आशय यह नहीं कि ये अच्छी नहीं हैं । पर तुम जैसी एक बुद्धिमती भारतीय नारी से, जिसने पश्चिमी भाषा और काव्य-रचना में दक्षता प्राप्त कर ली है, हम यूरोप के वातावरण और सभ्यता को लेकर लिखे गये काव्य की अपेक्षा नहीं करते । वरन् हम चाहते हैं कि आप हमको ऐसी रचनायें दें जिनमें हम न केवल भारत के वरन् पूरे पूर्व की आत्मा के दर्शन कर सकें ।”

अपनी रचनाओं की यह आलोचना उस कवयित्री को बहुत हितकर जान पड़ी और उसी दिन से उसने गोसे को अपना गुरु मान लिया । उसके पश्चात् उसने जो काव्य-रचना की उसमें यूरोप की नकल करने के बजाय भारत और पूर्व में अन्तर्निहित विशेषताओं के दर्शन ही यूरोप वालों ने किये और सर्वत्र उनका बड़ा सम्मान होने लगा ।

यह बाला और कोई नहीं ‘भारत-कोकिला’ के नाम से प्रसिद्ध श्रीमती सरोजिनी नायडू (सन् १८७६ से १९४६) ही थीं । वे एक जन्मजात कवयित्री थीं और

अंग्रेजी भाषा पर उनका इतना अधिकार था कि उनकी बारह वर्ष की आयु में लिखी गई कविताओं की भी लोगों ने बड़ी प्रशंसा की । उनकी शिक्षा-दीक्षा भी विशेष रूप से यूरोप में हुई थी और वे वहाँ के शिष्टाचार और रहन-सहन के नियमों में पारंगत थीं । पर इतना होने पर भी वे भारतीय संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ मानती थीं और उसके लिये उनको बड़ा गौरव था । इसका वे सदैव कितना अधिक ध्यान रखती थीं इसका कुछ आभास एक भारतीय पत्रकार के निम्न संस्मरण से हो सकता है—

“श्री रामकृष्ण नामक युवक को एक छात्रवृत्ति अमेरिका जाकर पत्रकारिता की उच्च शिक्षा प्राप्त करने को दी गई । विदेशों के रहन-सहन का कोई अनुभव न होने से उन्होंने श्रीमती नायडू से भेंट की और कहा—“मैं ऐसी सूचनाओं की तलाश में हूँ जिनसे अमेरिका की सही झाँकी मुझे मिल सके । इस सम्बन्ध में मैं कई लोगों से बातचीत कर चुका हूँ और पुस्तकें भी काफी संख्या में पढ़ डाली हैं । मेरी इच्छा है कि जब मैं वहाँ की जमीन पर पैर रखूँ तो कोई मुझे वहाँ की सभ्यता, संस्कृति से अनभिज्ञ न समझ पाये ?”

श्रीमती नायडू—“लेकिन खुद अपने देश के विषय में तुमने कितनी जानकारी संग्रहीत की है ? मुझे मालूम है, तुम्हें पढ़ने-लिखने का शौक है । गीता से लेकर गौतम और गाँधी तक सबको पढ़ चुके होंगे तुम, इसका भी मैं विश्वास कर सकती हूँ । लेकिन अपनी उस घरती—उस घरती पर रहने वाले लोगों के बारे में तुम्हें कितनी जानकारी है, जिस पर तुम खुद पैदा हुए हो, पले, पनपे और बड़े हो ? तुम्हें इस बात पर विश्वास है कि क्या तुम विदेश पहुँच कर अपने प्रदेश का प्रतिनिधित्व कर सकोगे ?”

१.८१ बरकर भी अमर हो गये जो

यह थी श्रीमती सरोजिनी की विचारधारा जिसने उन्हें भारत माता की एक सच्ची पुत्री बना दिया था। वे कहती थीं कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं है और संकुचितता को त्याग कर संसार का सब तरह का जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके अच्छा ही है। पर यदि कोई विदेशी सभ्यता-संस्कृति की जानकारी की धुन में अपनी सभ्यता को भूल जाये तो यह एक अपराध होगा।

श्रीमती नायडू यद्यपि बंगाली थीं पर उनके पूर्वज बहुत समय पहले हैदराबाद (दक्खिन) में आ बसे थे। सरोजिनी के पिता डॉ. अधोरनाथ चट्टोपाध्याय का जन्म हैदराबाद में ही हुआ था और वे वहाँ पर एक बड़े सरकारी पद पर काम करते थे। वे स्वयं बड़े विद्वान् थे और इंग्लैण्ड जाकर उन्होंने विज्ञान की सर्वोच्च उपाधि डी. एस-सी. प्राप्त की थी। इसलिये सरोजिनी को आरम्भ से ही अंग्रेजी भाषा और रहन-सहन से परिचित होने का सुयोग प्राप्त हो गया। कुछ बड़ी हो जाने पर तो अधोरनाथ जी ने उसे पढ़ाने के लिये अंग्रेज शिक्षिका रख दी थी। सरोजिनी पढ़ने में काफी परिश्रम करती थीं। इसके फलस्वरूप उन्होंने बारह वर्ष की आयु में मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली। उसी समय उनकी एक रचना पर प्रसन्न होकर हैदराबाद के नबाव ने उनको विलायत जाकर अध्ययन करने के लिये एक बड़ी छात्रवृत्ति दे दी, जिससे वे चौदह वर्ष की आयु में ही वहाँ पहुँच कर 'किंग्स कालेज' में दाखिल हो गईं।

देश-सेवा की लगन

इस तरह आरम्भ से ही विदेशी बातावरण में रहने से अनेक लोगों को यह आशंका होने लगती है कि ऐसा व्यक्ति अपनी जातीयता के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने लग जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि यह आशंका सर्वथा निर्मूल नहीं है और गत सौ-पचास वर्षों में बहुसंख्यक व्यक्ति उच्च अंग्रेजी शिक्षा पाकर 'काले अंग्रेज' बन चुके हैं। पर यह आक्षेप सब लोगों पर लागू नहीं होता। वरन् अरविन्द, सरोजिनी नायडू और सुभाष बाबू के उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जो प्रतिभाशाली वास्तव में ज्ञान की उच्च चोटी पर पहुँच जायेगा वह अपनी जातीयता का और भी अधिक सुदृढ़ अनुयायी बन जायेगा। श्रीमती सरोजिनी के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह से सत्य सिद्ध हुई। सन् १८६८ में इंग्लैण्ड से लौटने पर उन्होंने मेजर नायडू से विवाह कर लिया और इसके ४ वर्ष बाद ही उनका ध्यान भारतीय राजनीति की तरफ आकर्षित होने लग गया। सन् १९०८ में जब वे भारत के प्रसिद्ध नेता स्व. श्री गोखले से मिलीं तो उन्होंने इनसे कहा—

“यहाँ मेरे साथ खड़ी हो जाओ और इन तारों तथा पहाड़ियों को साक्षी बनाकर अपना जीवन, योग्यता, विचार, स्वप्न और सभी कुछ भारत माता को अर्पित कर दो। हे कवयित्री ! इस पहाड़ी की चोटी से महान् सत्य के दर्शन करके तुम भारत के सहस्रों गाँवों में बसे हुए किसानों तक आशा का सन्देश फैला दो। तभी तुम्हारी यह दैव प्रदत्त अनुपम काव्य-शक्ति सार्थक हो सकेगी।”

और यही मार्ग है जिस पर चलकर किसी सच्ची आत्मा वाले और कर्तव्य-परायण व्यक्ति को सान्त्वना और शक्ति मिल सकती है। अगर कोई मनुष्य अपनी योग्यता और सामर्थ्य का उपयोग अपने ही लिये करता है, समाज के उत्थान और उपकार का ध्यान नहीं रखता, तो वह कभी वास्तविक सम्मान का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे ही व्यक्तियों के विषय में इंग्लैण्ड के कविवर 'स्काट' ने लिखा है—

केवल स्वार्थ साधन में ही सब समय गँबायो ।
मन स्वदेश हित साधन में कबहूँ न लगायो ॥
चाहे पदवी बाकी होय बहुत ही भारी ।
दुनिया बाको नाम बड़ो कर जाने सारी ॥
सुरपति के अनुकूल होय बाको अतुलित धन ।
कविता बाके हेत तऊ नहिँ करहहिँ कविगन ॥

श्रीमती नायडू ने इस तथ्य को आरम्भ से ही समझ लिया था और इसलिये एक सम्पन्न घराने की सुकुमार और सुसंस्कृत महिला होते हुए भी उन्होंने देश-सेवा के उस मार्ग को चुना जिसमें त्याग और तपस्या की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि आपने एक प्रसिद्ध कवयित्री होते हुए भी राजनीति के कार्य में भाग लेना क्यों स्वीकार किया, तो उन्होंने कहा—

“बार-बार लोगों ने मुझसे प्रश्न किया है कि तुम कवियों के स्वप्नलोक की हस्तिदन्त-निर्मित मीनार के उच्च शिखर को छोड़कर इस हाट-बाजार में क्यों उतर आई हो ? क्यों काव्य की गायिका और मुरलिया का रूप छोड़कर, उन लोगों की रणभेरी बनने के लिये अग्रसर हुई हो, जो कि युद्ध के लिये आह्वान कर रहे हैं ? मेरा उत्तर यह है कि कवि का कर्तव्य गुलाब की पुष्प-वाटिका में स्थित हस्तिदन्त-निर्मित मीनार के एकान्त में, दुनिया से अलग बैठे रहना नहीं है, बल्कि उसका स्थान सर्वसाधारण के बीच सड़क की धूलि में है। उसका भाग्य तो बँधा है, संग्राम के उतार-चढ़ाव के साथ ही। सच तो यह है कि उसके कवि होने की सार्थकता ही इसमें है कि संकट की घड़ी में—निराशा एवं पराजय के क्षणों में, वह भविष्य के निर्माण का स्वप्न देखने वालों को साहस और आशा का सन्देश दे

सके। इसलिये संग्राम की इस घड़ी में जबकि देश के लिये विजय प्राप्त करना तुम्हारे ही हाथों में है, मैं एक स्त्री, अपना घर-आँगन छोड़कर आ खड़ी हुई हूँ इस हाट-बाजार में। और मैं, जो कि स्वप्नों की दुनिया में विचरने वाली रही, आज यहाँ खड़ी होकर पुकार रही हूँ—साथियों, आगे बढ़ो और विजय प्राप्त करो।”

राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले श्रीमती सरोजिनी ने इसके उतार-चढ़ाव पर अच्छी तरह विचार कर लिया था। वे जानती थीं कि इस प्रकार का परिवर्तन हो जाने पर आज जो अंग्रेज उनके प्रशंसक और पुरस्कर्ता रहे हैं, विरोधी बन जायेंगे। खासकर भारत सरकार स्वराज्य के आन्दोलन करने वालों को जिस निगाह से देखती थी, उसको समझते हुए इस क्षेत्र में उस समय कठिनाई और हानि के अतिरिक्त और कोई आशा नहीं थी। फिर भी जब उन्होंने देखा कि हमारा देश दिन पर दिन गरीब बनता जाता है, जिससे करोड़ों लोगों को भरोपेट अन्न और वस्त्र भी नहीं मिलते, लाखों बालक कूड़े में से उठाकर चाहे जो खा लेते हैं, स्त्रियाँ वस्त्राभाव से ठीक तरह लज्जा-निवारण भी नहीं कर सकतीं, ऐसी दशा में सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करके मधुर कविता बनाते रहना निरर्थक ही नहीं कर्तव्यहीनता है। ऐसे समय में तो प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है कि चाहे उसके विचार, रुचि, उद्देश्य कुछ भी हों, वह देश के उद्धार के लिये यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करे।

यही विचार करके वे कांग्रेस में भाग लेने लगीं। धीरे-धीरे उनका प्रभाव देश की जनता पर बढ़ने लगा। स्त्री होने और स्वर-माधुर्य से श्रोतागण उनके भाषण सुनने को उत्सुक रहते थे, और कुछ समय बाद सभा-सम्मेलनों में उनकी इतनी माँग होने लगी कि उसकी पूर्ति कर सकना भी कठिन हो गया। सन् १९०७ से १९१५ तक कांग्रेस पर नर्म दल वालों का अधिकार रहा, जिसके नेता गोखले, फीरोजशाह मेहता, डी. वी. वाचा, तेजबहादुर सप्रू आदि थे। इसलिये वे उन्हीं के सिद्धान्तानुसार जनता की विविध माँगों को पूरा करने का आन्दोलन करती रहती थीं।

फिर जब श्रीमती बेसेण्ट ने होमरूल आन्दोलन चलाया तो ये उनका साथ देने लगीं और इंग्लैण्ड जाकर भारतीय माँगों के पक्ष में जोरदार आन्दोलन किया। श्रीमती नायडू ने विशेष रूप से जाँच करने वाली कमेटी के सामने भारतीय स्त्रियों का पक्ष उपस्थित किया। इस कार्य को उन्होंने इतने उत्तम ढंग से किया कि कमेटी अध्यक्ष ने उनको धन्यवाद दिया और कहा—“यदि अनुचित न समझा जाये तो मैं यह कहूँगा कि आपके आने से हमारे ‘निरस साहित्य’ में सरस

कविता की एक रेखा मिल गई।” उन्होंने भारतीय स्त्रियों के पक्ष में विलायत की सभाओं में अनेक प्रभावशाली भाषण भी दिये।

असहयोग आन्दोलन में

वे अभी इंग्लैण्ड में काम कर ही रही थीं कि गाँधी जी ने भारतवर्ष में असहयोग का शंखनाद कर दिया। ऐसे अवसर पर उनको देश से बाहर रहना ठीक न जान पड़ा। बस वे तुरन्त भारत चली आईं और महात्मा गाँधी के सन्देश को चारों ओर घूमकर नगर-नगर में पहुँचाने लगीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने इतना अधिक काम किया कि वे बीमार पड़ गईं। इसके बाद डाक्टरों की सलाह से उनको पुनः इंग्लैण्ड जाना पड़ा। पर वहाँ पहुँच कर भी वे चुपचाप नहीं बैठी रहीं। उन्होंने जलियाँवाला हत्याकाण्ड और पंजाब के अन्य नगरों में होने वाले अत्याचारों के सम्बन्ध में इतना अधिक प्रचार किया कि वहाँ की जनता सब बातों को समझकर सरकारी नीति के विरुद्ध हो गई। नतीजा यह हुआ कि पार्लियामेण्ट में इस सम्बन्ध में सवाल की झड़ी लग गई। अन्त में सरकार को अपनी भूल स्वीकार करके कहना पड़ा कि भारतीय अधिकारियों ने बड़ी गलती की है।

इन्हीं दिनों भारतीय मुसलमानों का एक डेपूटेशन ‘खिलाफत’ के सम्बन्ध में विलायत गया था। उसने ब्रिटिश सरकार से कहा कि अगर वह ‘खिलाफत’ का अन्त करने की कोई कारवाई करेगी तो भारत के मुसलमान भी अंग्रेजों के विरुद्ध हो जायेंगे। श्रीमती नायडू ने भी इस डेपूटेशन को सहयोग दिया और कहा कि यदि ‘खिलाफत’ आन्दोलन आरम्भ किया गया तो वह केवल मुसलमानों का ही नहीं होगा वरन् हिन्दू भी उसमें भाग लेंगे, क्योंकि हम जिस प्रकार अपनी स्वाधीनता की माँग करते हैं उसी प्रकार दूसरों की स्वाधीनता की भी कदर करते हैं। हम इस बात को पसन्द नहीं करते कि सैनिक शक्ति की दृष्टि से बलवान देश किसी निर्बल देश को अन्यायपूर्वक दबाने की चेष्टा करे। संसार में छोटे-बड़े सभी को अपने घर में बिना किसी प्रकार के बाह्य हस्तक्षेप के रह सकने का अधिकार मिलना चाहिये।

इस विदेश-यात्रा के अवसर पर यूरोप में होने वाले ‘अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन’ में भी आपने भाग लिया। आपके भाषण का वहाँ इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि भारत के सम्बन्ध में सब प्रतिनिधियों की धारणा ही बदल गई। अभी तक तो अंग्रेज लेखक उनको यही बतलाया करते थे कि भारत एक पिछड़ा हुआ देश है और हम वहाँ के अर्द्धसभ्य लोगों को शिक्षा देकर सभ्य और सुसंस्कृत बना

१.८३ मरकर भी अमर हो गये जो

रहे हैं। परन्तु जब उन्होंने श्रीमती सरोजिनी का विद्वतापूर्ण भाषण सुना और अनुभव किया कि उनका अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर इतना अधिकार है जितना कि अनेक अंग्रेज विद्वानों का भी नहीं है, तो उनका भ्रम दूर हो गया। वे कहने लगीं कि जिस देश में ऐसी विदुषी महिलायें हो सकती हैं, वह 'असह्य' कैसे कहा जा सकता है? सम्मेलन में श्रीमती नायडू की भारतीय वेशभूषा का भी बड़ा प्रभाव पड़ा और यूरोप की स्त्रियों में भी इस देश में पहनी जाने वाली साड़ी के प्रति आकर्षण उत्पन्न होने लगा।

भारत सरकार से संघर्ष

इधर श्रीमती नायडू विलायत में भारत के स्वराज्य-आन्दोलन का समर्थन करके वहाँ की जनता को उसके पक्ष में कर रही थीं और इधर भारत में असहयोग-आन्दोलन गम्भीर रूप धारण करता चला जाता था। यह देखकर वे शीघ्र ही वापस आई और गाँधी जी द्वारा प्रस्तुत किये गये असहयोग के प्रतिज्ञा-पत्र पर सबसे पहले उन्होंने हस्ताक्षर किये। उसके अनुसार उन्होंने अपनी 'कैसे हिन्द' की उपाधि, जिसको उस जमाने में एक बड़ी प्रतिष्ठा की चीज माना जाता था, त्याग दी और इस सम्बन्ध में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को एक पत्र में लिखा—

“इस समय कितने ही वर्षों में भारतीय जाति को असहाय समझकर अपमानित किया जा रहा है। उसका घोर दमन किया जा रहा है और उसके साथ जो प्रतिज्ञायें की गई थीं वे भंग की जा रही हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त दो और बड़े पाप किये गये हैं। एक तो पंजाब का हत्याकाण्ड और दूसरा मुसलमानों को 'खिलाफत' के सम्बन्ध में दिये गये आश्वासन की अवहेलना। यह मेरे सम्मान और विचारों के प्रतिकूल बात होगी कि मैं इन अत्याचारों को देखती रहूँ और उस सरकार का, जो ब्रिटिश न्याय का तिरस्कार कर रही है, समर्थन करती रहूँ।”

राजनीतिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं होता कि वह अन्यायी के विरुद्ध शस्त्र लेकर खड़ा हो जाये और उसे उचित दण्ड दे सके। पर उससे सम्पर्क न रखना, उसकी नीति का खुले रूप में विरोध करना प्रत्येक न्यायप्रिय और अपनी आत्मा के प्रति सच्चे मनुष्य के लिये सम्भव है। श्रीमती नायडू ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया और भारत सरकार की अन्यायपूर्ण नीति के प्रति अपनी विरोधी-भावना उसकी प्रदान की हुई उपाधि को लौटा कर स्पष्ट कर दी।

अब असहयोग ने एक घमासान आन्दोलन का रूप धारण कर लिया था और श्रीमती नायडू ने अपने लिये पूर्णतया इस कार्य के लिये अर्पित कर दिया था। वे विनोद

में कहा करती थीं कि “मैं तो गाँधी रूपी कृष्ण की मुरली हूँ।” और वास्तव में उन्होंने गाँधी जी के सन्देश को देश भर में फैलाने में और उनके प्रत्येक कार्य में सहायता पहुँचाते रहने में इतना अधिक परिश्रम किया कि उसका अनुमान किया जा सकना भी कठिन है।

उसी समय विलायत से 'प्रिंस ऑफ वेल्स' भारत-यात्रा के लिये आये। कांग्रेस ने सरकारी दुर्व्यवहारों के विरोध में उनके स्वागत का बहिष्कार करने का निश्चय किया और इसमें बहुत बड़ी सफलता भी मिली। भारत सरकार इस पर बहुत अधिक नाराज हुई और कहा कि यह 'ब्रिटिश सिंहासन और सम्राट' का अपमान है। उसने कांग्रेस से बदला लेने के लिये बम्बई में हिन्दू-मुस्लिम दंगा करा दिया। इस भयंकर अवसर पर श्रीमती नायडू ने बड़े साहस के साथ खतरे के स्थानों में जाकर बलवे को शान्त कराया और दोनों सम्प्रदायों के लड़ने वाले नेताओं को समझा कर मेल कराया। इसके कुछ समय बाद ही सरकार ने लोगों को भड़का कर दक्षिण में 'मोपला-विद्रोह' करा दिया जहाँ पर हिन्दुओं पर अनेक अत्याचार किये गये। श्रीमती नायडू ने सरकार के इस षड्यन्त्र का प्रमाणों सहित ऐसा भंडाफोड़ किया कि मद्रास की सरकार की सर्वत्र बदनामी होने लगी। उसने इनसे अपना भाषण वापस लेने को कहा तो उत्तर दिया गया—“यदि सरकार मेरा बयान झूठ समझती है तो वह मुझ पर मुकदमा चलावे।” पर सरकार तो वास्तव में दोषी थी इसलिये चुप रह गई।

जब चौरीचौरा की दुर्घटना के पश्चात् सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया और गाँधी जी पर मुकदमा चलाकर ६ वर्ष का कारावास दण्ड सुना दिया गया, तब भी श्रीमती नायडू उनके साथ थीं। जेल जाते समय गाँधीजी ने उनसे कहा कि—“साम्प्रदायिक एकता कायम रखने का काम मैं तुम्हारे जिम्मे छोड़े जाता हूँ।” श्रीमती नायडू के उक्त आदेश का पालन इतने परिश्रम से किया कि लगातार भ्रमण और सभाओं में भाषण करते रहने से उनका स्वास्थ्य फिर गिरने लगा। तब डाक्टरों की सलाह से वे जलवायु परिवर्तन के लिये लंका चली गईं। पर वहाँ भी वे पूर्णतया निष्क्रिय नहीं। अनेक सभाओं में उन्होंने महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों का प्रचार किया और लंका के लोकमत को भारतीय आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिपूर्ण बनाने की चेष्टा की।

लंका से वापस आने पर आपको बम्बई कारपोरेशन की सदस्या और वहाँ की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की अध्यक्ष बनाया गया। उसी समय आप कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में सम्मिलित की गईं और अन्तिम समय तक उस पद पर बनी रहीं। भारत के राष्ट्रीय संगठन में यह पद बड़ा

महत्त्वपूर्ण है, और इसमें योग्यता, सच्चाई और दूरदर्शिता आदि सभी गुणों की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है।

भारत के राजनीतिक-संघर्ष में भाग लेकर और बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्यों में सफलता प्राप्त करके श्रीमती सरोजिनी ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि अवसर मिले तो भारतीय स्त्रियों भी प्रत्येक क्षेत्र में अपनी योग्यता प्रदर्शित कर सकती हैं। देश की वर्तमान दशा को देखकर हम कह सकते हैं कि श्रीमती सरोजिनी का परिश्रम और उदाहरण व्यर्थ नहीं गया। यद्यपि अभी इस दृष्टि से सुयोग्य महिलाओं की संख्या अधिक नहीं है, तो भी भारत में स्त्रियों को जितने अधिकार मिल गये हैं उतने संसार के किसी बड़े देश में भी प्राप्त नहीं हो सके हैं। यहाँ स्त्रियों को वर्षों से राज्यपाल, राजदूत, मन्त्री, मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री आदि के पद दिये जा रहे हैं। इन्दिरा गाँधी तो देश की प्रधानमन्त्री भी रह चुकी हैं। इस प्रकार भारत ने, जो अभी तक सामाजिक प्रगति में बहुत पिछड़ा हुआ माना जाता था, स्त्रियों को समानता के अधिकार देने में सर्वोपरि आदर्श उपस्थित किया है। श्रीमती सरोजिनी के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि इस दुर्लभ परम्परा को स्थापित करा सकने का श्रेय उन्हीं को है। यदि यह कहा जाये कि इस युग में स्त्री विद्या, बुद्धि, योग्यता तथा विविध प्रकार से राष्ट्रीय महत्त्व के कार्यों में श्रीमती सरोजिनी अद्वितीय रही हैं तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं।

अफ्रीका-यात्रा

कुछ महीने पश्चात् जब महात्मा गाँधी को विशेष आज्ञा द्वारा छोड़ दिया गया तो उन्होंने श्रीमती नायडू से अफ्रीका जाकर वहाँ के प्रवासी भारतवासियों की सहायता करने का अनुरोध किया। लोगों की समस्या दिन पर दिन कठिन होती जाती थी और वहाँ की सरकार उनको अधिकारच्युत करने के लिये तरह-तरह की चालें चलती रहती थी। यद्यपि महात्मा गाँधी ने उनके साथ न्याय किये जाने के उद्देश्य से कई बार सत्याग्रह किया था और अनेक कष्ट सहन करके उनको कुछ अधिकार दिलाये थे, पर अब उस बात को सात-आठ वर्ष बीत जाने पर वहाँ के प्रदेशों में फिर नये-नये अन्यायपूर्ण नियम बनाकर भारतवासियों को तंग किया जा रहा था। महात्मा गाँधी के कन्धों पर तो इस समय समस्त भारतीय आन्दोलन का बोझ था, इसलिये किसी अन्य प्रभावशाली व्यक्ति को ही वहाँ भेजना उचित समझा और इसके लिये श्रीमती नायडू ही सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ी।

जिस समय श्रीमती नायडू ने जहाज से उतरकर अफ्रीका की भूमि पर पैर रखा उसी समय सम्वाददाताओं

ने उनको घेर कर तरह-तरह के प्रश्न करने आरम्भ कर दिये। एक सम्वाददाता ने कहा—“जनरल स्मट इज ए स्ट्रॉंग मैन।” (अर्थात् दक्षिण अफ्रीका का शासक जनरल स्मट बड़ा जोरदार आदमी है।) इस पर श्रीमती सरोजिनी ने उत्तर दिया—“आई एम ए स्ट्रॉंग वूमैन।” (अर्थात् मैं भी बड़ी जोरदार औरत हूँ।) इस पर उपस्थित जनों में बड़ी हास्य-ध्वनि हुई।

दक्षिण अफ्रीका और कीनिया आदि प्रदेशों का दौरा करके आपने प्रवासी-भारतवासियों को हर प्रकार से आश्वासन दिया और बताया कि “अब भारत में भी काफी जागृति हो गई है। वह प्रवासी भारतवासियों का सब प्रकार से समर्थन करेगा और सक्रिय सहायता भी देगा।”

श्रीमती नायडू को इन उपनिवेशों में भारतीयों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहारों और खासकर वहाँ की भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा का सदा से बड़ा ध्यान रहता था और जब कभी अवसर मिलता था वे इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रयत्न करती ही रहती थीं। जब मि. एण्डरूज ने फिजी टापू की कुली प्रथा को बन्द कराने का आन्दोलन शुरू किया था और वहाँ भेजी जाने वाली स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले लज्जाजनक व्यवहार का रहस्योद्घाटन किया था तो श्रीमती नायडू ने एक सार्वजनिक सभा में कहा था—

“तुम लोग जो स्वराज्य आन्दोलन कर रहे हो, तुम लोग देश भक्ति के सपने देख रहे हो, यदि तुम समुद्र पार से सुनाई पड़ने वाली करुण पुकारों को नहीं रोक सकते, तो क्या तुम देश-भक्त कहला सकते हो? यह करुण पुकार उन देशभाइयों की है, जिनकी दशा कुत्ते से भी बुरी है। यह पुकार उन बहिनों की है जिनके साथ जानवरों का-सा बर्ताव हो रहा है। तुम स्वराज्य आखिर किसके लिये चाहते हो? क्यों चाहते हो? क्या उन लोगों के लिये चाहते हो जो अपनी महिलाओं का क्रन्दन सुनकर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, जो घोरतम अपमान सहते हुए भी मौन रहते हैं। धन हमारे लिये क्या वस्तु है? बल लेकर हम क्या करेंगे? महिमा से हमें क्या प्रयोजन? जब हम अपनी स्त्रियों के सतीत्व तक की रक्षा नहीं कर सकते तो ऐसे धन, बल, महिमा से क्या लाभ?”

“आज मैं अपने भीतर उस यातना का अनुभव कर रही हूँ, जिसे वर्षों से वे बहिनें सहन करती रही हैं, जिनको अब मृत्यु से ही शान्ति मिल सकती है। मैं स्वयं कुली-प्रथा में निहित अकथनीय लज्जा और म्लानि का अनुभव कर रही हूँ।”

श्रीमती नायडू के भाषणों का देश और विदेशों में बड़ा प्रभाव पड़ा और कुली-प्रथा का आन्दोलन दिन पर

१.८५ मरकर भी अमर हो गये जो

दिन बढ़ने लगा । लोगों को मालूम हुआ कि हमारे लाखों भाई-बहिनों को दूर देशों में ले जाकर कितना कष्ट दिया जाता है और अपमानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य किया जाता है । इन उपनिवेशों में सामाजिक कारणों से स्त्रियों को जिस प्रकार का निर्लज्ज जीवन बिताना पड़ता था, उसे जानकर प्रत्येक सहृदय मनुष्य का सिर शर्म से नीचा हो जाता था ।

सन् १९१७ में कलकत्ते में होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन में भी उन्होंने अपनी इन समुद्र पार रहने वाली बहिनों का उल्लेख करते हुए कहा—

“तुम अपने हृदय के खून से उस अपमान को धो डालो जो तुम्हारी स्त्रियों को विदेशों में सहना पड़ता है । आज तुमने जो शब्द सुने हैं, उन्होंने अवश्य तुम्हारे हृदयों में भयंकर क्रोध की अग्नि उत्पन्न करदी होगी । भारत के पुरुषों ! इस आग को शर्तबन्द कुली-प्रथा की चिता बनाकर शान्त कर दो । आज आप मुझसे शब्दों की आशा रखते हैं ? नहीं, आज मेरे रोने का समय है । यद्यपि आप अपनी माँ-बहिनों का अपमान अनुभव कर रहे होंगे, पर मैं तो इस अपमान को अपनी जाति (स्त्री-जाति) के अपमान के रूप में अनुभव कर रही हूँ ।”

वास्तव में यह कुली-प्रथा लाखों स्त्री-पुरुषों के जीवन को किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट करने वाली थी, इसका अनुमान भी हम इतनी दूर बैठे हुए व्यक्ति नहीं कर सकते । चाहे जिस घर की भली स्त्री को बहका कर टापुओं में भेज देना और वहाँ उसे कई पुरुषों के साथ रहने को बाध्य करना एक ऐसी बात थी कि जिसे सुनकर प्रत्येक मनुष्य का खून गर्म हो उठेगा । पर उन टापुओं के गोरे मालिक अपने खेतों का काम सस्ते दामों में कराने के लालच से घोखा देकर भारतवासियों को पकड़ मँगाते थे और उनको हन्टरों तथा बेंतों की मार का भय दिखाकर पशुओं की तरह काम लेते थे । उनको इस बात का कुछ भी ख्याल नहीं था कि ऐसी परिस्थिति में रहने से उसका प्रभाव उनके चरित्र पर कैसा घातक पड़ेगा । इस प्रथा की जड़ उखाड़ने में सबसे अधिक परिश्रम एण्डरूज साहब ने ही किया था । उन्होंने इस सम्बन्ध में फिजी टापू के निवासी भारतीयों की अवस्था का वर्णन करते हुए एक भाषण में कहा था—

“फिजी में मैंने अपनी आँखों से भले घर की सम्माननीय हिन्दुस्तानी स्त्रियों को शर्तबन्दी की प्रथा की बजह से असह्य निर्लज्जतापूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए देखा है । मैंने अपनी आँखों से अपवित्र और पापपूर्ण स्थानों में भोले-भाले छोटे-छोटे भारतीय बालकों को रहते देखा है, और इन्हीं आँखों से उन भारतीय पुरुषों को देखा है, जो

वहाँ पशुओं से भी बुरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं । “इसलिये मैं आप लोगों से मनुष्यता के नाम पर अपील करता हूँ कि आप अपनी आवाज इस शर्तबन्दी की प्रथा के विरुद्ध इतने जोर से उठावें कि भारत सरकार को फौरन ही यह गुलामी बन्द करनी पड़े । यह कुली-प्रथा केवल व्यापारिक हानि-लाभ का सवाल नहीं है बल्कि यह स्त्रियों के सतीत्व का प्रश्न है, भोले-भाले नन्हें बच्चों की रक्षा का है, और मनुष्यों की स्वतन्त्रता का है । आज मैं यह बात स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि मैं जो कुछ वर्णन कर रहा हूँ, वह इन दुराचारों को प्रत्यक्ष देख कर ही कह रहा हूँ । माताओं और सज्जनों ! अगर इन दुराचारों की बात जान लेने के पश्चात् एक भी भारतीय स्त्री इन टापुओं में व्यभिचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने को भेजी जायेगी तो इसका अपराध भारत सरकार और भारतीय जनता के सिर पर होगा ।”

इस समस्या पर इसी पहलू से विचार करके श्रीमती नायडू ने इतने जोर के साथ चेतावनी दी थी । निःसन्देह यह प्रश्न केवल राजनीति और व्यापार का न था बल्कि लोगों के चरित्र का था, जिसके नष्ट होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता । जब इस सम्बन्ध में सब प्रमाण वाइसराय और भारतमन्त्री के सामने रखे गये तो उससे प्रभावित होकर उन्होंने तुरन्त ही इस प्रथा को रोकने का आदेश दे दिया ।

कांग्रेस की अध्यक्ष

उस पराधीनता के युग में अपने किसी सुपुत्र या पुत्री के लिये भारतवर्ष के पास सबसे बड़ा पुरस्कार या गौरव यही था कि उसे राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का अध्यक्ष बना दिया जाये । श्रीमती सरोजिनी की सेवाओं को देखते हुए सन् १९२५ में कानपुर में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्ष इन्हीं को चुना गया । कानपुर पहुँचने पर बड़ी धूमधाम से इनका जलूस निकाला गया और बड़े विशाल पण्डाल में अधिवेशन की कार्यवाही आरम्भ की गई । सदैव की प्रथा का अनुसरण करके श्रीमती सरोजिनी ने अपना भाषण छपवाकर पढ़ने की बजाय मौखिक ही दिया । आपने समस्त देशवासियों को देश के स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा देते हुए कहा कि “स्वतन्त्रता के युद्ध में, कायरता सबसे अक्षम्य अपराध और निराशा सबसे भयानक पाप है । स्वतन्त्रता की देवी सदा बलिदानों से प्रसन्न होती है, और जो जाति इस मार्ग में जितने त्याग और कष्ट-सहन को तैयार होती है, वह उतनी ही शीघ्र लक्ष्य पर पहुँचती है । यह आवश्यक नहीं कि जाति का प्रत्येक व्यक्ति एक समान त्याग या एक सम्मन कष्ट सहन कर सके । अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार इसकी

मात्रा में अन्तर हो सकता है। पर जो कुछ यथा शक्ति किया जाये उसमें कायरता अथवा निराशा की भावना होना बड़ा घातक है। ये दो दोष ऐसे हैं कि जिनके कारण एक व्यक्ति दूसरे अनेक व्यक्तियों पर भी हानिकारक प्रभाव डालता है। उसका उदाहरण देख ऐसे अन्य व्यक्ति भी पीछे हटने लग जाते हैं, जिनमें थोड़ा-बहुत कच्चापन होता है। इसलिये मनुष्यों को सार्वजनिक संस्थाओं या आन्दोलनों में भाग लेते समय उतना ही उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिये जिसका निर्वाह अच्छी तरह किया जा सके। और जब एक बार कदम बढ़ाया जाये तो डर या स्वार्थ हानि की सम्भावना से उसे पीछे हटाना नहीं चाहिये।”

आगे चलकर श्रीमती सरोजिनी ने कहा—“मैं एक स्त्री ठहरी, इसलिये मेरा कार्यक्रम सीधा सादा और गृहस्थी से सम्बन्ध रखने वाला है। मैं तो केवल यह चाहती हूँ कि भारतमाता अपने घर की एक बार फिर स्वामिनी हो जाये। अपने अपार साधनों की एकमात्र अधिकारिणी वही हो और आतिथ्यसत्कार की सारी क्षमता भी उसी के हाथ में रहे। भारतमाता की आज्ञाकारिणी पुत्री की हैसियत से मेरा काम यह होगा कि अपनी माता का घर ठीक करूँ और उन शोचनीय झगड़ों का निपटारा कराऊँ, जिनके कारण उनका संयुक्त पारिवारिक जीवन, जिनमें अनेक जातियाँ और धर्म शामिल हैं, छिन्न-भिन्न न हो जाये।”

साम्प्रदायिक एकता

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में श्रीमती नायडू की सबसे बड़ी सेवा साम्प्रदायिक एकता की स्थापना थी। इस देश का शासन करने वाली विदेशी सरकार ने बहुत समय पहले ही यह समझ लिया था कि अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि यहाँ की दो प्रमुख जातियों—हिन्दू तथा मुसलमानों में सदा वैमनस्य का भाव बना रहे। इसलिये जब राजनीतिक अधिकारों की माँग के लिये ‘राष्ट्रीय महासभा’ (कांग्रेस) की स्थापना की गई तो उसके कुछ समय बाद ही उसने सर सैयद अहमद खॉं तथा कई नबावों को प्रेरणा देकर मुस्लिम लीग की स्थापना करा दी जो जन्मकाल से ही मुसलमानों के लिये प्रत्येक क्षेत्र में पृथक् अधिकारों की माँग करने लगी।

सन् १९१६ से जब कांग्रेस ने खुले आम ‘स्वराज्य’ आन्दोलन शुरू किया, तो कांग्रेस के प्रमुख नेता इस बात की कोशिश करने लगे कि विदेशी शासकों के विरुद्ध सभी भारतवासी, चाहे वे किसी धर्म या सम्प्रदाय के क्यों न हों, सम्मिलित होकर आन्दोलन करें। उस वर्ष लखनऊ में लोकमान्य तिलक, ऐनीबेसेण्ट, मुहम्मद अली जिन्ना जैसे विभिन्न दलों के नेताओं ने मिलकर समझौते की कोशिश

की और उसके फल से कुछ वर्षों तक साम्प्रदायिक तनाव में कुछ कमी भी आ गई। फिर जब महात्मा गाँधी ने नेतृत्व सँभाला तो उन्होंने अपने आन्दोलन में खिलाफत के प्रश्न को भी शामिल करके, मुसलमानों की बहुत अधिक सहानुभूति प्राप्त करली। इस कार्य में उनको श्रीमती सरोजिनी से बहुत सहयोग मिला और जैसा पीछे लिखा जा चुका है वे जेल जाते समय इस कार्य का भार उन्हीं पर छोड़ गये थे। इसलिये यदि उन्होंने कानपुर में कांग्रेस अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए अपना मुख्य कार्य भारत के सब धर्मों और सम्प्रदायों में मेल-मिलाप बनाये रखना बतलाया, तो यह महात्मा जी के आदेश का पालन करना ही था। इनके धार्मिक और सामाजिक विचारों की समीक्षा करते हुए एक लेखक ने ठीक ही लिखा है—

“श्रीमती नायडू की अटूट श्रद्धा आर्य संस्कृति पर थी। वे हिन्दू धर्म के गहन तत्त्वों को समझती थीं और उसके दर्शन से भी पूर्णतया परिचित थीं, किन्तु उनमें संकीर्णता न थी। हिन्दू धर्म के साथ उन्होंने अन्य धर्मों का भी गहन अध्ययन किया था और इसके परिणामस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँची थीं कि मूलतः किसी धर्म में विरोध नहीं है। जो विरोध दिखाई पड़ता है वह धर्म की शाखाओं और उपशाखाओं में है।”

“इसलिये उन्हें किसी धर्म से द्वेष न था। फिर जिस परिस्थिति में उनका लालन-पालन हुआ था उसके प्रभाव से भी उनमें ‘हिन्दू-मुस्लिम’ दोनों मजहबों का समन्वय स्वाभाविक था। उनका जन्म एक उच्च ब्राह्मण कुल में हुआ था, पर उनका निवास हैदराबाद जैसे मुस्लिम संस्कृति प्रधान नगर में था। उनके पिता विदेशों में रहकर छुआछूत के संस्कारों से छूट गये थे और उनके यहाँ प्रायः मुसलमान नौकर काम करते थे। इसलिये उनकी धार्मिक संकीर्णता स्वभावतः दूर हो गई थी।”

उन्होंने अपने इन विचारों को सन् १९१३ में मुसलमानों के एक विशाल सम्मेलन में प्रकट किया। एकता के लिये उनके इस भाषण का सब लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। जबसे वह सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुई अनेक साम्प्रदायिक दंगे हुए पर इसका उन पर तनिक भी प्रभाव न पड़ा। वह सदा इन दंगों को गुण्डों, बदमाशों और सरकारी पिटुओं की करतूत समझती रहीं। उन्होंने अपने प्रत्येक भाषण में यही बताया कि भारतीय मुसलमान किसी अन्य देश के निवासी नहीं हैं, वरन् उनकी भी मातृभूमि भारतवर्ष ही है। उन्होंने कहा—

“इस विशाल देश में मुसलमान अपना घर बनाने आये थे। वे यहाँ केवल इसलिये नहीं आये कि लूट-मार

१.८७ मरकर भी अमर हो गये जो

कर अपने घर चले जायें। उन्होंने इस भूमि को अपना स्थायी निवास स्थान बना लिया और इसको सब तरह से सम्पन्न बनाने के लिये उन्होंने पूरा उद्योग किया। तब वे इस भूमि के बच्चों से अलग कैसे हो सकते हैं? इतिहास में भी यह सिद्ध नहीं होता कि वे हिन्दुओं से पृथक् रहते थे।”

यद्यपि वर्तमान समय में बहुसंख्यक मुसलमानों की विचारधारा इन विचारों के अनुकूल नहीं है, और पाकिस्तान बनाकर तो उन्होंने ‘मातृभूमि’ के दो टुकड़े भी कर दिये हैं, तो भी हम संकीर्ण साम्राज्यिकता को अच्छा नहीं बतला सकते। इससे प्रत्येक दल की हानि ही होती है और यह मानवता के भी विरुद्ध है। विकास सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने जो कुछ प्रगति की है वह सहयोग और संगठन द्वारा ही सम्भव हो सकी है। अकेला मनुष्य जंगली अवस्था से शायद ही छुटकारा पा सकता। पर जैसे-जैसे सहयोग का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया, मनुष्य अपनी शक्ति को बढ़ाकर नये-नये क्षेत्रों पर अधिकार करता गया। इसलिये श्रीमती नायडू ने एकता के लिये जो विचार प्रकट किये वे वस्तुतः देश और समाज की दृष्टि से कल्याणकारी ही थे। यह दूसरी बात है कि एक तीसरी शक्ति की चालों से दोनों पक्षों का मतभेद बढ़ता गया जिससे अन्त में करोड़ों हिन्दू-मुसलमानों को हानि उठानी पड़ी।

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय पर अधिक जोर देने से कुछ लोग श्रीमती नायडू पर मुसलमानों की पक्षपाती होने का आरोप लगाते हुए सुने गये हैं। पर यह उनका अज्ञान ही है। श्रीमती नायडू ने देश और विदेशों में सदैव भारत की प्राचीन संस्कृति की प्रशंसा की थी। वे बड़े गर्व के साथ कहा करती थीं—“मैं उस जाति की वंशजा हूँ जिसकी माताओं के समक्ष सीता की पवित्रता, सावित्री के साहस और दमयन्ती के विश्वास का आदर्श है।” उनकी इस मनोभावना पर ध्यान देने पर कोई भी उन्हें हिन्दू-संस्कृति से प्रतिकूल अथवा उदासीन कहने का साहस नहीं कर सकता।

साहित्यिक से राजनीतिक

यह तो पाठक जान ही चुके हैं कि श्रीमती सरोजिनी ने आरम्भ में एक कवयित्री के रूप में ही प्रसिद्धि पाई थी और अंग्रेज समालोचक एण्डमण्ड गोसे की सलाह से वे भारतीय दृष्टिकोण से काव्य-रचना करने लगी थीं। इसके पश्चात् उनकी तीन कविता पुस्तकें इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुई—

(१) ‘गोल्डन ग्रेशोल्ड (सुनहरी देहरी), (२) ‘बर्ड ऑफ़ टाइम (काल पखेरू), (३) ब्रोकन विंग (भग्न-पंख)। ये

तीनों १९०५ से १९१७ तक रची गईं। इसके बाद राजनीतिक आन्दोलन में आपादमस्तक निमग्न हो जाने से कविकर्म समाप्त ही हो गया।

पर इन तीन पुस्तकों ने उनका नाम इंग्लैण्ड और अन्य देशों में प्रसिद्ध कर दिया। वैसे इनकी ओर भी कई रचनायें हैं जिनमें भारतीय और पाश्चात्य जीवन के आकर्षक पहलुओं पर दृष्टि डाली गई है। इन सब में इन की फुटकर कविताओं का संग्रह है, पर उनमें ऐसी भावप्रवणता पाई जाती है कि अनेक बार उनको विश्व-साहित्य की कृतियाँ बतलाया गया है। इनके ‘बर्ड ऑफ़ टाइम’ की आलोचना करते हुए—इंग्लैण्ड के प्रख्यात समालोचक एण्डमण्ड गोसे ने कहा था—“आलोचना की ऐसी कोई कसौटी नहीं जिस पर कि वह परिपूर्ण रूप से खरी न उतरी हो।”

एक ऐसी सुकुमार और भावुक कवयित्री का, जिसको लोग प्रायः ‘स्वप्न-देश की रानी’ कहा करते थे, सक्रिय राजनीतिक संघर्ष के मैदान में उतर आना एक विशेष घटना है। प्रत्यक्ष में तो यह सुखी और सम्पन्न जीवन को स्वेच्छा से त्याग कर कष्टों और विपत्तियों का वरण करना ही था और इस कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलते हुए वे कभी विचलित नहीं हुईं। जब महात्मा गाँधी ने नमक-सत्याग्रह के लिये ‘डांडी’ की प्रसिद्ध यात्रा की और ५ मई १९३० को वे गिरफ्तार कर लिये गये, तो श्रीमती सरोजिनी ने उनका स्थान ग्रहण किया। वे धरसाना के नमक-गोदाम पर धावा करने वाले स्वयंसेवकों का नेतृत्व करती हुई सरकारी फौज के घेरे में एक ही स्थान पर ७२ घंटे तक डटी रहीं। इस बीच में उन्होंने न अन्न-जल ग्रहण किया और न जेठ मास की भयंकर दोपहरी की परवाह की। इसके पश्चात् वे गिरफ्तार करली गईं। इसी प्रकार सन् १९४२ के ‘भारत छोड़ो’ क्रांतिकारी आन्दोलन में वे भी सबसे पहले गिरफ्तार करली गईं और महात्मा गाँधी के साथ आगाखों महल में कैद की गईं। वहाँ और भी कई प्रमुख नेता रखे गये थे। उस जेल के वातावरण में भी ये अपने विनोदपूर्ण और सरस वार्तालाप से प्रसन्नता का वातावरण बनाये रहती थीं।

स्वाधीनता के पुण्य-पर्व पर

अन्त में जब दूसरा यूरोपीय महासमर समाप्त हुआ और इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों ने समझ लिया कि अब भारत को पराधीन अवस्था में रखना सम्भव नहीं है, और वहाँ पर अधिक दमन करने से इंग्लैण्ड की बदनामी होगी, तो उन्होंने भारत को स्वाधीन बनाने की घोषणा कर दी। १५ अगस्त १९४७ को जिस समय यह ‘पुण्य-पर्व’ उपस्थित हुआ तो विश्व के करोड़ों व्यक्तियों ने आकाशवाणी (रेडियो)

पर एक देवीवाणी की तरह श्रीमती सरोजिनी का एक संदेश सुना—

“हे संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों ! आज स्वाधीनता के इस मंगल दिवस पर हम सब आपका अभिनन्दन करते हैं । हे दुनिया के परतंत्र राष्ट्रों ! अपनी आजादी की इस घड़ी में, हम आप सबके भावी-स्वातन्त्र्य की हार्दिक कामना करते हैं । हमारा यह ‘मुक्ति-संग्राम’ एक युगान्तरकारी-संघर्ष था, जो वर्षों जारी रहा और असंख्य प्राणों की आहुतियाँ हमें देनी पड़ीं । यह था एक नाटक जैसा रोमांचक संघर्ष, उन लाखों वीरों का जिनके नाम अज्ञात ही रहेंगे । यह उन वीरबालाओं का संग्राम था जो महाकाली की भौंति एकाएक शक्ति की प्रचण्ड मूर्तियाँ बन गई, और यह था उन वीर युवकों का संग्राम जो आन की आन में ओजस्विता, बलिदान और उच्च आदर्श के सजीव प्रतीक बन गये । यह था युवा और वृद्ध, धनी और निर्धन, पण्डित और अपढ़ तथा दलित-दीन, साधु-सन्त सभी का एक सामान्य संघर्ष ।

“इस तरह हम, जो कि सदैव स्वर्ग लोक में विचरण करने वाले रहे—जिन्होंने उच्च कल्पना में ही अधिकतर समय बिताया, जो कि विवेक की राह और त्याग मार्ग के ही अनुगामी रहे—वही हम आवश्यकता पड़ने पर मातृभूमि की मुक्ति की लड़ाई के हेतु, वीर सैनिक प्रस्तुत करने में भी पीछे न रहे । आज मैं अपनी माँ भारत-भूमि के नाम पर—आप सबका अभिनन्दन करती हूँ । उस भारत-माता के नाम पर जिसके घर की छत हिम से मंडित है, जिसकी दीवारें गरजते हुए समुद्र हैं और जिसके द्वार आपके लिये सदैव खुले हैं । क्या आप शान्ति और विवेक की खोज में हैं ? क्या आप आश्रय और सहायता के इच्छुक हैं ? क्या आप सच्चे प्रेम अथवा ज्ञान की तृषा से तृप्ति हैं ? तो आइये ! पूरी आशा के साथ आइये !”

यह थी एक ऐसी महिमामयी नारी की वाणी जिसने अपने महान त्याग और तप द्वारा अपने को इस विशाल राष्ट्र की नेत्री की पदवी के योग्य सिद्ध किया था । जिसने रेशमी कालीनों से उतर कर स्वेच्छा से धूल भरे रास्तों में भ्रमण किया था और चमक-दमक वाले होटलों की ‘डिशों’ को छोड़कर ग्रामीणों की मोटी रोटियों का स्वाद चखा था । श्रीमती सरोजिनी की इसी महानता—सम्पत्ति और विपत्ति के समान भाव रखने से ही भारतीय जनता आपके गुणों पर मुग्ध थी और आपको ‘दुर्गा-सरस्वती-लक्ष्मी’ की त्रिमूर्ति के रूप में याद करती थी । इस तथ्य की व्याख्या करते हुए श्रीमती शचीरानी गुर्दा ने लिखा है—

“श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी विलक्षण प्रतिभा, काव्यकुशलता, वक्तृत्व-शक्ति, राजनीतिक-ज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के कारण भारत में ही नहीं बरन् समस्त एशिया के नारी जगत में विशिष्ट स्थान रखती थीं । निःसन्देह, वे भारतीय-महिला-जागरण की मूर्तिमान प्रतीक थीं और उनका बहुगुण समन्वित रूप अत्यन्त विस्मयकारी था । वे एक सफल कवयित्री थीं, जो मधुर कल्पना-लोक की कोमल भावनाओं और करुण अनुभूतियों को हृदय में सँजोये एक दिन राजनीति के कौटों-भरे क्षेत्र में उतर पड़ी थीं । वे एक पटु राजनीतिज्ञ थीं, जिन्होंने विनाश और संघर्षों का सामना मुस्कान और गान के साथ किया था । वे एक कुशल वक्ता थीं, जिन्होंने अपनी वाणी के जादू से लाखों नर-नारियों के दिलों में घर बना लिया था । वे एक निःस्वार्थ देश सेविका थीं जो अन्धकार के बीच आशा की किरण लेकर आई थीं । वे एक सफल पत्नी थीं जो अपने पति और घर की एकछत्र स्वामिनी थीं । वे एक स्नेहमयी माँ थीं, जो हताश, पीड़ाकुल मानवता को सान्त्वना देने के लिये अवतीर्ण हुई थीं ।”

इतने गुणों का एक स्थान पर एकत्र हो सकना वास्तव में देवी-संयोग ही है । देवी सरोजिनी ने कवि की मधुरता और राजनीतिज्ञ की कठोरता का जो समन्वय करके दिखाया वह अद्वितीय है । जिसका राजाओं और नबावों के महलों में अबाध प्रवेश था, घनिष्ठता थी और जो देश और विदेश में रईसों की शान से ही रही थीं, वह आवश्यकता पड़ते ही जेलखाने की तंग कोठरियों में रहने लगीं और वहाँ भी किसी तरह का विषाद अनुभव करने के बजाय सदैव प्रसन्न और प्रफुल्लित बनी रहीं, तो यह कोई साधारण बात नहीं है । सुख और दुःख, हर्ष और शोक, हानि और लाभ में समान भाव बनाये रहना जीवन्मुक्त व्यक्तियों का लक्षण बताया गया है । यद्यपि श्रीमती सरोजिनी प्रकट रूप में साधुनी अथवा तपस्विनी नहीं थीं, बरन् अपने घर में अन्तिम समय तक बड़े आदमियों की तरह ही रहीं, पर उन्होंने अपने कार्यों और व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि वे वैभव अथवा सुख-सामग्री की भूखी नहीं हैं । उनके सामने सबसे प्रधान लक्ष्य ‘कर्तव्य’ का ही रहता था और उसके पालने के लिये उन्हें स्वर्ग या नर्क जहाँ भी जाना पड़े, वे खुशी से तैयार थीं ।

यों भारतीय नारी को त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति माना गया है, और समय-समय पर उसने बलिदान के अनुपम दृश्य भी उपस्थित किये हैं, पर अभी तक उसकी यह विशेषता अधिकतर परिवार के छोटे-से क्षेत्र तक ही सीमित रही है । उन्होंने अपने पतियों की रक्षा के लिये प्राण दे दिये हैं, अपनी सन्तान के लिये उन्होंने सर्वस्व त्याग

१.८६ मरकर भी अमर हो गये जो

दिया है, अपने कुटुम्बियों के प्रति सेवा-भावना का भी अपूर्व परिचय दिया है। पर उनके इन गुणों का परिचय सार्वजनिक रूप से बहुत कम मिल पाता है, जिससे उनका महत्त्व भी अज्ञात रहता है। श्रीमती सरोजिनी ने इन सब गुणों का परिचय स्वदेश के एक विशाल परिवार में सम्मिलित होकर दिया। इसीलिये उनके त्याग और बलिदान को देखकर लोग चमत्कृत हो उठे। आज भी देश और विदेश में उनका नाम जिस सम्मान के साथ लिया जाता है उसका कारण यही है कि उन्होंने परिवार की संकीर्ण परिधि को छोड़कर अपनी सेवायें सर्वसाधारण के लिये, अत्याचार पीड़ितों और अभावग्रस्तों के लिये अर्पित कर दीं। उन्होंने स्वयं ही देशोद्धार के लिये इस प्रकार का त्याग नहीं किया वरन् उनकी प्रेरणा से और भी बहुसंख्यक उच्च पदस्थ नर-नारी मातृभूमि के सेवक बन गये।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के पद पर

जिस समय १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ, उसी समय देश के ऊपर एक महान संकट आया। अंग्रेजों ने विवश होकर भारत का अधिकार छोड़ा तो सही, पर उन्होंने उसे भारत और पाकिस्तान दो भागों में विभाजित कर दिया। नतीजा यह हुआ कि १४ अगस्त की रात को जैसे ही १२ का घण्टा बजा कि पाकिस्तान के गुमराह तत्वों ने, जो पहले से ही तैयार बैठे थे, वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर हमला बोल दिया और खुले तौर पर लूट-मार और हत्याकाण्ड आरम्भ कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया तुरन्त ही भारत में भी हुई और जगह-जगह साम्प्रदायिक उपद्रव फैल गये। यद्यपि इसका सम्बन्ध तो पंजाब से था और वहीं की जनसंख्या की विशेष रूप से अदला-बदली हो रही थी, पर उत्तर प्रदेश पर भी इसका प्रभाव कम नहीं पड़ा। एक तो भारतीय राजनीति में इसकी स्थिति प्रमुख मानी जाती है और दूसरे हिन्दू संगठन, संस्कृति की दृष्टि से भी इसका महत्त्व अधिक माना गया है। इसलिये जैसे ही पाकिस्तान से भागने वाले शरणार्थियों के दल पंजाब और दिल्ली से आगे बढ़ते हुए उत्तर प्रदेश में फैले, वैसे ही वहाँ भी आग लग गई। चारों तरफ अशान्ति और साम्प्रदायिक वैमनस्य के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

ऐसे अवसर पर इस बड़े प्रान्त में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना में सहायता देने के लिये श्रीमती सरोजिनी से कहा गया। उस समय उनकी आयु ६८ वर्ष की हो चुकी थी और वर्षों तक राजनीतिक क्षेत्र में कठोर श्रम करने से उनका स्वास्थ्य भी जर्जर हो गया था, तो भी देश के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने की भावना से उन्होंने उस

कार्य-भार को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् यद्यपि वे डेढ़ वर्ष से भी कम जीवित रहीं, तो भी उन्होंने इस प्रान्त में शान्ति स्थापित करके सुख-सहयोग के जीवन की जो नींव डाली उससे इसकी प्रगति में बहुत सहयोग मिला। सन् १९४८ में दिल्ली में होने वाले एशियाई राष्ट्रों के विशाल सम्मेलन की सफलता के लिये भी उन्होंने बड़ा कार्य किया। सन् १९४९ के आरम्भ में उनकी अस्वस्थता अधिक बढ़ गई और २ मार्च सन् १९४९ को सत्तर वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया।

महान पुरुषों की श्रद्धांजलियाँ

महान व्यक्तियों का मूल्य उनके विदा हो जाने पर ही पूरी तरह विदित होता है। उनके जीवन काल में तो जहाँ अनेक व्यक्ति उनके गुणों की, सेवाओं की प्रशंसा करने वाले होते हैं, वहाँ कुछ निजी स्वार्थ, द्वेष, मतभेद या अन्य कारणों से दोष दिखलाने वाले भी मिल जाते हैं। पर जब उसके चले जाने पर वह स्थान खाली हो जाता है और कोई दूसरा उसे शीघ्र भरने वाला दिखाई नहीं पड़ता तो लोग उनके महत्त्व को अनुभव करने लगते हैं। श्रीमती सरोजिनी के देहावसान पर बड़े नेताओं ने भी उनके चले जाने से होने वाले घाटे को स्वीकार किया। श्री बल्लभभाई पटेल ने जो उनके साथ लगातार २५ वर्ष तक कांग्रेस वर्किंग कमेटी में काम करते रहे थे और जिन्होंने जेल में भी उनके साथ काफी समय बिताया था, उनकी महानता पर प्रकाश डालते हुए कहा—

“इस घाटे को भुला देना कितना कठिन है, यह कहा नहीं जा सकता। जहाँ जिस कमरे में सरोजिनी देवी पहुँच जाती थीं वहाँ अपने आप सैकड़ों बतियों का प्रकाश फैल जाता था। उनके व्यक्तित्व का आकर्षण, शब्दों का जादू किसे नहीं मोह लेता था। उनका भाषण, उनका रजत स्वर, उनकी भाव भरी आँखें, उनकी अर्थ भरी मुद्रा अपनी एक अलग विशेषता, रखती थीं। देश के लिये सन् १९२५ से जो कार्य उन्होंने किया वह स्वर्ण-अक्षरों में लिखने की चीज है। गाँधी जी की वह छाया थी, उनमें गाँधी जी का पूर्ण प्रतिबिम्ब था। शोक है कि केवल तेरह महीने बाद ही हमें उस धागे का भी विछोह सहना पड़ा, जो महात्मा जी की आत्मा से जुड़ा हुआ था।”

पं. जवाहरलाल नेहरू जी ने कहा—“वह सर्वप्रिय थीं। वह क्या नहीं थीं? वह राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय महिला थीं। हमारा और संसार का इतिहास इस तथ्य की साक्षी दे रहा है। वे स्वप्न की स्वप्न-दृष्टा, संगीत की गायिका और राष्ट्र की सेविका—सब कुछ थीं। जीवन में कभी जीवन विहीन नहीं हुईं। उनमें विद्युत की शक्ति थी

और वह जिसे छू देती थीं। वही प्रमुख और प्रज्वलित हो उठता था।”

श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने श्रीमती नायडू की पुत्री श्रीमती पद्मजा को एक पत्र द्वारा संवेदना प्रकट करते हुए लिखा—“तुम्हीं ने नहीं, असंख्य भारतवासियों ने आज अपनी माता को खो दिया। परमात्मा हम सबको सहनशक्ति दे।”

श्री राजगोपालाचारी ने, जो उस समय भारत के गवर्नर जनरल थे, कहा—“सरोजिनी देवी ने क्या नहीं किया और वह क्या नहीं कर सकती थीं? उनके हृदय में संकीर्णता को स्थान न था। भारत को स्वाधीनता प्राप्त कराने में उनका कार्य चिरस्मरणीय रहेगा। काश, कि हम उसकी रक्षा करके उनके पदचिह्नों पर चल सकें।”

इस प्रकार देश और विदेशों के सैकड़ों प्रसिद्ध पुरुषों ने उनके गुणों और कार्यों की प्रशंसा करते हुए जो भावनायें प्रकट कीं उनसे उनकी महानता पर काफी प्रकाश पड़ता है। एक ही व्यक्ति में अनेक गुणों का होना और फिर उनका उपयोग देश-सेवा तथा लोकापकार के निमित्त किया जाना एक बहुत बड़ी बात है। जबकि इस समय दुनिया में स्वार्थ का ही बोलबाला है और साधारण मनुष्यों की क्या बात प्रसिद्ध पुरुष और राष्ट्र-नेता तक अपनी शक्ति और सत्ता का प्रयोग आर्थिक लाभ के लिये ही करते हैं, तब श्रीमती सरोजिनी के समान निःस्वार्थ देश-सेविका की प्रशंसा कौन न करेगा?

इस समय तो ऐसा अवसर आ गया है कि राजनीतिक क्षेत्र में निःस्वार्थ सेवा के दर्शन ही मुश्किल हो गये हैं और अधिकांश लोग इस बात पर विश्वास भी नहीं कर पाते कि श्रीमती सरोजिनी और उनके समय के अन्य कितने ही पूज्य नेता वास्तव में बिना किसी स्वार्थ भावना के देश की सेवा करते थे। पर इसके लिये हम किसी को विशेष रूप से दोषी भी नहीं कह सकते। इसमें परिस्थितियों का भी बड़ा प्रभाव है। उस समय उग्र राजनीतिक आन्दोलन में हाथ डालने पर सिवाय सरकार की अप्रसन्नता और दण्ड भोगने के अन्य किसी प्रकार की सम्भावना ही नहीं थी। इसलिये उन दिनों जो कोई इस क्षेत्र में पदार्पण करता था उसे स्वार्थ-त्याग की भावना को हृदय में स्थान देना ही पड़ता था। फिर अंग्रेज राजनीतिज्ञों तथा अनुभवी शासकों के मुकाबले में बिना उच्चकोटि की योग्यता के कोई कुछ सफलता भी प्राप्त नहीं कर सकता था। यही कारण है कि उस समय तिलक, गाँधी, अरविन्द, लाजपतराय, मालवीय जी जैसे महामानवों के दर्शन हो सके, जिन्होंने बड़ी से बड़ी पदवी और वैभव की सम्भावना को ठुकरा कर दण्ड और जेल का

मार्ग ग्रहण किया। यद्यपि भारतीय महिलायें सामाजिक बन्धनों के कारण इतना आगे बढ़कर कार्य कर सकने की स्थिति में नहीं थी, तो भी श्रीमती सरोजिनी ने उनके प्रतिनिधि रूप में देश के सर्वोच्च नेताओं की पंक्ति में खड़े होकर और उसके उत्तरादायित्व को प्रशंसनीय ढंग से निभाकर, इस त्रुटि का बहुत कुछ मार्जन कर दिया। इसी प्रकार भारतमन्त्री मि. माण्टेग्यू के दौरे के समय उन्होंने ‘अखिल भारतीय महिला डेप्यूटेशन’ का नेतृत्व किया और नारियों के पक्ष को ऐसी कुशलता के साथ उनके सामने रखा कि उसकी प्रशंसा बड़े-बड़े सरकारी अधिकारियों ने भी की थी।

श्रीमती नायडू ने भारत की माँगों का समर्थन प्राप्त करने के लिये अमेरिका और कनाडा का दौरा किया था, और वहाँ की जनता पर भी उनका उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा था।

उनके सुगृहिणी होने की विशेषता के सम्बन्ध में कहा गया है कि इतने राजनीतिक और साहित्यिक कार्यक्रम में भाग लेते रहने पर भी वे अपने गृहिणी कर्तव्य नहीं भूली थीं। वे बड़ा बढ़िया भोजन बनाना जानती थीं और घर की तमाम व्यवस्था बड़ी सावधानी से करती थीं। उनकी रुचि बहुत परिमार्जित तथा उच्चकोटि की थी। वह घर की कोई वस्तु अस्त-व्यस्त रीति से पड़ी रहना पसन्द नहीं करती थीं। वे अपने हाथ से उनको उपयुक्त स्थान पर सजाती और सँवारती थीं।

उनके भाषण की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि तेजस्वितापूर्ण और प्रभावशाली होने के साथ ही वह सुन्दर, स्पष्ट और संगीतमय होता था। उसमें मोहकता होती थी, रूखापन नहीं। अपने समय में श्रीमती विजयलक्ष्मी भी राजनीतिक क्षेत्र की एक प्रसिद्ध वक्ता मानी जाती थीं, पर जिन लोगों ने इन दोनों के भाषण सुने थे उनका कहना है कि—जहाँ विजयलक्ष्मी जी के बोलने में ऐसा जान पड़ता था कि कोई पुरुष बोल रहा है वहीं श्रीमती नायडू के बोलने में आद्योपान्त स्त्रीत्व की छाप रहती थी और स्त्रियोचित शील और स्वाभाविक आकर्षण झलकता था। इसीलिये उनके भाषण सीधे हृदय में उतरने वाले होते थे और श्रोता उनको बार-बार सुनने की इच्छा करते थे।

अन्तिम सार्वजनिक उत्सव, जिसमें श्रीमती नायडू ने भाग लिया वह लखनऊ यूनिवर्सिटी का स्पेशल-जुबली-कनवोकेशन था।

‘स्त्री-धर्म’ सम्बन्धी विचार

श्रीमती नायडू अंग्रेजी की धुरन्धर विदुषी थीं और बड़े-बड़े अंग्रेजों से उनकी मित्रता थी, यह सुनकर हमारे

१.६१ मरकर भी अमर हो गये जो

अधिकांश देश-भाई उनको विदेशी महिलाओं की तरह केवल फैशनपरस्त, अपने दाम्पत्य-कर्तव्यों से विमुख और उच्छृंखल समझ सकते हैं और उनके सम्बन्ध में बहुत से गप-शप करने वाले तरह-तरह के किस्से बनाकर कहते भी रहते थे। पर वास्तव में नारीत्व की दृष्टि से वे एक गम्भीर विचार रखने वाली महिला थीं, और सदैव भारतीय आदर्शों की श्रेष्ठता पर बल देती रहती थीं। एक महिला सभा में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने यूरोपीय नारियों की त्रुटियों के सम्बन्ध में कहा था—

“पाश्चात्य देशों की कौन-सी बात अनुकरणीय है और कौन-सी नहीं इस सम्बन्ध में हमारे यहाँ बड़ा भ्रम फैला हुआ है। इस समय मैं केवल उन्हीं बातों को कहूँगी जो महिलाओं के विषय में हैं। पाश्चात्य जगत की अन्य बातें चाहे भले ही कुछ सुन्दर और अनुकरणीय हों पर वहाँ की नारी-संस्कृति तो एकदम हेय और त्याज्य है। जिन बहनों का यह ख्याल है कि विदेशों में स्त्रियों को बड़ी स्वाधीनता है, वह भ्रम में हैं। वहाँ स्वाधीनता नहीं है, वरन् प्रबल और कठोरतम पराधीनता है। जिसे आप स्वाधीनता कहती हैं वह स्वाधीनता नहीं है। वह तो उनके सामाजिक जीवन का एक पहलू है।

“बाहर घूमना, हर किसी के साथ बात करना, किसी के भी साथ घूमने निकल जाना, दफ्तरों में काम करना और घर में पुरुषों के साथ ही पहुँच कर समान रूप से खाना, पीना और मनोरंजन करना—क्या इसी का नाम स्वाधीनता है? कदापि नहीं। यह तो है मैत्री। दो मित्र जैसे एक साथ किसी घर में रह लेते हैं वैसे ही वहाँ का दाम्पत्य जीवन होता है। मित्रता में किसी भी कारण कटुता आते ही दोनों मित्र अलग-अलग हो सकते हैं। वहाँ के दम्पतियों में ऐसी कटुता आये दिन आती रहती है, क्योंकि ऐसे कारणों की सूची बहुत लम्बी है।”

इस प्रकार श्रीमती नायडू ने बतलाया कि ऊपरी खेल-तमाशों और भोग-विलास के विषय में स्वतन्त्रता रखना कोई महत्त्व की बात नहीं है। दाम्पत्य सम्बन्ध तो हृदय और आत्मा का होता है। यही कारण है कि हमारे देश में करोड़ों दाम्पत्य सम्बन्ध अनेक त्रुटियों के होते हुए भी, आजीवन कायम रह जाते हैं, और उनमें कोई बहुत बड़ा दोष पैदा नहीं होता। चाहे इसको हम आदर्श न मानें, और कभी-कभी इसमें अनेक गम्भीर दुर्घटनायें भी हो जाती हैं, तो भी सब मिलाकर दोनों का मुकाबला करने से भारतीय नारी का जीवन कहीं अधिक सहायनीय है। यूरोप की दाम्पत्य कलह तो प्रायः अत्यन्त दुःखदाई परिणाम

उत्पन्न करती है, जिसकी कल्पना भी हम अपने देश में नहीं कर सकते।

श्रीमती सरोजिनी ने जिस प्रकार भारतीय नारी को हानिकारक बन्धनों को तोड़कर सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में भाग लेने का मार्ग दिखलाया है, उसी प्रकार उन्होंने भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करके अपनी बहनों को यह भी प्रेरणा दी है कि वे परिश्रम के अन्धानुकरण की चेष्टा कभी न करें। यदि भारतीय नारियाँ उनकी दोनों शिक्षाओं पर ध्यान देकर उनका अनुसरण करेंगी तो अवश्य ही अपना और देश का मंगल-साधन कर सकेंगी।

भारतीय नारीत्व का विकास और श्रीमती नायडू

श्रीमती सरोजिनी के समग्र जीवन पर जब हम विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो उनमें प्राचीनता और नवीनता का एक अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जिस समय उनका जन्म हुआ था उस समय भारतीय स्त्रियों की क्या चलाई पुरुषों तक में शिक्षा का बहुत कम प्रचार था और अंग्रेजी लिखने-पढ़ने को तो यहाँ के समझदार व्यक्ति भी धर्म और नीति की निगाह से हानिकारक बतलाते थे। उस समय लड़कियों के स्कूल समस्त देश में गिनती के ही थे और जो साधन सम्पन्न व्यक्ति अपनी पुत्रियों को थोड़ी-बहुत शिक्षा दिलाना चाहते थे वे किसी ‘मिशनरी’ (ईसाई) शिक्षिका को अपने घर पर बुलाकर पढ़ाने की व्यवस्था करते थे। पर उस समय यहाँ की जनता में, खासकर स्त्रियों में स्कूली ढंग की शिक्षा के विरुद्ध ऐसे भाव फैले हुए थे कि वे जिस किसी लड़की या युवती को पढ़ते देखती थीं तो उसकी तरह-तरह से निन्दा करने लग जाती थीं। वे कहती थीं कि—“पढ़ने-लिखने से स्त्रियों की आँखों का पानी उतर जाता है।” ग्रामीण औरतों में तो आमतौर से यह भावना फैली हुई थी कि “जो लड़कियाँ पढ़ती-लिखती हैं वे विधवा हो जाती हैं।”

ऐसे वातावरण में जब कि प्रथम तो शिक्षा की कहीं ठीक व्यवस्था ही न थी और दूसरे स्त्री-शिक्षा को एक प्रकार का दोष समझा जाता था, किसी भारतीय स्त्री का अधिक अंग्रेजी लिखना-पढ़ना आश्चर्यजनक ही था। अगर कोई स्त्री ऐसा साहस करती थी तो उसके घर और पड़ोस की स्त्रियाँ ही उसका हर तरह से विरोध करने लगती थीं और चारों तरफ उसकी चर्चा और निन्दा होनी आरम्भ हो जाती थी। श्री महादेव गोविन्द रानाडे जैसे प्रसिद्ध पुरुष ने जब अपनी पत्नी रमाबाई को प्रेरणा देकर अंग्रेजी पढ़ाना प्रारम्भ किया तो उनके घर की अन्य स्त्रियों ने उन्हें इतना तंग किया कि वह परेशान हो गई। वे उन पर तरह-तरह के

ताने मारतीं और कटु आलोचना करती थीं। एक दिन श्री रानाडे के आग्रह से रमाबाई ने एक सार्वजनिक सभा में अंग्रेजी भाषा में लिखा अभिनन्दन-पत्र पढ़कर सुना दिया तो उनकी ताई बहुत बिगड़ उठीं और रमाबाई से कहने लगीं—

“अबकी स्त्रियों की तो बात ही निराली है। वे पुरुषों के सामने नाचने में भी नहीं शर्मातीं। पहले की स्त्रियाँ तो पुरुषों के सामने जाने में भी लजाती रहीं। पर तुम्हारा भी क्या दोष है, समय ही ऐसा आ गया है। अब तो औरतें मर्दों की नाक काट रही हैं और उनके साथ-साथ कुर्सी पर बैठने में भी लज्जा का अनुभव नहीं करतीं। वे पुरुषों की तरह ही पढ़ती-लिखती और सब कुछ करती हैं। तुम्हें क्या सूझी थी? हजारों पुरुषों के बीच में खड़ी होकर अंग्रेजी पढ़ने में तुम्हें लाज नहीं आई?”

यह एक नमूना है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय स्त्रियों का अच्छी तरह पढ़-लिख सकना कितना कठिन था। इसलिये उस जमाने में एक विदेशी भाषा में इतनी दक्षता प्राप्त कर लेना कि स्वयं उस देश के विद्वान् भी उसे देखकर चकित हों और प्रशंसा करने लगें, सामान्य बात नहीं थी। इसलिये आरम्भ से ही श्रीमती सरोजिनी का नाम देश भर में फैल गया और लोग अनुकूल अथवा प्रतिकूल भावनाओं से उनकी चर्चा करने लगे। देशहितैषी विद्वान् तो उनको भारतमाता का नाम उज्ज्वल करने वाली विदुषी के रूप में सम्मान की पात्र बतलाते थे और पुराने ढंग के लकीर के फकीर विदेशी भावापन्न और एक दृष्टि से भारतीय-समाज से च्युत स्त्री समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि यदि श्रीमती सरोजिनी देशोद्धार के आन्दोलन में भाग लेकर जनता की स्मरणीय सेवायें न करतीं और केवल अंग्रेजी में काव्य-रचना तक ही सीमित रह जातीं तो आज उनका नाम लेने वालों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक ही होती।

पर वे वास्तव में एक सच्ची भारतीय नारी थीं, जिन्होंने आधुनिकता के क्षेत्र में महान सफलतायें प्राप्त करके भी अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के महत्त्व को नहीं भुलाया था। वे अपने श्रोताओं के सम्मुख सदैव सीता और सावित्री का उदाहरण ही पेश करती थीं और अपने को उन्हीं की वंशधर बतलाती थीं। यद्यपि हमारे देश में सामाजिक कारणों से अधिकांश स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही रहा है, पर फिर भी यहाँ की नारियों ने अपने निकटवर्ती व्यक्तियों के हित-साधन और सेवा के लिये जिस प्रकार त्याग और तपस्या का परिचय दिया था, वही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। श्रीमती नायडू ने भी इस विशेषता

को पूर्ण रूप से चरितार्थ किया और जब देश की पुकार उनके कानों में पड़ी तो उन्होंने बिना किसी प्रकार के संकोच के आधुनिक रहन-सहन और फैशन को त्यागकर यहाँ अति सामान्य जनता के बीच में रहना आरम्भ कर दिया।

यदि हम यह कहें कि भारत के सार्वजनिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करके भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करने वाली सर्वप्रथम और सर्वोच्च महिला श्रीमती सरोजिनी ही थीं तो इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं। उनके पश्चात् इस क्षेत्र में श्रीमती विजयलक्ष्मी, राजकुमारी अमृतकौर, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, सुचेता कृपलानी, अरुणा आसफजली आदि कुछ महिलाओं ने उल्लेखनीय कार्य किया, पर इन सब में प्राचीन भारतीय परम्परा का प्रभाव क्रमशः कम होता ही दिखाई पड़ता है। भारतीय नारीत्व और राजनीति के सम्बन्ध में श्रीमती नायडू के विचार हम पहले ही बता चुके हैं। अब उनके पश्चात् होने वाली विदुषियों के उद्गारों पर ध्यान देने से पाठक उपर्युक्त तथ्य की सच्चाई को स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

राजकुमारी अमृतकौर—“नारी-जीवन की समस्यायें आज के युग में सर्वतोमुखी हो उठी हैं। कारीगर जैसे टूटी दीवार का पुनर्निर्माण करता है वैसे ही हमें तो नारी-जीवन की सभी समस्याओं का एक ही हल दिखाई पड़ता है और वह है उसकी निर्माण-शक्ति। उन्हें प्रारम्भ से ही मानसिक और नैतिक अनुशासन की शिक्षा देना आवश्यक है। हमें उनमें काम की महत्ता जागृत करनी चाहिये, ताकि वे समाज पर बोझ न बन सकें।”

श्री विजयलक्ष्मी पण्डित—“आज तक हमारा काम परदेशी नींव के भवन को गिराना रहा है। परन्तु अब हमें अपना भवन बनाना है, जिसकी ईंटें हम और आप हैं। हमें बड़े राष्ट्रों का मुकाबला करना है। हमें अपनी शक्ति और दुर्बलता की जाँच करनी चाहिये। हमारी स्वतन्त्रता, उस स्वतन्त्रता का अंग है जिसके लिये दुनियाँ के सब व्यक्ति तड़प रहे हैं। हम अपने द्वारा विश्व को लाभ पहुँचा सकते हैं। विश्व की आँखें हमारी क्रान्ति पर लगी हैं।”

कमलादेवी चट्टोपाध्याय—“मानव-मस्तिष्क को एक गढ़े हुए कौंच में ढालकर विशेष ढंग से सोचने और समझने को विवश नहीं करना चाहिये, वरन् उसे स्वतन्त्र विचारों को ग्रहण करने के लिये उत्साहित करना चाहिये। स्वतन्त्रता की भाँति लोकतंत्र भी केवल नारे लगाने से अनुभवगम्य नहीं होता, उसे जीवन में बरतना पड़ता है। पारस्परिक उत्तरदायित्व की सुदृढ़ परम्परा का विकास सर्वाधिक आवश्यक है।”

१.६३ मरकर भी अमर हो गये जो

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय नारी का दृष्टिकोण गतवर्ष में निरन्तर विकसित और विस्तृत होता गया है, पर साथ ही प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से उसका परिचय भी घटता जा रहा है इसका अन्त कहाँ और कैसा होगा यह तो कह सकना कठिन है, पर अभी तो हमारे देश को उन्हीं व्यक्तियों की आवश्यकता है जो प्राचीन और नवीन ज्ञान

तथा संस्कृतियों में समन्वय करके यहाँ की सामान्य जनता को उपयोगी और व्यवहारिक मार्ग दिखला सकें। इस दृष्टि से श्रीमती सरोजिनी का स्थान निःसन्देह बहुत ऊँचा था। उन्होंने पश्चिमीय संस्कृति को पूर्णतया आयत्त कर लेने पर भी पूर्वीय संस्कृति का निरन्तर ध्यान रखा और उसकी महत्ता को बढ़ाने का अन्तिम समय तक प्रयास करती रहीं।

सेवा व्रत का आदर्श उपस्थित करने वाली अवन्तिकाबाई गोखले

महात्मा गाँधी ने सन् १९१५ में अफ्रीका में भारतवर्ष आकर जब यहाँ के सार्वजनिक जीवन में भाग लेना आरम्भ किया तो उनको अनुभव हुआ कि इस समय सबसे अधिक आवश्यकता भारतीय किसानों की दुरवस्था का सुधार करने और उनमें जागृति उत्पन्न करने की है यद्यपि, उस समय देश में स्वराज्य आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और लोकमान्य तिलक तथा मिसेज ऐनीबेसेण्ट जैसे प्रसिद्ध नेता राजनीतिक जागृति बड़े परिमाण में फैला रहे थे, पर उनके प्रयत्न अधिकांश में बड़े नगरों में रहने वाले शिक्षित-वर्ग तक ही सीमित थे। गाँवों में जाने का तो कोई साहस ही नहीं करता था, क्योंकि न तो वहाँ किसी तरह की सुविधायें मिल सकती थीं, और न वहाँ की अज्ञानान्धकार में डूबी जनता को उठा सकना ही सहज था। पर गाँधीजी की कार्य प्रणाली प्रत्येक कार्य को जड़ से आरम्भ करने की थी। भारतवर्ष की जड़ गाँवों में ही है। किसानों की संख्या सम्पूर्ण आबादी का ८० प्रतिशत थीं और वे ही लोग समाज के 'अन्नदाता' थे। पर अशिक्षा, अज्ञान तथा विदेशी शासन ने उनको लुंज-पुंज बना रखा था। इस बात को समझकर गाँधीजी ने सबसे पहले खेड़ा और चम्पारन के 'किसान-सत्याग्रह' जैसे आन्दोलन ही आरम्भ किये।

चम्पारन में कुछ अंग्रेज नील की खेती कराने का कार्य करते थे। वे बड़े स्वार्थी और अहंकारी थे और अपने सम्मुख किसी का कुछ भी महत्त्व समझते ही न थे। देहाती किसान तो उनकी निगाह में भेड़ बकरियों की तरह ही थे। इसलिये बात-बात पर धमकाना, दण्ड देना, तंग करना उनका स्वभाव हो गया था। लखनऊ कांग्रेस में किसानों के एक प्रतिनिधि श्री रामकुमार शुक्ल द्वारा जब ये बातें गाँधीजी तक पहुँची और किसानों पर होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ सुनीं, तो उन्होंने उन पीड़ित लोगों की सहायता करने का निश्चय कर लिया। वे समझते थे कि

यद्यपि "निलहे गोरे" इन लोगों पर अपने स्वार्थ की दृष्टि से ही जुल्म करते रहते हैं, पर इसमें किसानों के अज्ञान, निरक्षरता तथा कितनी ही हानिकारक रूढ़ियों का दोष भी कम नहीं है। इसलिये एक तरफ तो गोरों के अन्यायों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया गया और दूसरी तरफ कुछ ऐसे चुने हुए कार्यकर्ताओं को गुजरात और महाराष्ट्र प्रान्तों से बुलाया गया जो केवल सेवा भाव से बिहार के पिछड़े गाँवों में रह कर, वहाँ की समस्त असुविधायें सहन करके, साथ ही गोरों की धमकियों की परवाह न करके किसानों में सुधार का कार्य करते रहे। इन्हीं कार्यकर्ताओं में से एक अवन्तिकाबाई गोखले भी थी।

अवन्तिकाबाई बम्बई की रहने वाली सुशिक्षित, सुसभ्य महिला थी, जो विलायत जाकर अंग्रेजों की सामाजिक प्रथाओं का अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुकी थी। उसका पति श्री बबनराव इंग्लैण्ड में ५ वर्ष तक एक अंग्रेज परिवार में रहा था, और वे लोग उसकी योग्यता और सज्जनता को देखकर उसके साथ अपनी एक लड़की का विवाह करने को तैयार थे। बम्बई में वे एक बढ़िया मकान में रहते थे जिसमें बिजली और गैस आदि की सब सुविधायें प्राप्त थीं, और बिहार के जिन गाँवों में उनको कई महीने रहना था उनमें एक अच्छी लालटैन का मिल सकना भी कठिन था। पर गाँधी जी का आदेश मिलते ही वे दोनों पति-पत्नी चम्पारन के लिये चल पड़े। अब तक वे सदैव सेकण्ड क्लास में सफर किया करते थे, पर इस बार गाँधी जी के बुलाने पर जा रहे थे, इसलिये थर्ड क्लास में ही सवार हुए। महात्माजी के पास पहले से ही खबर पहुँच गई थी, इसलिये उन्होंने कुछ लोगों को उनको लाने को भेजा, जिनमें देवदास गाँधी (महात्माजी के सबसे छोटे पुत्र) भी थे। वे कहने लगे कि अवन्तिकाबाई तो दूसरे दर्जे में आयेंगी। महात्माजी ने कहा—“अगर वे तीसरे दर्जे में आयेंगी तो

उन्हें यहाँ रखूँगा, वरना बम्बई को ही वापस भेज दूँगा।” गाड़ी रात के एक बजे आती थी। देवदास ने अवन्तिकाबाई को दूसरे दर्जे के डिब्बे में ही ढूँढ़ा और जब वे न मिलीं तो कुछ देर बाद वापस चले आये। पर अवन्तिकाबाई अपने पति के साथ इससे पहले ही तीसरे दर्जे से उतर कर गाँधी जी के पास पहुँच कर एक कमरे में ठहर गई थीं। देवदास ने महात्मा जी से कहा कि “अवन्तिकाबाई तो इस गाड़ी से नहीं आई।” यह सुनकर सब लोग हँसने लगे और महात्माजी ने कहा—“मैंने तो पहले ही कहा था कि अवन्तिकाबाई तीसरे दर्जे में आयेगी।”

महात्मा गाँधी में मनुष्य के अन्तःकरण को पहिचानने की विलक्षण शक्ति थी। इसी के बल पर उन्होंने उस “अंग्रेजियत” के दौरदौरा के युग में ऐसे व्यक्तियों को ढूँढ़कर निकाल लिया, जिन्होंने बिना किसी आनाकानी के तुरन्त अपने वैभवशाली जीवन क्रम का त्याग कर दिया और रेशम के स्थान पर मोटा खददर पहिन कर जन-सेवा के कार्य में संलग्न हो गये। अन्तिकाबाई भी गाँधीजी की इस कसौटी पर खरी उतरी। उसका जीवन उद्देश्य जन सेवा ही था और जब उसने गाँधी जी के सिद्धान्तों की वास्तविकता को समझ लिया तो स्वयं तदनुसार परिवर्तित होने में देर न लगाई।

निरक्षर से विदुषी कैसे बनी ?

अवन्तिकाबाई का जन्म सन् १८८२ में इन्दौर में हुआ था। उस समय तक स्त्री शिक्षा का प्रचार बहुत कम हुआ था। उनके पिता श्री विष्णुपंत जोशी इन्दौर में रेलवे कर्मचारी थे। वे पक्के ईमानदार व्यक्ति थे। जिस कार्य में दूसरे लोगों ने लाखों रुपये की कमाई कर ली उसमें वे एक पैसा भी “ऊपरी आमदनी” का लेना बुरा समझते थे। पर वैसे वे पुरानी परम्परा के अनुयायी थे और उन्होंने अवन्तिकाबाई का विवाह नौ वर्ष की आयु में ही कर दिया। उधर अवन्तिकाबाई के पति बबनराव का घर सुधारक विचारों का था। इसलिये उस एक निरक्षर लड़की का सम्मानपूर्वक निर्वाह हो सकना कठिन ही था। मराठी तो कामचलाऊ उसकी सास ने ही पढ़ा दी। पर कुछ साल बाद जब बबनराव इन्जीनियरिंग कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करके अधिक अनुभव प्राप्त करने के लिये विलायत गये तो उन्होंने कहा कि अगर मेरे प्रवास-काल में अवन्तिकाबाई ने अंग्रेजी न सीखली तो मैं विलायत से किसी अंग्रेज लेडी को विवाह करके ले आऊँगा। इस बात का प्रभाव अवन्तिकाबाई पर ऐसा पड़ा कि उसने एक-दो वर्ष में अच्छी तरह अंग्रेजी सीख ली।

जब बबनराव इंग्लैण्ड और चीन में सात वर्ष काम करके भारत वापस आये तो एक मशीन सम्बन्धी दुर्घटना में अंगूठों को छोड़कर उनके हाथों के पंजे कट गये थे। इंग्लैण्ड की कम्पनी फिर भी उनसे काम करते रहने का बहुत आग्रह कर रही थी, पर घर वालों के कहने-सुनने से उनको रुक जाना पड़ा। वे यन्त्र-विद्या में बहुत होशियार थे और इसीलिये बम्बई रह कर भी काफी व्यवसाय चला सके। तो भी भविष्य का ख्याल करके उन्होंने अवन्तिकाबाई को नर्स की शिक्षा प्राप्त करने की सम्मति दी। तदनुसार बम्बई के “मोटलबाई अस्पताल” में उनको भर्ती कराया गया। यद्यपि ‘शिक्षणालय’ के नियमानुसार उनकी आयु दो-तीन वर्ष कम थी, पर किसी प्रकार अधिकारियों को राजी कर लिया गया। “नर्सिंग” कार्य उस समय विशेष रूप से यूरोपियन और ऐंग्लो इण्डियन स्त्रियाँ ही करती थीं। इसलिये शिक्षणालय में सिर्फ छः-सात हिन्दू लड़कियाँ थीं। हिन्दू लड़कियों को मराठी में और यूरोपियनों को अंग्रेजी में शिक्षा दी जाती थी। अवन्तिकाबाई को पहले “मराठी-विभाग” में ही रखा गया, पर कुछ समय पश्चात् उसकी योग्यता देखकर उसे “अंग्रेजी-विभाग” में बदल दिया। एक वर्ष तक ट्रेनिंग प्राप्त करके उसने परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। कुछ समय बाद ही घर में उसकी चचेरी सास को प्रसव हुआ और उस कार्य में उसने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी।

भारतीय स्त्रियाँ इतना समय बीत जाने पर भी, अभी तक ‘नर्स’ के कार्य की महत्ता को नहीं समझ सकी हैं, और जो कोई इस कार्य को करती हैं उन्हें हीनता की दृष्टि से देखती हैं। विदेशों में मिस नाइटिंगेल जैसी विदुषी महिला ने सौ वर्ष से भी पहले अपने उच्च परिवार की शान-शौकत और बड़प्पन को त्याग कर ‘नर्सिंग’ के पेशे में पदार्पण किया था और हर तरह से स्वार्थ-त्याग करके उसे एक सम्माननीय कार्य का रूप दिया था। पर भारतवर्ष में सभ्य-समाज के कहलाने वाले अधिकांश स्त्री-पुरुष नर्सिंग का लाभ उठाते हुए भी उसे “इज्जत” का पेशा नहीं समझते। ऐसी दशा में बबनराव और अवन्तिकाबाई का कार्य निःसन्देह प्रशंसनीय था कि उन्होंने ब्राह्मण जैसे उच्च वर्ण और सम्पन्न परिवार के होते हुए भी आज से सत्तर वर्ष पूर्व नर्सिंग की शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि घर की स्थिति के कारण उनको नर्स की नौकरी नहीं करनी पड़ी, पर उसने दीनजनों की सेवा में इसका बहुत उपयोग किया। चम्पारन में भी महात्मा गाँधी ने उसे सबसे पहले यही सोचकर बुलाया था कि वह ग्रामीण स्त्री-पुरुषों तथा बालकों की सेवा करके उनको स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता देकर अपनी तरफ

१.६५ मरकर भी अमर हो गये जो

आकर्षित कर सकती है। फिर इस गुण के कारण वह बम्बई की सुप्रसिद्ध संस्था 'सेवा-सदन' की भी एक प्रमुख कार्यकर्ता बन गई।

इसमें सन्देह नहीं कि सेवा भावी महिलाओं के लिये 'नर्सिंग' की शिक्षा बहुत अधिक उपयोगी है। 'नर्स' का कार्य विदेशों में इतना सम्मानजनक समझा जाता है कि बड़े-बड़े लोग भी उनका आदर करते हैं और किसी भी सामाजिक समारोह में उनको प्राथमिकता दी जाती है। यदि जीवन निर्वाह के धन्धे के रूप में काम करने वाली नर्सों का इतना महत्त्व है, तो समाज सेविका निस्वार्थ भाव से, असहाय पीड़ितजनों के कष्टों का मोचन करने की भावना से इस कार्य को करेगी उसकी पूजा—कौन नहीं करेगा।

सेवा कार्य का व्यावहारिक रूप

जिस समय अवन्तिकाबाई 'नर्सिंग' का कोर्स पढ़ रही थी उस समय बात-चीत होते-होते किसी डॉक्टर ने कहा कि "नर्सिंग कार्य में यूरोपियन महिलायें जितनी कुशल, साहसी और संलग्नता से कार्य करने वाली होती हैं, उतनी हिन्दू स्त्रियाँ हो ही नहीं सकतीं।" अवन्तिकाबाई ने उसी समय उत्तर दिया कि यदि कोई अवसर आया तो मैं सिद्ध कर दूँगी कि इस दृष्टि से भारतीय महिलायें किसी प्रकार कम नहीं हैं। संयोग से एक ही वर्ष बाद बम्बई में चेचक की बीमारी बड़े भयंकर रूप से फैली और सैकड़ों मौतें होने लगीं। अस्पताल रोगियों से भर गये। अवन्तिकाबाई उस समय ब्यारा नामक स्थान में जो बड़ौदा (गुजरात) में है, पति के साथ दियासलाई के सर्वप्रथम भारतीय कारखाने का संचालन कर रही थी। उस डॉक्टर ने वहीं पत्र भेजकर अवन्तिकाबाई को बम्बई आने और चेचक के मरीजों की सेवा करके अपने शब्दों को चरितार्थ करने के लिये सूचित किया। यद्यपि उस समय बम्बई में चेचक ने बड़ा भयंकर और घातक रूप धारण कर रखा था और उसकी छूत से बड़े-बड़े डॉक्टर घबड़ाने लगे थे। पर अवन्तिकाबाई निर्भय होकर कार्य क्षेत्र में पहुँच गई और छः महीने तक ऐसी तत्परता से चेचक के मरणासन्न रोगियों की सेवा करती रही कि अस्पताल के बड़े डॉक्टर भी दंग रह गये। उसके परिश्रम और कुशलता से बहुसंख्यक व्यक्तियों की प्राण रक्षा हो सकी। उसको चुनौती देने वाले डॉक्टर साहब का तो कहना ही क्या। उन्होंने मुक्त-कंठ से अपनी भूल और अवन्तिकाबाई की श्रेष्ठता स्वीकार की। इस प्रकार उन्होंने स्वयं अपने को संकट में डालकर भी भारतीय महिलाओं की कीर्ति को बढ़ाया।

पति की सेवा

बबनराव ने दियासलाई का कारखाना उस युग में लगाया था जब भारत में स्वदेशी आन्दोलन आरम्भ नहीं हुआ था और छोटी बड़ी सभी चीजें विदेशों से बनकर आती थीं। पर बबनराव और बड़ौदा के महाराज सयाजी राव दोनों को देश से प्रेम था और वे भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति की अभिलाषा करते थे। महाराज बड़ौदा बबनराव से मित्रवत् व्यवहार करते थे और कभी-कभी ब्यारा आकर उनके कार्य का निरीक्षण करते थे। जब उनको मालूम हुआ कि व्यापार सम्बन्धी कार्य से बबनराव के बाहर चले जाने पर कारखाने की देखभाल और व्यवस्था अकेली अवन्तिकाबाई करती है तो महाराज बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि "अगर भारतीय महिलायें इसी तरह अपने पति के कन्धे से कन्धा मिलाकर जीवन के हर क्षेत्र में काम करती रहें, तो भारत थोड़े ही दिनों में स्वतन्त्र हो जायेगा और उसकी गुलामी दूर हो जायेगी।"

बबनराव ने डाइनाइट का विस्फोट करके मछलियों को पकड़ने का एक नया तरीका निकाला था। एक दिन उसका प्रयोग करते हुए उनका हाथ बहुत घायल हो गया। खबर मिलते ही अवन्तिकाबाई उनके पास पहुँची और उसी समय अपनी साड़ी से कपड़ा फाड़कर घाव को बाँध दिया जिससे खून का बहना बन्द हो गया। फिर वह उनको लेकर सूरत गई और एक प्रसिद्ध डॉक्टर से हाथ का आपरेशन कराया। डॉक्टर ने अवन्तिकाबाई की कम उम्र को देखकर (वह उस समय लगभग २० वर्ष की ही थी) ख्याल किया कि यह आपरेशन होते देखकर घबड़ा जायेगी। इसलिये उन्होंने कहा कि आप इस समय बाहर जाकर बैठ जायें। पर अवन्तिकाबाई ने उत्तर दिया— "डॉक्टर, आप इसके लिये चिन्ता न कीजिये। मैंने नर्सिंग-कोर्स पूरा किया है। पिछले ४८ घंटों में मैंने ही इनकी मरहम पट्टी की है। आप ऑपरेशन का काम कीजिये, मैं इनकी नाड़ी देखती रहूँगी।"

ऑपरेशन के बाद जब सब कोई घर आये और पहली बार अवन्तिकाबाई ने अपने हाथ से बबनराव को बच्चे की तरह खाना खिलाया, तो उनको यह ख्याल आया कि मैं कितना पराश्रित हो गया। चीन में हाथ की अंगुलियाँ कट गईं और अब दाहिना हाथ कलाई पर से अलग हो गया। इस पर अवन्तिकाबाई ने कहा—आपकी अंगुलियाँ चली गईं तो मेरी तो दसों अंगुलियाँ मौजूद हैं। मेरे रहते आपको किसी तरह की तकलीफ नहीं हो सकेगी।"

हमारे देश के पुराने ख्यालात के लोग प्रायः कहते हैं कि अंग्रेजी पढ़-लिखकर स्त्रियाँ स्वच्छन्द हो जाती हैं और

पतियों की परवाह नहीं करतीं। पश्चिमीय औरतों की तो वे सदा बुराई किया ही करते हैं। उनके कथनानुसार अंग्रेजी ढंग की पढ़ाई से स्त्रियों में से श्रद्धा, भक्ति, पति सेवा आदि का भाव मिट जाता है और वे भारतीय आदर्श से गिर जाती हैं। पर अवन्तिकाबाई ने अपने उदाहरण से सिद्ध कर दिया कि इस प्रकार का आक्षेप निराधार है। अंग्रेजी पढ़कर और विलायत जाकर भी स्त्री पूरी तरह पतिव्रता रह सकती है, और अपने सेवा भाव से घर के सब लोगों को सन्तुष्ट कर सकती है। शिक्षा और अनुभव के द्वारा किसी का पतन नहीं हो सकता। यदि कोई अनुचित मार्ग पर चलता है तो इसे उसका व्यक्तिगत दोष ही समझना चाहिये।

आगे चलकर जब दियासलाई का कारखाना बन्द करके बबनराव बम्बई चले गये, तब अवन्तिकाबाई ने डेढ़ वर्ष तक नर्सिंग का कार्य करके उनकी आर्थिक चिन्ताओं को भी मिटाया। उस समय उसकी आमदनी ३०० रु. मासिक थी, जिसे आज कल के भावों से तीन हजार तो माना ही जा सकता है। जीवन के अन्तिम समय तक वे पति को अपने हाथ का भोजन बनाकर खिलाती रहीं। मृत्यु के कुछ पहले कैंसर के कारण रोग शैथ्या पर पड़ जाने पर ही उनका कार्य बन्द हुआ।

समाज-सेवा का व्रत

सन् १९१३ में इंग्लैण्ड यात्रा के अवसर पर प्रतिष्ठित घरों की महिलाओं के समाज सेवा के कार्यों को देखकर अवन्तिकाबाई ने अपना जीवन इसी उद्देश्य के लिये खर्च करने का निश्चय कर लिया था। वहाँ से स्वदेश आते ही “भारत सेवक समिति” (सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी) के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री देवधर की प्रेरणा से वे बम्बई की प्रसिद्ध संस्था “सेवा-सदन” में कार्य करने लगीं। उसी समय बड़ोदा की महारानी पद्मावती ने उनको अपने पास सहचरी की हैसियत से रहने को बुलाया था, पर सेवा व्रतधारी अवन्तिकाबाई ने इस “राजसी-जीवन” को दूर से ही नमस्कार कर लिया।

सेवा-सदन में सबसे पहले वह स्त्री शिक्षा का कार्य करने लगीं। पढ़ाने की विधि उन्होंने देवधर जी से ही सीखी और कुछ समय बाद स्वतन्त्र रूप से स्त्रियों को अंग्रेजी पढ़ाने लगीं। पर उनका विशेष ध्यान मजदूरों की तरफ था। उन्होंने विलायत की मजदूर बस्तियों में इस प्रकार के सेवाकार्य को देखा था, इसलिये वे भी प्रति सप्ताह बम्बई की लाल बाग स्थित मजदूर बस्ती में जाकर तीन घंटे मजदूरों को सफाई और स्वास्थ्यप्रद रहन-सहन की शिक्षा देती थीं। वे स्त्रियों को शिशु-पालन का सही तरीका समझातीं।

अछूतों की दुर्दशा उनको बड़ी दुःखदायी प्रतीत होती थी। इसलिये प्रायः उनके मुहल्ले में जाकर उनकी दशा का अवलोकन करतीं और जिस प्रकार होता उनकी सहायता को तत्पर रहतीं। मकर सक्रांति के त्यौहार पर, जिसे महाराष्ट्र में “हल्दी कूक” कहते हैं, वे हरिजनों के मुहल्ले में जाकर उनकी स्त्रियों को हल्दी-रोरी देतीं और सबको तिल के लड्डू बाँटतीं।

अछूतों की समस्या अभी तक सुलझ नहीं रही है। महात्मा गाँधी के अपार त्याग और कष्ट सहन के परिणामस्वरूप आजकल अछूतों को कुछ कानूनी अधिकार मिल गये हैं और छोटी बड़ी सरकारी नौकरियों में भी वे कुछ स्थान पा जाते हैं, पर अभी तक सामाजिक भेदभाव के व्यवहार में, जो उनके साथ पुराने समय से होता आया है, अधिक अन्तर नहीं पड़ा है। शिक्षित जनों का एक भाग चाहे छूआछूत की व्याधि से कुछ मुक्त हो गया है, ग्रामीण और अशिक्षित जनता जिसकी संख्या सौ में से अस्सी के लगभग है, अभी तक बहुत कम बदली है। अवन्तिकाबाई के लिये यह बड़े गौरव की बात थी कि उसने आज से पचास-साठ वर्ष पहले अछूतों के साथ भाई-चारे का व्यवहार करके, लोगों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण समस्या की तरफ आकर्षित किया।

शिशु-पालन गृह की स्थापना

कारखानों में जाने वाली मजदूर स्त्रियाँ काम पर जाते हुए अपने छोटे बच्चों को अफीम खिलाकर घरों में बन्द कर जाती थीं, जिससे वे बीच में उठकर रोयें नहीं। यह प्रथा बड़ी हानिकारक थी और इससे बच्चे आरम्भ से ही सुस्त, निस्तेज और अकर्मण्य हो जाते थे। अवन्तिकाबाई ने मजदूर स्त्रियों को समझाया कि इस प्रकार अपने हाथ से अपनी सन्तान का अनहित करना बड़ा अनुचित है। वे स्त्रियाँ भी इस बात को मान गईं, पर प्रश्न था कि वे यदि अफीम न दें तो पीछे से बच्चों की देखभाल कौन करे? अवन्तिकाबाई ने इसका भार अपने ऊपर लिया और कुछ उदार सज्जनों की सहायता से एक “शिशु-पालन होम” स्थापित कर दिया। अनेक उच्च पदाधिकारी अंग्रेज महिलायें भी इस कार्य में सहयोग देती थीं। ऐसे “शिशु-पालन गृहों” को अंग्रेजी में “क्रेश” कहते हैं और विदेशों में सभी बड़े कारखानों में, जहाँ स्त्रियाँ मजदूरी करती हैं, इस प्रकार की व्यवस्था रहती है। यद्यपि अवन्तिकाबाई की योजना कुछ वर्ष ही चल सकी, फिर गाँधीजी के आन्दोलन में कूद पड़ने के कारण, उसे बन्द कर देना पड़ा, पर इसने अन्य कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया और अब देश के बड़े कारखानों में ऐसे “शिशु-पालन-

१.६७ मरकर भी अमर हो गये जो

गृह" कारखानेदारों की तरफ से ही खोल दिये गये हैं। इनमें माताओं के काम पर चले जाने पर बच्चों की देखभाल, सफाई, खिलाना, पिलाना, उनके वस्त्रों को धोकर ठीक कर देना आदि सब कार्य वहाँ के कार्यकर्ताओं द्वारा ही किये जाते हैं। मजदूरों तथा अछूतों आदि के लिये छोटे नगरों में इस तरह के सहायता कार्य करने की अब भी बड़ी आवश्यकता है और सेवा भावी स्त्री-पुरुष इस पुण्य-कार्य में सहयोग देकर अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं।

हिन्द महिला समाज

गाँधीजी के कार्यक्रमों में भाग लेने का एक परिणाम यह हुआ कि समाज-सेवा के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण बदल गया यद्यपि वे आरम्भ से ही गरीबों की सेवा की अभिलाषा रखती थीं, क्योंकि सेवा के वास्तविक पात्र वे ही होते हैं, पर जिन संस्थाओं से वे सम्बन्धित थीं, उनकी अन्य सदस्याओं का दृष्टिकोण कुछ भिन्न था। उनमें से अधिकांश धनिक वर्ग की ही थीं, और वे इस "सेवा कार्य" को कुछ अंशों में एक फैशन के ढंग पर करती थीं। जिस प्रकार इंग्लैण्ड के महिला क्लबों में धनी घरों की स्त्रियाँ तरह-तरह के मनोरंजनों, खेल कूद और गप्पें लड़ाने में समय बिताया करती हैं, वही हालत प्रायः बम्बई की सेवा संस्थाओं की थी। गरीबों की तो बात क्या, मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ भी उनकी सदस्या नहीं बन सकती थीं।

यह देखकर चम्पारन से वापस आते ही सन् १९१८ में अवन्तिकाबाई ने उद्योग करके "हिन्द महिला समाज" के नाम से एक नई संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य मध्यम श्रेणी की महिलाओं को कार्य क्षेत्र में लाना था। चम्पारन की किसान और बम्बई के मजदूर-वर्ग की स्त्रियों में काम करने से उन्हें यह अनुभव हुआ कि यहाँ की सामान्य स्त्रियों का स्वभाव अपने परिवार और जाति के स्वार्थ तक सीमित रहता है। इससे आगे बढ़कर समाज और देश की समस्याओं को समझने या इसके लिये कुछ कर सकने की रुचि उनमें नहीं पाई जाती। इसलिये उन्होंने 'हिन्द महिला समाज' का संगठन इस तरह तैयार किया कि सभी वर्ग की महिलायें उसमें भाग ले सकें। जिस दिन इस संस्था की स्थापना की गई उसी दिन बम्बई की कई हजार मध्यम श्रेणी की महिलायें उसमें उपस्थिति हुईं और उन्होंने उसके कार्यों में सब तरह से सहायता देने की अभिलाषा प्रकट की। अवन्तिकाबाई ने श्री जयकर की माता सोनाबाई को 'समाज' की अध्यक्ष बनाने का विचार प्रकट किया, पर सोनाबाई ने कहा कि मेरे जैसी वृद्धा से यह काम ठीक ढंग से नहीं चलाया जा सकेगा, इसके लिये किसी कर्मठ और उत्साही युवती को ही चुनना चाहिये। उसने स्वयं अवन्तिकाबाई

को ही अध्यक्ष बनाने का सुझाव दिया और सभा ने सर्वसम्मति से उसे स्वीकार किया। तब से जीवन के अन्तिम दिन तक वे ही उस पद पर काम करती रहीं। इस 'समाज' के कार्यक्रम का सारांश इन शब्दों में मिल सकता है—

"स्त्री-समाज में परस्पर स्नेह और सहयोग की भावना उत्पन्न करना, शिक्षा का प्रचार, स्त्री जाति के सम्मुख पारस्परिक सहायता तथा सद्भावना का आदर्श उपस्थित करना, महिलाओं में साहित्य के लिये प्रेम बढ़ाना और इसके लिये पुस्तकालय तथा वाचनालय खोलना, विद्वान वक्ताओं के व्याख्यान कराना, प्रवचन, कीर्तन आदि द्वारा ज्ञान का प्रसार करना, वाद-विवाद (डिबेट) की प्रतियोगिता की व्यवस्था करना, विविध कलायें सिखाना, स्वदेशी अर्थशास्त्र समझाना, इत्यादि।"

पर जब 'समाज' की तरफ से एक वाचनालय खोला गया तो उसमें समाचार पत्र तथा पुस्तकें पढ़ने कोई स्त्री नहीं आती थी। उस समय यह एक निराली बात समझी जाती थी कि स्त्रियाँ वाचनालय में जाकर अखबार पढ़ें। उनके पति भी इसके विरुद्ध थे। अगर कोई स्त्री संयोगवश वहाँ चली जाती तो उस पर डाट-फटकार पड़ती थी। यह देखकर अवन्तिकाबाई ने एक नया तरीका यह निकाला कि वह मिशनरी महिलाओं की तरह 'चालों' (सामूहिक निवास स्थानों) में अखबार और पुस्तकें लेकर घूमतीं और स्त्रियों को पढ़ने को दे आतीं अथवा किसी कमरे में बैठकर आसपास की दस-बीस स्त्रियों को इकट्ठा कर लेतीं और उनको अखबार और पुस्तकें पढ़कर सुनातीं। इस प्रकार जो कार्य हम "झोला पुस्तकालयों" द्वारा आज कर रहे हैं, वैसी ही कार्य प्रणाली अवन्तिकाबाई ने पचास वर्ष पहले अपनायी थी और आरम्भ में निराशा हाथ लगने पर भी छः महीने में उसे सफल बनाकर दिखा दिया था।

फिर एक "व्याख्यान माला" की योजना की गई उसमें स्त्रियों द्वारा राष्ट्रीय कार्य किये जाने के सम्बन्ध में प्रतिमास किसी बहुत बड़े विद्वान का भाषण कराया जाता था। इसमें लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, मालवीय जी जैसे महान् नेताओं के भी भाषण हुए। इनका प्रभाव महिलाओं पर बहुत अधिक पड़ा और उनमें से कई आगे बढ़कर असहयोग तथा सत्याग्रह आन्दोलनों में भाग लेने लगीं। सन् १९३० के कानून-भंग आन्दोलन में तो उन्होंने इतना काम किया कि देश में चारों ओर उनकी प्रशंसा होने लगी। इस दृष्टि से अवन्तिकाबाई का कार्यक्रम भी महात्मा गाँधी के स्वतन्त्रता-संग्राम का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया।

जब कांग्रेस की तरफ से लोकमान्य तिलक के स्मारक रूप में एक फण्ड जमा किया जाने लगा तो समाज की

सदस्याओं ने ३६०० रु. जमा करके महात्माजी को दिया। उस समय गाँधीजी ने कहा कि “इस ३६०० रु. में से १६०० रु. तो मेरी बहन अवन्तिकाबाई ने ही दिये हैं। दानदाताओं की सूची में १०० रु. देने वाले नाम भी बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि लोकमान्य के प्रति महाराष्ट्र में इतनी उदासीनता होगी।” महात्माजी के इतना कहते ही महिलाओं की तरफ से नोट और गहनों की वर्षा होने लगी और कुछ मिनटों में ४००० रु. इकट्ठा हो गया।

“हिन्द महिला समाज” ने कांग्रेस के सूत कातने तथा खादी बुनने के कार्य में भी अच्छी प्रगति करके दिखाई। इसमें कुछ सूत कात कर तैयार किया जाता था और कुछ साबरमती तथा बेलगांव आदि से भी मँगाया जाता था। अवन्तिकाबाई ने आरम्भ में दो तीन बुनाई के करघे स्वयं चलाये, बम्बई के कितने ही मुहल्लों में फेरी लगा कर खादी का प्रचार भी किया।

प्रत्येक सत्कार्य में सहायता

फिर भी “हिन्द महिला समाज” का मुख्य ध्येय स्त्रियों में शिक्षा प्रचार करना और सार्वजनिक सेवा के अवसरों पर उनमें यथाशक्ति सहयोग देना ही था। उसमें अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी पढ़ाने की बहुत अच्छी व्यवस्था थी पर फीस नाम मात्र को ही ली जाती थी। वे लोग केवल बम्बई में ही शिक्षा कार्य नहीं करते थे, वरन् और भी अनेक छोटे नगरों में उनकी तरफ से साक्षरता प्रचार का कार्य बड़ी संलग्नता से किया जाता था। इसके द्वारा स्त्रियों को सिलाई, काढ़ना और चित्रकला का कार्य भी सिखाया जाता था और कुछ समय पहले तक इन कक्षाओं में एक हजार से भी अधिक महिलायें उद्योग-धन्धों की शिक्षा प्राप्त करके स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करती थीं।

जब कभी कोई राष्ट्रीय या सामाजिक कार्य सम्मुख उपस्थित हुआ तो ‘हिन्द महिला समाज’ की सदस्याओं ने उसमें उल्लेखनीय सहयोग दिया। इसका वर्णन करते हुए उनके जीवन चरित्र में कहा है—

“जब कभी परोपकार या राष्ट्रीय कार्य के लिये आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती थी तो अवन्तिकाबाई अपनी ‘समाज’ की बहनों को साथ लेकर उस कार्य में अग्रसर रहतीं। “मालाबार सहायता-निधि”, “गुजरात-जल प्रलयनिधि”, “कमला नेहरू-निधि”, “सावरकर-बन्धु-निधि”, “शिवाजी-स्मारक निधि” में उन्होंने इस प्रकार हजारों रु. जमा करके दिये थे। गरीबों को कपड़े का प्रबन्ध, गरीब प्रसूता स्त्रियों को पौष्टिक खुराक की व्यवस्था आदि कार्य वह हमेशा करती रहती थीं। तलेगाँव के जनरल

अस्पताल की स्त्रियों को दूध और बच्चों को कपड़े देने का कार्य उनके बाद भी वर्षों तक चलता रहा। हरिजन सेवा से तो उनको विशेष प्रेम था। इस काम में उन्होंने समाज की दूसरी महिलाओं को भी प्रेरणा दी। हरिजन बस्ती में जाकर भजन, कीर्तन, पुस्तक पाठ करना हमेशा का कार्यक्रम रहता था। “हिन्द महिला समाज” का पुस्तकालय भी अवन्तिकाबाई के प्रयत्न से निरन्तर प्रगति करता चला गया, जिसके परिणामस्वरूप आज उसकी गिनती बम्बई के बहुत बड़े पुस्तकालयों में की जाती है।”

जो लोग देश सेवा और समाज-हित के कार्यों में अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, लोग उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये किसी प्रकार का स्मारक निर्माण करने की योजना बनाते हैं। पर अवन्तिकाबाई “हिन्द महिला समाज” के रूप में एक ऐसी परोपकारिणी संस्था की स्थापना कर गई हैं कि वह जब तक कायम रहेगी उसके लिये एक बहुत उत्तम ‘स्मारक’ का काम करती रहेगी। ‘समाज’ के स्थायित्व और सुचारु संचालन के लिये उन्होंने कितना परिश्रम किया यह निम्न उदाहरण से विदित हो सकता है—

“अपने जीवन के अन्तिम १७ सालों में अपने राजनीतिक जीवन और अन्य कार्यों से निवृत्त होकर वह ‘समाज’ के कार्यों में ही विलीन हो गई थीं। उनके अथक परिश्रम से ही ‘समाज’ को आज गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। ‘समाज’ के लिये आश्रयदाता ढूँढना, दान प्राप्त करके फण्ड जमा करना आदि कार्य वे ही करती थीं। श्रीमती सोफिया वाडिया, यमुना बाई आपटे और स्वयं के पति श्री बबनराव गोखले ने हजारों रुपया दान स्वरूप देकर ‘समाज’ की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाया। २०० रु. से अधिक देने वाले आश्रयदाता, १०० रु. से अधिक देने वाले आजीवन सदस्य और ५ से ५० रु. तक चन्दा देने वाले अन्य सदस्यों की संख्या अनगिनती थी। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों के सहयोग से ‘समाज’ की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।”

हमारी उच्च और मध्यम श्रेणी के घरों की जो महिलायें अपना समय अनेक प्रकार की निरर्थक बातों या फैशन और सजावट आदि में गँवाया करती हैं, अथवा आलस्यवश ‘सोफा-सेटों’ पर पड़ी रहती हैं, और शिकायत करती रहती हैं, कि उनके करने के लिये कोई काम ही नहीं है, वे अवन्तिकाबाई के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। उनको समझ लेना चाहिये कि आलस्य में पड़े रहना और समय गँवाना कोई सौभाग्य की बात नहीं है। जो पुरुष या स्त्रियाँ इस प्रकार के जीवन को बड़पान का चिह्न समझते हैं, वे बड़ी भूल में हैं। भगवान ने यह शरीर और

१.६६ मरकर भी अमर हो गये जो

धन, सम्पत्ति आदि अन्य साधन कुछ उपयोगी कार्य करने के लिये ही दिये हैं। जो इस ईश्वरीय विधान का उल्लंघन करता है वह कभी सच्चा सुख नहीं पा सकता। यों तो ना समझ और कुबुद्धि वाले शराब, अफीम, भांग आदि जैसे दुर्ब्यसनों में भी आनन्द मानते हैं, पर इनका जो अन्तिम परिणाम होता है वह किसी से छिपा नहीं है।

इसलिये बुद्धिमान और अपना कल्याण चाहने वाला उसी को कहा जा सकता है जो अपने साधनों तथा सामर्थ्य को श्रेष्ठ कार्यों में खर्च करे। अवन्तिकाबाई का जीवन इसके लिये बड़ा प्रेरणाप्रद है। हमारे यहाँ की स्त्रियाँ किसी सार्वजनिक सेवा का प्रश्न उठने पर प्रायः घर वार की जिम्मेदारियों या सामाजिक परम्पराओं का बहाना पेश कर देती हैं। अवन्तिकाबाई भी अंगर चाहती तो अपने पति और अपनी आमदनी से बंगलों और कोठियों में रहने वालों की तरह आराम और फैशन का जीवन बिता सकती थी। पर उसने समझ लिया कि जो लोग केवल इन बातों में ही लगे रहकर समाज का और विशेषतः दीन दुःखीजनों का कुछ भी हित साधन नहीं करते उनका जन्म व्यर्थ ही जाता है। यही सोच कर उन्होंने अपने सब साधन परोपकार और सेवा कार्यों में लगा दिये जिसके लिये आज तक उनका नाम सम्मान के साथ लिया जाता है।

खादी प्रेम और प्रचार के लिये उद्योग

ऊपर लिखा जा चुका है कि अवन्तिकाबाई द्वारा स्थापित “हिन्द महिला समाज” में कताई और बुनाई का कार्य भी होता था और अवन्तिकाबाई उसमें स्वयं भाग लेती थीं। पर उन्होंने खादी को तुरन्त ग्रहण नहीं कर लिया क्योंकि, उनका स्वभाव किसी की नकल करना नहीं था, वरन् प्रत्येक बात के गुण-दोषों का विवेचन करके उसके सम्बन्ध में निर्णय करने का था। इसलिये महात्मा गाँधी द्वारा खादी प्रचार सन् १९१७ में ही आरम्भ कर दिये जाने पर और अवन्तिकाबाई से उनका निकटवर्ती सम्बन्ध रहने पर भी उन्होंने सन् १९२१ तक खादी पहिनना आरम्भ नहीं किया। एक दिन श्रीमती सरोजिनी नायडू, सरला देवी चौधरानी, अवन्तिकाबाई गाँधीजी के पास बैठी बातें कर रही थीं। उसी बीच में सरला देवी ने हँसते हुए महात्मा जी से कहा कि ‘आप तो अवन्तिकाबाई की बड़ी प्रशंसा किया करते हैं, पर वह खादी तो नहीं पहनती।’ महात्माजी ने उत्तर दिया—‘अवन्तिकाबाई ऐसे स्वभाव की नहीं कि मेरे कहने से ही वह सब कुछ करने लगे। जब तक खादी की महिमा उसे प्रतीत न होगी तब तक वह खादी नहीं पहिनेंगी। पर विश्वास रखो कि, जिस दिन

वह श्रद्धा के साथ खादी को स्वीकार करेगी, तो आखिरी दम तक उसका त्याग नहीं करेगी।’

इसके कुछ समय पश्चात् ही आंध्र का दौरा करते हुए महात्मा जी को हाथ से बहुत बारीक सूत की एक साड़ी भेंट में मिली। वह उन्होंने अवन्तिकाबाई को दे दी। जब उसने देखा कि चर्खा पर इतना बढ़िया सूत काता जा सकता है तो उसे एक नवीन प्रेरणा मिली और उसने स्वयं सूत कातना आरम्भ कर दिया। कुछ समय बाद उसने अपने हाथ के सूत की बनी साड़ी पहन ली और पहले की रखी सब सूती और रेशमी साड़ियाँ गरीबों को दे दीं।

अपने हाथ की खादी की साड़ी पहिनने के साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय किया कि वह अपने हाथ के सूत की बनाई दो धोतियाँ गाँधीजी को उनके जन्म-दिवस पर अर्पण किया करेंगी। उनका यह संकल्प अन्तिम समय तक स्थिर रहा। सन् १९४२ में जब गाँधी जी पूना में कैद थे तब भी उसने उनके पास भेंट की धोतियाँ भेजने का निश्चय किया। जब बम्बई के पुलिस कमिश्नर ने इसकी अनुमति देने से इन्कार कर दिया तो अवन्तिकाबाई ने उनको रजिस्टर्ड डाक से जेलखाने के इन्स्पेक्टर जनरल कर्नल भंडारी के पास भेज दिया और लिखा कि “गाँधीजी के जन्म-दिवस पर दो धोतियाँ देने का मेरा व्रत है। कृपया इन्हें उनके पास पहुँचा दें।” कर्नल भंडारी ने उस समय तो कोई उत्तर न दिया, पर २ अक्टूबर को वे स्वयं धोतियाँ लेकर गाँधीजी के पास पहुँचे और हँस कर कहने लगे। “बताइये, मेरी बगल में क्या है?” गाँधी जी ने तुरन्त उत्तर दिया—“यह तो अवन्तिकाबाई का प्रसाद मालूम होता है।” इसके पश्चात् कर्नल भंडारी ने अवन्तिकाबाई को धोतियाँ पहुँचा देने की सूचना दी, तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ।

बम्बई कापेरिशन में सेवा कार्य

सन् १९२३ में अवन्तिकाबाई बम्बई कापेरिशन की सदस्या नियुक्त की गई और आठ वर्ष तक वे वहाँ रह कर जनता के हित के विभिन्न कार्य करती रहीं। उन्होंने देखा कि बालकों के स्कूलों में जो खोमचा वाले खाने पीने की चीजें बेचते हैं वे प्रायः अशुद्ध और हानिकारक होती हैं। इसलिये उन्होंने कापेरिशन में प्रस्ताव रखा कि उनको स्कूल के भीतर न आने दिया जाये, क्योंकि इससे अनेक बार कठिन बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अन्य सदस्यों ने भी इसकी युक्तियुक्तता को समझा और प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। इसी प्रकार चौपाटी पर खोमचे वालों के कारण बड़ी गन्दगी रहती थी। उनको रोकने को अवन्तिकाबाई ने प्रस्ताव किया। फिर कई सदस्यों के समझाने से उन्होंने उसे वापस ले लिया। उन्होंने बम्बई

नगर में कई जच्चाखाने खुलवाये और ऐसी व्यवस्था की कि उनमें गरीब वर्ग की महिलायें विशेष रूप से लाभ उठा सकें। गिरगाँव के जच्चाखाने के विषय में अनेक शिकायतें सुनने में आती थीं। अवन्तिकाबाई ने स्वयं उनकी जांच पड़ताल करके उनको दूर कराया।

अवन्तिकाबाई को मातृभाषा के गौरव का भी सदा ध्यान रहता था इसलिये जब इन्होंने देखा कि कापेरिशन के विधान में अंग्रेजी में ही भाषण करने का कोई नियम नहीं है, तो उसकी बैठकों में मराठी में ही भाषण करना आरम्भ कर दिया। यह देखकर कई पारसी और गुजराती सदस्यों ने भी अपनी भाषा में भाषण करना आरम्भ किया, जिससे कई सदस्यों को उनके समझने में कठिनाई होने लगी। कुछ समय बाद कापेरिशन के अध्यक्ष श्री जोसेफ बैटिस्ट चुने गये। उनका अवन्तिकाबाई के साथ स्नेह पूर्ण सम्बन्ध था और वे जानते थे कि वह अच्छी तरह अंग्रेजी बोल सकती हैं। इसलिये उन्होंने अवन्तिकाबाई से अंग्रेजी में ही बोलने का आग्रह किया। एक बार तो अवन्तिकाबाई ने यही उत्तर दिया कि मराठी में बोलने का उनका अधिकार है। पर जब बैटिस्ट साहब ने हँसते हुए उनसे कहा “यू मस्ट रिसपेक्ट दि चैयर” (अर्थात् आपको अध्यक्ष की बात का आदर करना चाहिये) तो उन्होंने अधिक हठ न की और तब से बराबर अंग्रेजी में ही भाषण करती रहीं।

जब उन्हें स्थायी समिति का सदस्य नियुक्त किया गया, तो नियमानुसार प्रत्येक बैठक का ३० रु. भत्ता मिलने लगा। पहली बार जब इसके लिये उनके पास ३० रु. चेक आया तो वे उसे लेकर विठ्ठलभाई पटेल के पास गई और रुपया लेने से इन्कार किया। विठ्ठल भाई ने उनको समझाया कि सर जमशेदजी भाई जैसे करोड़पति भी भत्ता का रुपया ले लेते हैं, तब आप उसे अस्वीकार क्यों करती हैं? आप उसका उपयोग किसी भी अच्छे काम में कर सकती हैं। इस पर अवन्तिकाबाई रुपया लेकर उसे किसी सार्वजनिक संस्था को दान कर देने लगीं।

स्वदेशी-प्रेम से प्रेरित होकर अवन्तिकाबाई ने यह प्रस्ताव पास कराया कि म्युनिस्पल स्कूलों में तकली पर सूत कातना सिखाया जाये। नियमानुसार इसे स्कूल कमेटी में विचारार्थ भेज दिया गया। दूसरा प्रस्ताव यह रखा कि कापेरिशन के सब कर्मचारी स्वदेशी वस्त्र व्यवहार करें। अवन्तिकाबाई जानती थी कि कर्मचारियों से इसका पालन करा सकना बहुत कम सम्भव है, तब भी जब वह कुछ संशोधनों के साथ पास हो गया तो उनको बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि इस प्रकार कापेरिशन ने स्वदेशी का सिद्धान्त

स्वीकार कर लिया, जो अंग्रेजी शासन के जमाने में एक कठिन बात थी।

कापेरिशन में योग्यतापूर्वक कार्य करने का एक परिणाम यह हुआ कि सरकार की तरफ से उनको जे. पी. की उपाधि देकर आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाने का निर्णय किया। पर अवन्तिकाबाई जानती थीं कि चाहे यह कार्य बिना वेतन के (आनरेरी) ही किया जायेगा, तो भी उन्हें सरकारी नियमों का पालन करना ही पड़ेगा और वे राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक न कर सकेंगी। इसलिये उन्होंने बम्बई के पुलिस कमिश्नर मि. केली को लिख भेजा कि वे इस सम्मान को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

बम्बई कापेरिशन भारत की सबसे बड़ी नगरपालिका थी, जिसकी आय और खर्च करोड़ों का था। इसलिये जो लोग उसके सदस्य चुन लिये जाते थे वे अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझते थे और किसी न किसी रूप में उसका लाभ उठाते ही थे। अवन्तिकाबाई ने अपनी सदस्यता के आठ वर्षों में जितने प्रस्ताव पेश किये और वक्तव्य दिये वे सब जन सेवा की भावना से होते थे। जिस प्रकार अन्य सदस्य अपने सम्बन्धियों या मित्रों की सिफारिशों लेकर उच्च अधिकारियों के पास जाते हैं, वैसा उन्होंने कभी नहीं किया। किसी अवसर पर म्युनिस्पल कमिश्नर मि. क्लेटन ने अपने भाषण में यह कहा कि “इस कापेरिशन का एक भी सदस्य ऐसा नहीं है, जो किसी न किसी सिफारिश के साथ मेरे पास न आया हो।” यह सुनते ही अवन्तिकाबाई इसका प्रतिवाद करने को खड़ी हो गई। तब क्लेटन साहब ने कहा—‘अवन्तिकाबाई, आप ही एक अपवाद हैं।’ क्लेटन साहब ने एक अन्य अवसर पर भी कापेरिशन की बैठक में कहा था—‘अवन्तिकाबाई के कारण यहाँ का वातावरण गम्भीर रहता है और समस्त चर्चा ऊँचे दर्जे की होती है। उनकी ईमानदारी और स्पष्टता लाजवाब है।’

यद्यपि कांग्रेस के कानून भंग आन्दोलन में भाग लेने और ६ महीने की सजा दिये जाने के आधार पर सन् १९३१ में अवन्तिकाबाई को कापेरिशन की सदस्यता से हटा दिया गया, पर उसके सदस्य तथा अधिकारी सदैव उनका आदर करते रहे। सन् १९४६ में उनका देहान्त हो जाने पर उसके अध्यक्ष डॉ. भास्करेन्हास ने शोक-प्रस्ताव उपस्थित किया। स्थायी समिति और स्वास्थ्य-समिति ने शोक के प्रस्ताव पास किये। इस प्रकार अवन्तिकाबाई ने अपने व्यावहारिक आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि यदि हम ईमानदारी और सच्चाई से काम लें तो हमारे विरोधियों को भी हमारी प्रशंसा करनी पड़ेगी।

१.१०१ मरकर भी अमर हो गये जो

राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल जाना

जब कांग्रेस ने पूर्ण-स्वाधीनता का प्रस्ताव पास कर दिया और २६ जनवरी सन् १९३० को समस्त भारत में “स्वतन्त्रता-दिवस” बड़े जोर-शोर से मनाया गया, तो देश में एक रंगत दिखलाई पड़ने लगी। प्रत्येक नगर में तिरंगा झंडा लिये राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं तथा स्वयं सेवकों के दल फिरते हुए नजर आते थे और पुलिस वाले लाठियों लेकर उनके पीछे फिरते थे। यह वह जमाना था जब पं. मदन मोहन मालवीय, पं. मोतीलाल नेहरू, मौलाना आजाद, सरोजिनी नायडू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय जैसे अखिल भारतीय नेता जलूसों में शामिल होकर पुलिस की लाठियों का सामना करते थे। पुरुष ही नहीं स्त्रियों और लड़कियों भी हजारों की संख्या में जलूसों में भाग लेती थीं और पुलिस की मार तथा जेल की सजा को सहन करके भी पीछे कदम नहीं हटाती थीं। बम्बई इस दृष्टि से बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा था। वहाँ सरकारी आदेशों का उल्लंघन करके बहुत बड़े-बड़े जलूस हमेशा निकाले जाते थे और पुलिस के कठोर दमन के होने पर भी लोग हिम्मत नहीं हारते थे।

अवन्तिकाबाई बम्बई के कांग्रेस आन्दोलन की एक प्रमुख नेता थीं ७ अप्रैल सन् १९३० को जब प्रथम बार नमक-कानून तोड़कर सत्याग्रह किया गया तो उस जलूस में अवन्तिकाबाई भी अनेक सत्याग्रही महिलाओं के साथ उपस्थित थीं। इन वीरांगनाओं को देखने के लिये पहले से ही महालक्ष्मी के मैदान में दस हजार व्यक्तियों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी। इसके पश्चात् चौपाटी की सभा में भी अवन्तिकाबाई ने भाषण करते हुए महाराष्ट्र की वीरता का परिचय देकर जनता को आन्दोलन में अधिकाधिक भाग लेने की प्रेरणा दी। ४ मई को जब गाँधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया तो बम्बई में एक दिन के बजाय तीन दिन हड़ताल रखी गई। श्रीमती सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में जो सार्वजनिक सभा हुई उसमें अवन्तिकाबाई ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार पर जोर दिया और दूसरे दिन से ही विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकेटिंग शुरू कर दी गई। सैकड़ों स्वयं सेविकायें प्रमुख कपड़ा मार्केटों के सामने खड़े होकर लोगों को उनके खरीदने से रोकने लगीं।

कुछ समय बाद लोगों का उत्साह बढ़ाने के लिये शराब की दुकानों पर भी पिकेटिंग की जाने लगी। यह कार्य कुछ खतरनाक भी था क्योंकि शराबी और शराब बेचने वालों में भले आदमियों की संख्या बहुत कम होती है। फिर भी अवन्तिकाबाई ने श्रीमती हंसा मेहता और अन्य स्वयं सेवकों को लेकर बम्बई के सबसे बदनाम मुहल्ले भिण्डी बाजार की एक शराब की दुकान पर पिकेटिंग आरम्भ कर दी। इस

समय सरकारी आर्डिनंस के अनुसार पिकेटिंग करना जुर्म हो गया था। पर कुछ सोचकर अधिकारियों ने इनको गिरफ्तार नहीं किया।

जब कांग्रेस के अध्यक्ष पं. मोतीलाल नेहरू बम्बई के “आजाद मैदान” में व्याख्यान देने पहुँचे तो पुलिस कमिश्नर मि. हेली स्वयं सभा भंग करने को वहाँ मौजूद थे। उनके साथ ७०० पुलिस के सिपाही, ५०० सवार और ७५ सार्जेंट थे। भीड़ पर उनके हमला करने से सैकड़ों व्यक्ति घायल हुए। उन्होंने अपनी बदनामी से बचने के लिये सब महिलाओं को वहाँ से हट जाने को कहा। पर अवन्तिकाबाई ने कहा—“हम यहाँ पर हट जाने के लिये नहीं आई हैं, अपने भाइयों के साथ हम भी यहाँ डटी रहेंगी। आप चाहें तो हमें धोड़ों से कुचलवा दें।”

इसी प्रकार लोकमान्य तिलक की पुण्य तिथि के अवसर पर जो जलूस निकाला गया और जिसमें मालवीय जी तथा सरदार पटेल भाई भी थे, उसको बोरी बन्दर पर रोका गया। कई हजार लोगों ने अपने नेताओं के साथ पूरी रात वहीं पर व्यतीत करदी, पर पीछे न हटे। अवन्तिकाबाई भी इसमें थीं। जब पुलिस ने लाठी चार्ज किया तो ५००-६०० व्यक्ति घायल हो गये, पर किसी ने हार नहीं मानी।

अन्त में सरकार ने कांग्रेस कमेटी को ही गैरकानूनी घोषित कर दिया और कांग्रेस आफिस पर पुलिस का पहरा बैठा दिया गया। लेकिन कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने हजारों घरों पर ‘कांग्रेस-कार्यालय’ का साइन बोर्ड लगा दिया और ज्योंही एक अध्यक्ष गिरफ्तार किया जाता कि दूसरा अध्यक्ष आकर उसका काम सँभाल लेता। जब बारह अध्यक्ष गिरफ्तार कर लिये गये तो अवन्तिकाबाई तेरहवीं अध्यक्ष बनीं। उस समय कोई खास कार्यक्रम सामने न था। कांग्रेस कमेटी के साथ उसका झंडा भी गैर कानूनी करार दे दिया गया। इसलिये अवन्तिकाबाई के आदेशानुसार बहुसंख्यक राष्ट्रीय स्वयं सेवक सार्वजनिक स्थानों में ‘झंडाभिवादन’ करते हुए जेल चले गये।

देशभक्त दम्पति

महात्मा गाँधी ने अवन्तिकाबाई से कहलाया था कि उसके पति बबनराव हाथ कट जाने से असहाय हैं, उनको सदैव सहायता की आवश्यकता रहती है, इसलिये उन्हें जेल नहीं जाना चाहिये। पर जब वह युद्ध-समिति की अध्यक्ष चुनली गई तो उनके सामने यह समस्या आई कि अब क्या किया जाये? पर बबनराव ने स्वयं उसे जेल जाने का आदेश देकर कहा कि उनकी जरा भी चिन्ता न करें, वे अपनी व्यवस्था स्वयं अच्छी तरह कर सकते हैं।

२६ अक्टूबर को अवन्तिकाबाई अपने कुछ सहकारियों को लेकर जिनमें अधिक संख्या महिलाओं और लड़कियों की ही थी, आजाद मैदान में पहुँचीं। पुलिस ने उस पर पहले से अधिकार कर रखा था। सार्जेंटों ने उनके हाथ से झण्डा छीनने की बहुत कोशिश की पर वे सफल न हो सके। हजारों व्यक्तियों के सम्मुख झण्डाभिवादन करके तथा स्वयंसेवकों तथा स्वयंसेविकाओं की सलामी लेकर वह घर चली गई इसके बाद अन्य सब लोग अपने झण्डे फहराने लगे। पुलिस वाले झण्डे छीनते रहे और नये-नये झण्डे निकलते रहे। सार्जेंटों ने अनेक स्वयंसेविकाओं को लारी में भर कर कई मील दूर ले जाकर एक जंगल में छोड़ दिया। वहाँ से बहुत रात बीत जाने पर वे बम्बई वापस आईं। उसी दिन शाम को एक मजदूर सभा को भंग करने के लिये पुलिस ने लाठी चार्ज किया। अवन्तिकाबाई ने पुलिस की बर्बरता के विरुद्ध एक वक्तव्य उसी समय समाचार पत्रों में निकलवाया।

दूसरे दिन दोपहर के बाद एक पुलिस अफसर अवन्तिकाबाई की गिरफ्तारी का वारंट लेकर उनके घर पहुँचा। वहाँ पर उपस्थित बबनराव ने कहा कि वह कार्पोरेशन गई हैं। पुलिस वाले ने समझा कि वह उसे बहका रहे हैं, इसलिये उसने पूरे मकान की अच्छी तरह तलाशी ली। जब वहाँ वे न मिलीं तो कार्पोरेशन में रात के आठ बजे उनको गिरफ्तार किया गया।

२८ अक्टूबर को ही अवन्तिकाबाई के मुकद्दमे का फैसला कर दिया गया। अवन्तिकाबाई ने अपने बचाव में कुछ भी कहने से इन्कार किया। इस पर मजिस्ट्रेट ने उन्हें ६ मास की कैद और ४०० रु. जुर्माना की सजा दी। पर अवन्तिकाबाई ने जुर्माना देने के बजाय तीन महीने की सख्त कैद के दण्ड को पसन्द किया। इस प्रकार उनको कुल नौ मास की सजा दी गई। वह इस अवसर पर खूब प्रसन्न थीं और उन्होंने कहा—“जिस जेलखाने में भगवान श्रीकृष्ण का जन्म हुआ और जिसमें आज जगत पूज्य महात्मा जी बन्द हैं, उस पवित्र स्थल में जाकर मैं एक अपूर्व आनन्द का अनुभव कर रही हूँ। विलायती कपड़ों तथा शराब की पिकेटिंग का कार्य महात्मा जी ने विशेष रूप से स्त्रियों के सुपुर्द किया है। हमारा कर्तव्य है कि हम उस कार्य को अच्छी तरह पूरा करें और प्रतिदिन एक चण्टा सूत भी काता करें।”

अवन्तिकाबाई को यरबदा जेल भेजने की आज्ञा दी गई। बबनराव उस समय उपस्थित थे। यद्यपि वे पिछले ३० वर्षों में कभी पृथक् नहीं हुए थे, पर इस समय देश की पुकार को ध्यान में रखकर उन्होंने बिना किसी प्रकार

के विषाद के इस निर्णय को स्वीकार किया। वास्तव में समाज सेवा और राष्ट्र सेवा का महत्त्व व्यक्तिगत सुख-सौख्य की अपेक्षा कहीं अधिक है और जब ऐसा अवसर आये तो देश, धर्म और समाज को प्रधानता देना ही हम सबका आदर्श होना चाहिये।

इसके पश्चात् लार्ड इरविन के साथ गौंधी जी का समझौता हो जाने से सभी राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया गया और अवन्तिकाबाई को लगभग ४½ महीने ही जेल में रहना पड़ा। बाहर आने पर रचनात्मक कार्यक्रम में उनकी आवश्यकता समझी गई और महात्मा जी ने खादी और साक्षरता के प्रचार का काम विशेषरूप से उनके सुपुर्द किया। इसलिये विभिन्न स्थानों में महिलाओं की गोष्ठियाँ करके खादी के लाभ समझाया करती थीं। साक्षरता का कार्यक्रम वे पूर्ववत् “हिन्द महिला-समाज” के माध्यम से करती रहीं। पर सन् १९३२ में लार्ड विलिंगडन की नीति के कारण सत्याग्रह आन्दोलन पुनः उठाया गया। गौंधीजी को तो विलायत में होने वाली “राउण्ड टेबिल कॉन्फ्रेंस” से लौटते ही गिरफ्तार कर लिया गया और ४ जनवरी १९३३ को ही एक आर्डिनंस निकाल कर कांग्रेस को फिर गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। इसके बाद देशभर में प्रमुख कार्यकर्ता घड़ाघड़ गिरफ्तार किये जाने लगे। अवन्तिकाबाई को भी अपनी गिरफ्तारी का अनुमान हो गया था। इसलिये उन्होंने अपने पति बबनराव की सब व्यवस्था ठीक कर दी और जैसे ही पुलिस की गाड़ी उन्हें गिरफ्तार करने आई वे तुरन्त चलने को तैयार हो गईं।

इस बार वे नजरबन्द के रूप में दो महीने तक जेल में रखी गई उसके बाद नजरबन्दों को एक शर्तनामे पर दस्तख्त कराके छोड़ देने का आदेश था। पर उसकी शर्त ऐसी खराब थी कि कोई सच्चा कार्यकर्ता उसके लिये तैयार नहीं होता था। पर अवन्तिकाबाई को बिना किसी शर्त के ही रिहा कर दिया गया। इस प्रकार देशभक्त दम्पति ने अपने सुख-दुःख या विछोह की चिन्ता न करके राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का यथोचित रूप से पालन किया। उनका कार्य निःसन्देह अनेक दम्पतियों के लिये प्रेरणादायक है।

पति की बीमारी के कारण कार्यक्रम में परिवर्तन

पर सन् १९३३ में बबनराव को हृदय की बीमारी हो गई। इसका आक्रमण आकस्मिक रूप से होता है, इसलिये अवन्तिकाबाई का उनसे थोड़ी देर भी अलग रहना

१.१०३ मरकर भी अमर हो गये जो

ठीक न था। कारण राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना असम्भव हो गया और महात्मा जी ने भी उन्हें स्पष्ट रूप से जब तक पति स्वस्थ न हो जायें पूर्ण रूप से उसकी सेवा में लगे रहने का आदेश दिया। यही कारण था कि सन् १९३७ में देश में कांग्रेसी-सरकार कायम होते समय श्रीमती सरोजिनी नायडू के बहुत जोर देने पर भी वे विधान सभा की सदस्यता के लिये खड़ी न हुईं। आगे चलकर १९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह और सन् १९४२ के “भारत छोड़ो” आन्दोलन में भी भाग न ले सकीं इसके बाद वे १५ वर्ष तक पति की पूरी तरह से देखभाल ही करती रहीं।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने सार्वजनिक कार्य को छोड़ दिया। महात्मा जी ने उनको खादी और साक्षरता प्रचार का आदेश दिया था, इसे वे “हिन्द महिला समाज” के माध्यम से करती रहीं। ‘समाज’ का कार्यालय एक प्रकार से उनके घर पर ही था। अपनी परिस्थिति को समझकर वे ऐसी व्यवस्था करने लगीं जिससे धन अथवा कार्यकर्त्रियों के अभाव से उसके मार्ग में रुकावट न पड़े। इसके लिये उन्होंने बहुत से नियमित आर्थिक सहायता देने वाले तैयार किये और बहुत-सी योग्य महिलाओं को “समाज” का कार्य संचालन करने के लिये प्रशिक्षित किया।

पर “समाज” का कार्य करते हुए उन्होंने अपने को अधिकार और यश की लालसा से सदा दूर रखा। वे उसकी व्यवस्था कैसे करती हैं, और उन्हें इसके लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है, इसकी चर्चा वे कभी किसी के सामने नहीं करती थीं। एक निष्काम कर्मयोगी की तरह वे चुपचाप अपना कर्तव्य पालन करके अलग हट जाती थीं और कार्य का यश दूसरों को ही देना पसन्द करती थीं।

बीमारी और अन्तिम जीवन

अवन्तिकाबाई का स्वास्थ्य पहले काफी अच्छा था और उसी के आधार पर वह राष्ट्रीय और महिला आन्दोलनों में बहुत अधिक परिश्रम करके उनको सफल बना सकीं थीं। पर जेल जीवन का उनके स्वास्थ्य पर बहुत खराब प्रभाव पड़ा। वह घर गृहस्थी में रहने वाली और स्वास्थ्य के नियमों के अनुसार चलने वाली स्त्री थीं। जेलखाने के कठोर नियमों तथा वहाँ के अस्वास्थ्यकर खान-पान ने उनके स्वास्थ्य को सदा के लिये खराब कर दिया। डाक्टरों की सलाह से वह स्वास्थ्य-सुधार के लिये कुछ समय के लिये काश्मीर भी गईं, पर बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य फिर पूर्ववत् दशा में न आया।

सन् १९४७ में जब उनकी तबियत अधिक खराब रहने लगी तो बड़े चिकित्सकों से सलाह ली गई। मालूम हुआ कि उनको कैंसर का रोग हो गया है, जो असाध्य

माना जाता है। अवन्तिकाबाई ने इसकी भी अधिक चिन्ता न की और होनहार को अनिवार्य समझ कर अपने कार्य में लगी रहीं। अब वह ज्यादा चल-फिर तो नहीं सकती थीं, पर बैठे-बैठे ही “हिन्द महिला-समाज” का कार्य करती रहती थीं। इसी समय बबनराव पर लकवा का आक्रमण हुआ जिससे उनकी दशा बहुत ही शोचनीय हो गई। अवन्तिकाबाई अपनी बीमारी को भूल कर रात-दिन उनकी सेवा में संलग्न रहने लगीं। उनकी सेवा-परिचर्या से बबनराव का प्राण-संकट टल गया और वे स्वस्थ हो गये। पर इस प्रकार बीमार होते हुए भी अतिरिक्त श्रम करने से अवन्तिकाबाई की हालत खराब हो गई और फिर उसी बीमारी में उनका अन्त हो गया।

पर कैंसर जैसी घातक बीमारी से ग्रसित होने पर भी उनको अपने नियम तथा कर्तव्य का कितना ध्यान था, इसका पता इस बात से चलता है कि उस दशा में उन्होंने महात्मा जी के जन्म दिवस पर सदा की तरह दो धोतियाँ भेजने की पूरी चेष्टा की। उन्होंने सूत तैयार करके बुनने को भी दिया, पर धोतियाँ २ अक्टूबर तक न आ सकीं। महात्मा जी उस समय दिल्ली में थे, इसलिये उन्होंने वहाँ पर पत्र भेज कर इस त्रुटि के लिये क्षमा-प्रार्थना की और अपनी बीमारी का हाल भी लिखा। महात्मा जी ने उस पत्र के उत्तर में कहा—

“तुम्हें कैंसर कहीं से हुआ। मुझे तो तुम्हारे पत्र से ही यह समाचार मालूम हुआ। क्या वह ठीक हो सकता है? पत्र द्वारा मुझे पूरी जानकारी देना। अब धोती भेजने का मोह क्यों करती हो? तुमने तो बहुत वर्षों तक इस व्रत का पालन किया। अब यह मोह छोड़ दो।”

इसके चार महीने बाद ही दिल्ली में महात्मा जी की हत्या कर दी गई। अवन्तिकाबाई पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। उसे अपना जीवन निःसार प्रतीत होने लगा। जहाँ गाँधी जी जैसे विश्व-हित के उपासक के प्रति ऐसा भीष्म व्यवहार किया जा सकता है, ऐसी दुनिया में रहने से ही क्या लाभ? उन्होंने अपनी दवा करनी भी छोड़ दी और वह कामना करने लगी कि मृत्यु शीघ्र ही आकर इस नश्वर जीवन का अन्त कर दे। मृत्यु के कुछ दिन पहले तो उनकी यह हालत हो गई कि कभी-कभी एकाएक चिल्ला उठतीं “बापू मुझे बुला रहे हैं।” इस पर बबनराव उनसे कहते कि “बापू जी ने हम दोनों को हमेशा साथ देखा है। वह तुम्हें अकेली कैसे बुलायेंगे?” अवन्तिकाबाई कहती—“हाँ, यह भी ठीक है, लेकिन मेरे जाने के बाद कुछ महीनों में आप भी वहाँ आ जायेंगे।” इसी प्रकार की कल्पना करते-करते २६ मार्च १९४८ को उनका देहावसान हो गया।

अवन्तिकाबाई की विशेषतायें

यद्यपि महात्मा गाँधी के आन्दोलन ने लाखों व्यक्तियों के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिये थे, पर स्त्रियों में अवन्तिकाबाई जैसे उदाहरण थोड़े ही थे। आरम्भ में उनका जीवन धनी श्रेणी की किसी महिला से ही मिलता-जुलता था। वह रेशमी और महीन साड़ियाँ पहिनती थीं और अंग्रेजी ढंग का रहन-सहन रखती थीं। पर सन् १९१७ में गाँधी जी के सम्पर्क में आते ही उनकी एक प्रकार से कायापलट हो गई। वैसे तो गाँधी जी की विचारधारा तथा कार्यों का विवरण समाचार पत्रों में पढ़कर वे उनके प्रति श्रद्धालु बन गई थीं और अपने को उसी ढाँचे में ढालने की चेष्टा करने लगीं थीं। यही कारण था कि गाँधी जी भी उनके प्रति बहुत शीघ्र आकर्षित हो गये और उन पर पूरा विश्वास करने लग गये।

अवन्तिकाबाई ने केवल खादी और सत्याग्रह के विषय में ही गाँधी जी का अनुसरण नहीं किया, वरन् वह निजी जीवन में भी उनके पद चिह्नों पर चलना चाहती थीं। जब बबनराव की आयु ५० वर्ष की हो गई तो अवन्तिकाबाई ने उनसे प्रस्ताव किया कि “अब हम दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करें।” बबनराव ने कहा कि “५० वर्ष की आयु कोई ऐसी नहीं होती कि मनुष्य वैवाहिक-जीवन की प्रवृत्तियों का त्याग कर दे।” अवन्तिकाबाई ने उन्हें समझाया कि गाँधी जी तो ३५ वर्ष की आयु से ही ब्रह्मचर्य का पालन करने लग गये थे। आपको ५० वर्ष की आयु में तो कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। “विलायत में शराब पीने की आदत को जब आपने सहज में ही छोड़ दिया था, तो इस तरह का संयम रखना आपके लिये साधारण बात है।” अन्त में बबनराव भी उससे सहमत हो गये और वे घर में भाई बहिन की तरह रहने लगे।

अवन्तिकाबाई एक नये विचारों की स्त्री थी। और धार्मिक अन्धविश्वासों से सर्वथा दूर ही रहती थीं, पर पति सेवा के मामले में वह अन्त समय तक पुराने आदर्श की ही अनुयायी बनी रहीं। उनके पति के दोनों हाथ युवावस्था में ही जाते रहे थे, उन्होंने उनकी आवश्यकताओं की सदैव इस प्रकार पूर्ति की कि बबनराव को कभी अपनी असहाय अवस्था का ख्याल नहीं आया। वह उनके छोटे-बड़े सभी कामों को पहले से ही पूरा करके रखती थीं, और उनके लिये अपने स्वास्थ्य का भी ख्याल नहीं रखती थीं। पति के सम्बन्ध में वह इतनी भावुक थीं कि उससे सम्बन्धित सभी परम्परागत रूढ़ियों का वह पालन करती रहती थीं। महाराष्ट्र की सुहागिन स्त्रियों में काले कौंच के दानों की एक माला गले में पहिनने का रिवाज है। इस सुहाग-चिह्न

का वह मरते समय तक परित्याग न कर सकीं। जेल जाते समय वहाँ के कर्मचारी तमाम गहने उतरवा देते हैं। इस सुहाग-चिह्न को भी वे किसी के पास शेष नहीं रहने देते। इस बात को समझ कर अवन्तिकाबाई ने केवल पौंच दानों की छोटी-सी माला बनाकर छुपा कर रखली थी। इस प्रकार पति प्रेम के वशीभूत होकर उन्होंने सत्यवादिता के नियम की भी अवहेलना करदी और अपनी इस कमजोरी को महात्मा जी के सामने स्वीकार भी कर लिया।

हो सकता है कुछ लोग इसे वास्तव में अवन्तिकाबाई की दुर्बलता और रूढ़िवादिता ही समझें, पर जीवन में ऐसे भी प्रसंग आते हैं जब मनुष्य जानबूझ कर भी एकाघ त्रुटि कर देता है। पर इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से होता है और वह एक ऐसा गुप्त और पवित्र रहस्य होता है, जिसे प्रायः दूसरों के समक्ष प्रकट भी नहीं किया जाता। समाज को उससे कोई हानि लाभ नहीं होता। इस काले दानों की माला वाली बात को यदि अवन्तिकाबाई आत्मशुद्धि की दृष्टि से अपने “गुरु” महात्मा गाँधी से न कहतीं तो कभी उसकी चर्चा भी सुनने में न आती। पर अब जबकि वह किसी प्रकार प्रकाश में आ गई, तब भी हम अवन्तिकाबाई की प्रेम-प्रवणता की प्रशंसा ही कर सकते हैं। ऐसी छोटी-छोटी बातों से व्यक्ति के अन्तरतम प्रदेश का दर्शन हो जाता है।

यूरोप-यात्रा के कारण उन्हें हर प्रकार के वातावरण में रहने का अवसर प्राप्त हुआ था। आन्दोलन में भाग लेने के कारण भारतवर्ष के प्रत्येक प्रदेश में भी वे अच्छी तरह घूम चुकी थीं। पर सब प्रकार के लोगों के संसर्ग में आने पर भी वह शाकाहारी ही बनी रहीं। पर उसके पति यूरोप और चीन में सात वर्ष रहने के प्रभाव से अन्तिम वर्षों में माँस खाने लगे थे। अवन्तिकाबाई ने उनसे कहा कि अगर आप आदेश देंगे तो मैं आपको माँस का भोजन बनाकर दे सकती हूँ, चाहे स्वयं कभी उसका व्यवहार न करूँ। पर कुछ समय बाद बबनराव ने स्वयं माँसाहार त्याग दिया और इस सम्बन्ध में अवन्तिकाबाई की परीक्षा का कोई अवसर ही नहीं आया।

पर उसके पति-प्रेम सम्बन्धी ये दो-चार उदाहरण अवन्तिकाबाई की गम्भीर भावुकता का प्रदर्शन करने के साथ ही उन लोगों की आँखें खोलने वाले हैं जो, विदेशी शिक्षा प्राप्त महिलाओं को एक सिरे से पति की परवाह न करने वाली अथवा पतिव्रत से च्युत समझा करते हैं। विदेशों में भी ऐसी बहुसंख्यक महिलायें होती हैं जो कठिन से कठिन प्रसंग आने पर भी पति का साथ देती हैं और अपने प्राणों को अर्पण कर देती हैं। इटली के प्रसिद्ध

१.१०५ मरकर भी अमर हो गये जो

देशभक्त सेनानायक गैरीवाल्की की पत्नी युद्ध क्षेत्र में भी सदा उसका साथ देती रही और उसने इसके लिये इतने संकट सहन किये कि उसका देहावसान अल्प आयु में हो गया। इसी प्रकार कहा जाता है कि सन् १९१२ में जब “टिटैनिक” नामक सुप्रसिद्ध जहाज बर्फ के पहाड़ से टकरा कर समुद्र में डूब रहा था तो पहले स्त्री और बच्चों को “लाइफ बोटों” (प्राण बचाने वाली नावों) में बैठाया गया। एक पति ने अपनी पत्नी को, जो राजी से नाव में नहीं बैठ रही थीं, गोद में उठाकर लाइफ बोट में पहुँचा दिया। पर जैसे ही लाइफ बोट चलने को तैयार हुई वह स्त्री उछल कर पुनः जहाज पर आ गई और पति से लिपट कर कहने लगी कि आप और मैं जन्म भर एक साथ रहे, तो अब अन्तिम समय में बिछुड़ने की क्या आवश्यकता है? वे चुपचाप अपने कमरे में चले गये और वहीं शांतिपूर्वक उन्होंने सम्मिलित ही जल समाधि ले ली।

अवन्तिकाबाई भी इसी श्रेणी की प्रेमिणी महिला थीं। उनके पति जिस प्रकार अपाहिज हो गये थे, उस दशा में अनेक स्त्रियों उनकी अवज्ञा करने लग जातीं अथवा स्वच्छन्दता का कोई मार्ग अपना लेतीं। पर अवन्तिकाबाई ने इसके विपरीत, जैसे-जैसे दुर्घटना ग्रस्त होकर बबनराव विकलांग होते गये उनसे अधिक प्रेम और सेवा करती गई। ऐसे सच्चे प्रेमी जीव ही निजी परिवार का सीमा से आगे बढ़कर समाज और देश के सच्चे सेवक और स्वार्थत्यागी सहायक बनते हैं।

अनुशासन सम्बन्धी कड़ाई और कर्त्तव्य पालन

विदेशों के उदाहरणों को देखकर अवन्तिकाबाई को अनुशासन का महत्त्व अच्छी तरह समझ में आ गया था और भारतवर्ष की उन्नति के लिये उन्होंने उसका यथाशक्ति प्रयोग भी किया था। ‘हिन्द महिला समाज’ से सम्बन्धित शिक्षा संस्थाओं तथा अन्य कार्यों में वह सख्ती से ही काम लेती थीं, जिससे अनेक बहिनें असन्तुष्ट भी हो जाती थीं! पर अवन्तिकाबाई ने अन्त तक स्वयं अनुशासन का पालन किया और दूसरों से भी कराया। इसका अन्तिम परिणाम किस प्रकार शुभ सिद्ध हुआ इस सम्बन्ध में उनकी एक प्रमुख सहकारी श्रीमती कमलिनी गोखले ने अपने संस्मरणों में लिखा है—

“सन् १९३७ के जून मास में मैंने पहली बार ‘हिन्द महिला-समाज’ में अंग्रेजी पढ़ाने के लिये आना आरम्भ किया। इस कारण अवन्तिकाबाई के साथ मेरा नित्य का सम्बन्ध रहने लगा और मैं उनको अपना गुरु मानने लगी। शुरू में मैं आशंकित थी, क्योंकि मैंने सुना था कि उनका अनुशासन बहुत कठोर है, किन्तु जैसे-जैसे मेरा परिचय

बढ़ता गया, मुझे अनुभव हुआ कि अनुशासन में कठोर होते हुए भी वे प्रेम और आत्मीयता का व्यवहार करती हैं।”

“हिन्द महिला समाज के लिये उन्होंने अपनी देह को अन्त तक खपाया। जब उनको कैंसर हो गया तो महिला-समाज सम्बन्धी उनके कार्यक्रम में बाधा पड़ी। पर वे शय्या पर पड़े-पड़े ‘समाज’ के कार्यों का निरीक्षण करती रहती थीं। उनकी हालत ज्यादा खराब हो जाने पर उन्हें तलगाँव के अस्पताल में ले जाने का विचार किया गया, क्योंकि वहाँ सब प्रकार की चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें थीं। परन्तु वे जाने को तैयार नहीं हुईं। ‘समाज’ में रहते हुए ही मृत्यु की इच्छा उन्होंने प्रकट की। वास्तव में उनकी ध्येय निष्ठा असाधारण थी।”

बम्बई की एक प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्त्री श्रीमती सोफिया वाडिया ने भी अपना अनुभव बतलाते हुए यही कहा था कि “वे स्वयं उत्साही और निश्चयात्मक वृत्ति की महिला थीं। अतः अपने सहकारियों से काम लेने में कठोर थीं, किन्तु उनके न्यायप्रिय और दयालु स्वभाव का परिचय उनके सहयोगियों को सदा ही मिलता रहता था।”

बम्बई के मुख्यमंत्री श्री बाला साहब खेर ने कहा कि “कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उनकी आकृति से ही देखने वाले पर अनुकूल छाप पड़ती है। अवन्तिकाबाई उन्हीं में से एक थीं। “यह कौन है?” यह जानने की सहज इच्छा होती थी। उनकी वृत्ति शुरू से ही राष्ट्रीय थी। वह चम्पारन गई और तभी से सार्वजनिक कार्यों में प्रमुख रूप से भाग लेने लगीं। श्री बबन गोखले ने उनके सत्कार्यों में सदैव उनकी सहायता की। इन दोनों का मुख्य धन्धा देश सेवा ही था।”

समाज और व्यक्ति के उत्थान के लिये इन्हीं गुणों की आवश्यकता होती है। यद्यपि हमारे और यूरोपियन समाज के रहन-सहन तथा आचार-विचारों में बहुत कुछ अन्तर है, तो भी अनुशासन, कर्त्तव्य पालन और समाज-सेवा आदि ऐसे गुण हैं, जिनका महत्त्व सर्वत्र एक समान है और जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राचीन भारत में भी इनकी भावना पूर्ण रूप से मौजूद थी, चाहे उसका बाह्य रूप कुछ भिन्न प्रकार का था। उस समय इस देश में कर्त्तव्य पालन और परोपकार की भावना इतनी प्रबल थी कि अपना प्राण और सर्वस्व त्याग करने से भी लोग पीछे नहीं हटते थे। श्रीमती अवन्तिकाबाई में प्राचीन और नवीन भावनाओं का इस प्रकार मिश्रण हुआ था जिससे उनका व्यक्तित्व बहुत अधिक आकर्षक और कल्याणकारी बन गया था। उन्होंने सब प्रकार के सांसारिक प्रलोभनों और तृष्णाओं को त्याग कर अपना तन-मन-धन समाज

सेवा और परहित साधन में लगा दिया, और इसके लिये अनेक प्रकार के कष्ट सहन किये और हानियाँ भी उठाई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने स्वास्थ्य और प्राणों की भी परवाह न की।

वास्तव में अवन्तिकाबाई का जीवन प्रत्येक भारतीय स्त्री-पुरुष के लिये मार्ग दर्शक है। जो लोग इन बातों को साधुओं और त्यागियों का ही कर्तव्य समझते हैं वे अवन्तिकाबाई के जीवन से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि

किस प्रकार उन्होंने अपने गृहस्थ-जीवन की उपेक्षा न करते हुए समाज-सेवा का इतना अधिक कार्य कर दिखाया। अवन्तिकाबाई के पति बबनराव तो संयोगवश ऐसी स्थिति को प्राप्त हो गये थे कि वे स्वयं समाज द्वारा सेवा किये जाने के अधिकारी थे। पर अपनी उद्योगशीलता और कर्तव्य-परायणता के आधार पर उन्होंने अपने जीवन को बदल डाला और आजन्म समाज की उपयोगी सेवा करते रहे। जीवन को धन्य और सार्थक बनाने का यही मार्ग है।

भारतीय नारियों के लिये आदर्श : राष्ट्रमाता कस्तूरबा

यह उस समय की बात है जब महात्मा गाँधी भारतवासियों पर किये जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका में गोरों की सरकार से जुझ रहे थे। सरकार हिन्दुस्तानियों को पदावनत और दीन-हीन बनाने के लिये नये-नये कानून बना रही थी और गाँधी जी अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह से उसके आक्रमण को व्यर्थ करने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्हीं दिनों सरकारी अधिकारियों ने एक नियम यह बनाया कि भारतवासियों के अपनी धार्मिक पद्धति के अनुसार किये विवाह गैरकानूनी माने जायेंगे और उनकी स्त्रियाँ पत्नी नहीं 'रखैल' के दर्जे की समझी जायेंगी। गाँधी जी तो इसके विरुद्ध सत्याग्रह करने ही वाले थे, पर उन्होंने विचार किया कि इस प्रश्न पर यदि स्त्रियाँ भी सत्याग्रह में भाग लेकर जेल जायें तो ठीक रहेगा। साथ ही वे यह भी जानते थे कि स्त्रियों का जेल जाना खतरे का काम है। इसलिये उन्होंने विचार किया कि सबसे पहले अपनी पत्नी कस्तूरबा को ही इसके लिये तैयार किया जाये। वे जानते थे कि यदि वे बा से जेल जाने को कहेंगे तो वह इन्कार तो नहीं करेगी पर बाद में उसका कहाँ तक निर्वाह कर सकेंगी, इसका निश्चय न था। इसलिये वे ऐसा अवसर खोजने लगे जब सामान्य बातचीत करते हुए इसकी चर्चा कर ली जाये।

उस दिन जब बा "फीनिक्स-आश्रम" वालों के लिये रोटी बेल रही थीं, पास में बैठे गाँधी जी ने कोई अन्य काम करते-करते उनसे कहा—"तुझे नये कानून का पता चला या नहीं?"

बा ने पूछा—"क्या?"

गाँधी जी ने हँसते हुए कहा—"आज तक तू मेरी ब्याही हुई पत्नी थी। अब तू ब्याही पत्नी नहीं रही।"

बा ने भौहें चढ़ाकर पूछा—"ऐसा किसने कह दिया? आप तो रोज-रोज ही नई समस्याएँ खोज निकालते हैं।"

गाँधी जी बोले—"मैं कहों खोज निकालता हूँ? वह जनरल स्मट्स कहता है कि ईसाई लोगों के विवाहों की तरह हमारा विवाह सरकारी अदालत के रजिस्टर में दर्ज नहीं हुआ है इसलिये उसे गैर कानूनी माना जायेगा। इस कानून के अनुसार तू मेरी ब्याही हुई पत्नी नहीं, लेकिन "रखैल स्त्री" मानी जायेगी।"

यह सुनकर बा का चेहरा तमतमा उठा। वे बोलीं—"उसका सिर! उस निष्ठले को ऐसी बातें कहाँ से सूझती हैं?"

गाँधी जी बोले—"लेकिन अब तुम स्त्रियाँ क्या करोगी?"

बा—"आप ही बताइये, हम क्या करें?"

गाँधी जी ने मुस्कराते हुए कहा—"हम पुरुष जिस तरह सरकार से लड़ते हैं वैसे ही तुम स्त्रियाँ भी लड़ो। सच्ची ब्याही हुई पत्नी बनना हो और 'रखैल' न कहलाना हो, और अगर तुम लोगों को अपनी आबरू प्यारी हो, तो हमारी तरह तुमको भी सरकार से लड़ना चाहिये।"

बा—"आप तो जेल में जाते हैं!"

गाँधी जी—"तू भी अपनी आबरू को बचाने के लिये जेल जाने को तैयार हो बा।"

बा—"हाँ मैं जेल जाऊँ! स्त्रियाँ भी कभी जेल जा सकती हैं?"

गाँधी जी—"क्यों, स्त्रियाँ जेल में क्यों नहीं जा सकतीं? पुरुष जो सुख-दुःख भोगें, उन्हें स्त्रियाँ क्यों नहीं भोग सकतीं? राम के पीछे सीता गई थी। हरिश्चन्द्र के पीछे तारा गई थी, और नल के पीछे दमयन्ती गई थी और इन सबने जंगल में अपार दुःख सहन किये।

बा—"वे सब देवताओं जैसे थे। उनके कदमों पर चलने की शक्ति हम में कहाँ है?"

१.१०७ मरकर भी अमर हो गये जो

गौंधी जी ने गम्भीरता के साथ कहा—“इसमें क्या है ? हम भी उनके जैसा आचरण करें तो उनके समान बन सकते हैं, देवता हो सकते हैं । राम के कुल का मैं हूँ और सीता के कुल की तू है । मैं राम बन सकता हूँ तो तू भी सीता बन सकती है । सीता अपने धर्म का पालन करने के लिये राम के पीछे वन में न गई होती और राजमहलों में ही आराम से रहती, तो कोई उसे सीता-माता न कहता । तारामती, हरिश्चन्द्र के सत्य के लिये बिकी न होती तो हरिश्चन्द्र के सत्यव्रत में कमी रह जाती, तब हरिश्चन्द्र को कोई सत्यवादी न कहता और तारामती को कोई सती न कहता । दमयन्ती, नल के साथ जंगल के दुःख भोगने में शामिल न होती तो उसे भी कोई सती नहीं कहता । उसी तरह अगर तुझे अपनी आबरू बचानी हो, मेरी ब्याही हुई स्त्री कहलाना हो, तो तू सरकार से लड़ और जेल जाने के लिये तैयार हो जा ।”

बा थोड़ी देर चुप बैठी रही, फिर बोली—“तो आपको मुझे जेल भेजना है, है न ? अब इतना ही बाकी रहा है ! जाऊँगी, जेल में भी जाऊँगी । लेकिन जेल का खाना मुझे अनुकूल आयेगा ?”

गौंधी जी—“मैं तुझसे नहीं कहता कि तू जेल में जा अपनी आबरू की खातिर जेल जाने का उत्साह तुझमें हो तो जा और जेल का खाना अनुकूल न आये तो वहाँ फलों पर रहना ।”

बा—“जेल में सरकार मुझे फल खाने को देगी ?”

गौंधी जी—फल न दे तब तक तू उपवास करना ।

बा (हँसते हुए)—“ठीक, यह आपने मुझे अच्छा मरने का रास्ता बताया ! मुझे लगता है कि जेल में गई तो जरूर मर जाऊँगी ।”

गौंधी जी इस पर बड़े जोर से हँस पड़े और कहा—“हाँ, हाँ मैं भी यही चाहता हूँ, तू जेल में जाकर मरेगी, तो मैं जगदम्बा की तरह तुझे पूजूँगा ।”

बा—“अच्छा तब तो मैं जेल जाने को तैयार हूँ ।”

गौंधी जी बा का निर्णय सुनकर बड़े प्रसन्न हुए । बाद में बा किसी काम से बाहर गई तो गौंधी जी ने वहाँ उपस्थित एक अन्य सज्जन से कहा—

“बा की खूबी यही है कि मन से या बेमन से मेरी इच्छा का अनुसरण करती है ।”

आरम्भिक जीवन

कस्तूरबा का जन्म पोरबन्दर (सौराष्ट्र) के उसी मोहल्ले में हुआ था जिसमें गौंधी जी का घर था । वे आयु में गौंधी जी से छः महीना बड़ी थीं, पर इन दोनों का विवाह सम्बन्ध

(सगाई) उस समय की परम्परा के अनुसार सात वर्ष की आयु में ही निश्चित हो गया था और तेरह वर्ष की आयु में पाणिग्रहण संस्कार होकर वे पति-गृह में आ गईं । उस समय उनको अक्षर ज्ञान भी नहीं था । स्वयं गौंधी जी ने ही रात्रि के समय एकान्त में थोड़ा-थोड़ा समय देकर उन्हें इस योग्य बनाया कि वे साधारण चिट्ठी-पत्री पढ़ सकें और लिख सकें । इसके पश्चात् सार्वजनिक जीवन में रहने और देश के बड़े-बड़े नेताओं के सम्पर्क में आने से उनका ज्ञान काफी बढ़ गया, पर पुस्तकीय शिक्षा की दृष्टि से उनकी स्थिति अन्त तक सामान्य ही रही ।

इतनी छोटी अवस्था में विवाह हो जाने से गौंधी जी और बा का दाम्पत्य जीवन भी धीरे-धीरे और अनेक प्रकार के उतार-चढ़ावों में होकर विकसित हुआ । आरम्भ में तो वे इसके महत्त्व और विशेषताओं से सर्वथा अनजान ही थे । उस समय की स्थिति की चर्चा करते हुए गौंधी जी ने अपनी ‘आत्मकथा’ में लिखा है—

“मुझे याद नहीं पड़ता कि सगाई के समय मुझसे कुछ कहा गया था । इसी प्रकार ब्याह के वक्त भी कुछ पूछा नहीं गया । सिर्फ तैयारियों से ही पता चला कि ब्याह होने वाला है । उस समय अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनेंगे, बाजे बजेंगे, जलूस निकलेंगे, अच्छा-अच्छा खाने को मिलेगा, एक नई लड़की के साथ हँसी-खेल करेंगे, ऐसी इच्छाओं के सिवा और कोई भाव मेरे मन में रहा हो ऐसा याद नहीं आता । ब्याह के समय मण्डप में बैठे, फेरे फिरे, “कंसार” खाया-खिलाया और वर-वधू दोनों साथ रहने लगे । दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे संसार-सागर में कूद पड़े । कुछ ऐसा ख्याल आता है कि हम दोनों एक-दूसरे से डरते थे, एक-दूसरे से शरमाते तो थे ही । बातें किस तरह करना, क्या करना, सो मैं क्या जानूँ ? धीरे-धीरे एक-दूसरे को पहचानने लगे, बोलने लगे ।”

“मुझे अपनी स्त्री को आदर्श स्त्री बनाना था । वह साफ बने, साफ रहे, मैं जो सीखूँ वह भी उसे सीखे, हम एक-दूसरे में ओत-प्रोत रहें, यह मेरी भावना थी । मुझे याद नहीं पड़ता कि कस्तूरबाई की भी ऐसी भावना थी । वे निरक्षर थीं, स्वभाव की सीधी, स्वतन्त्र, मेहनती और मेरे साथ कम बोलने वाली । उनको अपने अज्ञान से असन्तोष न था । मैंने अपने बचपन में उनको कभी यह इच्छा करते नहीं पाया कि जिस तरह मैं पढ़ता हूँ, उस तरह वे खुद भी पढ़ें तो अच्छा हो । उन्हें पढ़ाने की मेरी बड़ी इच्छा थी लेकिन उसमें दो कठिनाइयाँ थीं । एक तो बा की पढ़ने की भूख खुली नहीं थी, दूसरे बा अनुकूल हो

जातीं तो भी उस जमाने में भरे-पूरे परिवार में इस इच्छा को पूरा करना आसान नहीं था ।”

दक्षिण अफ्रीका में

पर यह स्थिति थोड़े ही दिन रही । इसके कुछ वर्ष बाद जब कस्तूरबा, गाँधीजी के साथ द. अफ्रीका गईं तो उनकी दुनिया ही बदल गई । कहाँ एक कट्टर वैष्णव सम्प्रदाय के नियमों का पालन करने वाली, अधिकांश विषयों में रूढ़ियों और परम्परा के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाली भारतीय नारी और कहाँ यूरोपियन सभ्यता और वहाँ का बिल्कुल भिन्न प्रकार का रहन-सहन । यद्यपि द. अफ्रीका में भारतवासियों और विशेषतः गुजरातियों की संख्या बहुत अधिक थी, पर विदेशी वातावरण में रहने और वहाँ के बड़े लोगों का अनुकरण करने से उनके रहन-सहन में बहुत अन्तर आ गया था । सबसे पहली बात तो वहाँ की वेश-भूषा की ही थी । हिन्दुस्तान में जिस प्रकार स्त्रियाँ प्रायः नंगे पैर चलती हैं, यह वहाँ की सभ्यता के विरुद्ध है । दूसरी बात यह है कि ठण्ड ज्यादा पड़ने से वहाँ नंगे पैर रहना भी कठिन है । इसलिये गाँधी जी ने शुरू से ही बा को जूता और मोजा पहनने को कहा । यद्यपि इसमें कोई दोष की बात नहीं थी, पर फिर भी बा बड़ी कठिनाई से इसके लिये तैयार हुई ।

बा की परीक्षा

दक्षिण अफ्रीका में जिस मकान में गाँधी जी रहते थे वह भारतीय घरों की तरह नहीं था । यूरोपियन लोग कमरों में नालियाँ नहीं रखते । इसलिये वे पेशाब के लिये एक बर्तन रखते हैं । जिसे कोई नौकर या वे स्वयं उठाकर फेंक देते हैं । गाँधी जी के घर में उनके साथ ही उनके मुहर्रिर (क्लर्क) भी रहा करते थे । उनमें से कुछ तो अपने पेशाब का बर्तन स्वयं उठाकर साफ कर लाते थे, और जो ऐसा नहीं करते थे उनके बर्तन गाँधी जी या बा को उठाकर साफ करने पड़ते थे आरम्भ में तो बा को यह बुरा लगता था पर धीरे-धीरे आदत पड़ गई । पर कुछ समय बाद जब एक ईसाई क्लर्क आया, जिसका बाप सबसे नीची जाति का था, तो बा को उसका बर्तन साफ करना असह्य जान पड़ने लगा । पर वे स्वयं खड़ी रहकर यह भी नहीं देख सकती थीं कि गाँधी जी उस बर्तन को उठाकर ले जायें । बा उस बर्तन को उठाकर तो ले गईं पर उनकी आँखों से आँसू बहते जाते थे और वे लाल-लाल आँखों से गाँधी जी की ओर देखती जाती थीं । उनकी यह विरक्ततापूर्ण मनोवृत्ति गाँधी जी को बहुत खटकी । वे एक प्रेमी पति होने के साथ ही सिद्धान्तों के मामले में सदा से कठोर थे ।

इसलिये तुरन्त चिल्लाकर कहने लगे—“मेरे घर में यह बखेड़ा नहीं चलेगा ?”

कस्तूरबा भी रोष से भर कर बोल उठी—“तो अपना घर अपने पास रखो—मैं चली ।”

इस पर गाँधी जी परिस्थिति को भूलकर एकदम बा का हाथ पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गये और उनको बाहर निकालने लगे । तब वह कहने लगीं—“तुम्हें तो शरम नहीं, पर मुझे तो है । मैं बाहर निकलकर कहाँ जाऊँगी ? यहाँ मेरे माँ-बाप भी नहीं जो उनके यहाँ चली जाऊँ । मैं औरत ठहरी इसलिये तुम्हारी चपत खानी ही पड़ेगी । अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द कर दो । कोई देखेगा तो दोनों की फजीहत होगी ।”

इस तरह बड़े संघर्ष के साथ बा अपने को कुछ अंशों में विदेशी वातावरण के अनुकूल बना पाई । इसका आशय यह कि जहाँ तक बाहरी लोगों से सम्बन्ध पड़ता था, वहाँ तक वे इस प्रकार का व्यवहार करने लगीं जिससे कोई उनको सभ्यता के नियमों से अनजान या मूर्ख न समझे । पर निजी व्यवहार में और आन्तरिक भावनाओं में वे तब भी पक्की हिन्दू ही थीं । खानपान के विषय में भी वे बड़ी कट्टर थीं और कभी कोई ऐसी चीज ग्रहण करने को तैयार नहीं होती थीं जिसमें अण्डा या माँस आदि की मिलावट का सन्देह हो । इस सम्बन्ध में एक बार बड़ी गम्भीर घटना हो गई ।

कस्तूरबा को खूनी बवासीर की शिकायत पैदा हो गई थी । जिससे प्रायः रक्तस्राव होता था । गाँधी जी के एक डॉक्टर मित्र ने उसको ऑपरेशन करके ठीक करने को कहा, बा बड़ी कठिनाई से इसके लिये तैयार हुई । वह बहुत कमजोर हो गई थीं, इसलिये उनको ऑपरेशन के बाद कुछ दिन डॉक्टर के घर पर ही रखने का निश्चय किया गया । डॉक्टर का घर डरबन में था और गाँधी जी उस समय फीनिक्स आश्रम में रहते थे । ऑपरेशन के बाद डॉक्टर और उसकी पत्नी द्वारा बहुत सेवा किये जाने पर भी बा की तबियत बराबर गिरती गई । एक दिन कमजोरी के कारण बेहोशी भी आ गई । इसलिये ताकत लाने को डाक्टर ने माँस का शोरबा देना आवश्यक समझा पर इसके लिये गाँधी जी से पूछना आवश्यक था । उसने टेलोफोन पर उनको अपना विचार बतलाया ।

गाँधी जी—मैं इसकी इजाजत नहीं दे सकता । पर कस्तूर बाई इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र है । अगर वह स्वीकार करे तो आप अवश्य दे सकते हैं ।

डॉक्टर—रोगी से इस तरह की बात मैं पूछ नहीं सकता । आपको यहाँ आ जाना चाहिये । अगर आप मैं

१.१०६ मरकर भी अमर हो गये जो

जो चाहूँ वह खिलाने की इजाजत नहीं देते तो मैं आपकी स्त्री के लिये जिम्मेदार नहीं हूँ ।

गाँधी जी उसी समय डरबन के लिये चल दिये । वहाँ पहुँचने पर डॉक्टर ने बतलाया—“मैंने तो आपको शोरबा पिलाकर ही आपको फोन किया था ।”

गाँधी जी—डॉक्टर, मैं इसको दगा समझता हूँ ।

डॉक्टर—इलाज करते समय मैं दगा-वगा कुछ नहीं जानता । हम डॉक्टर लोग ऐसे समय में रोगी को और उसके रिश्तेदारों को धोखा देने में पुण्य समझते हैं । हमारा धर्म तो किसी तरह भी रोगी को बचाना है ।

गाँधी जी—खैर जो हुआ सो हुआ, पर मैं जान-बूझकर अपनी पत्नी को उसकी इच्छा के बिना माँस नहीं लेने दूँगा । इससे उसकी मृत्यु हो जाये तो मैं उसे सहने को भी तैयार हूँ ।

डॉक्टर—आपकी फिलॉसफी मेरे घर बिल्कुल नहीं चलेगी । जब तक वह मेरे यहाँ है मैं उसको माँस या जो कुछ मुनासिब होगा जरूर दूँगा । अगर यह आपको स्वीकार न हो तो आप पत्नी को ले जाइये । अपने घर में जान-बूझकर मैं उनकी मौत नहीं होने दूँगा ।

गाँधी जी फिर कस्तूरबा के पास गये और सब बातें संक्षेप में समझा दीं । वह अत्यन्त कमजोर थी पर उसने दृढ़तापूर्वक कहा—मैं माँस का शोरबा नहीं लूँगी । मानुस-देह बार-बार नहीं मिलती । भले ही मैं आपकी गोद में मर जाऊँ, पर अपनी देह को भ्रष्ट नहीं करूँगी ।”

जब मैंने यह बात डॉक्टर को बतलाई तो वह कहने लगा—“तुम तो बड़े निष्ठुर पति मालूम होते हो । ऐसी बीमारी में उस बेचारी से ऐसी बात कहते तुम्हें शर्म नहीं आई । मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हारी पत्नी यहाँ से ले जाने लायक नहीं है । रास्ते में उसका प्राण छूट जाये तो आश्चर्य नहीं । इतने पर भी तुम हठवश नहीं मानोगे, तो तुम्हारी तुम जानो । अगर मैं उसे शोरबा नहीं दे सकता तो उसे अपने घर में रखने की जोखिम भी नहीं उठा सकता ।”

पर कस्तूरबा बराबर अपनी बात पर दृढ़ रही । गाँधी जी ने उसे उठाया तो देखा कि उस हड्डियों के ढाँचे में कुछ भी वजन नहीं रह गया है । गाँधी जी यह देखकर घबड़ाने लगे, पर कस्तूरबा ने उन्हें हिम्मत बैँधाते हुए कहा—“मुझे कुछ नहीं होगा, आप चिन्ता न करें ।” अन्त में वह लम्बी यात्रा तय करके फीनिक्स पहुँच गई और गाँधी जी के प्राकृतिक उपचार और सेवा-सुश्रूषा से स्वस्थ हो गई ।

बा की त्याग वृत्ति

खान-पान और फैशन की दृष्टि से तो बा का जीवन आरम्भ से ही बहुत सादा था, अपरिग्रह के विषय में उसको गाँधी जी का दबाव सहन करना पड़ा । सन् १९०० में जब वे द. अफ्रीका से वापस आने लगे तो नेटाल के भारतवासियों ने उनकी विदाई के उपलक्ष्य में बहुत बड़ा समारोह किया और उनको सोने, चाँदी तथा जवाहरात के बहुत से पदार्थ भेंट किये । उसमें ५० गिन्नियों से बना एक हार कस्तूरबा के लिये था । इन भेंटों को पाकर गाँधी जी बड़ी चिन्ता में पड़ गये और उस रात उनको जरा भी नींद नहीं आई । हजारों रुपये के मूल्य के उपहारों को छोड़ देना कठिन जान पड़ता था, पर उनको रखना उससे भी कठिन लगता था । अन्त में वे इसी निर्णय पर पहुँचे कि अपनी सेवा का इस प्रकार का बदला लेना किसी प्रकार उचित नहीं । इससे कभी दूसरों को तथा अपने स्त्री-बच्चों को भी अच्छी प्रेरणा नहीं मिल सकती । इसलिये उचित यही है कि उनको कुछ ट्रस्टियों के सुपुर्द करके सार्वजनिक कार्यों में खर्च कर दिया जाये ।

गाँधी जी ने तो अपने दार्शनिक विचारों के अनुसार थोड़ी देर में यह निर्णय कर लिया, पर कस्तूरबा को इसके लिये तैयार करना सहज न था । वह कहने लगी—“चाहे तुमको जरूरत न हो और मुझे भी तुम गहने न पहनने दो, पर मेरी बहुओं को तो उनकी जरूरत होगी । इतने प्रेम से दी गई चीजें लौटाई नहीं जातीं ।”

गाँधी जी ने समझाने के ढंग से धीरे से कहा—लड़कों की शादी तो होने दो । हमें कौन बचपन में इन्हें ब्याहना है । बड़े होने पर वे जो चाहें सो करें, और हमें कौन गहनों की शौकीन बहुयें ढूँढनी हैं । फिर भी कुछ बनवाना ही पड़ा, तो मैं तो हूँ ही न ?

बा—“तुम्हें तो मैं जानती हूँ । तुम वही न हो जिसने मेरे गहने भी छीन लिये ? तुमने जब मुझे सुख से नहीं पहनने दिया तो तुम मेरी बहुओं के लिये क्या लाओगे ? बच्चों को तो तुम अभी से बैरागी बनाना चाहते हो और मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?”

गाँधी जी—“लेकिन यह हार तुमको तुम्हारी सेवा के लिये मिला है या मेरी सेवा के कारण ?”

बा—कुछ भी हो, तुम्हारी सेवा, मेरी भी सेवा हुई । मुझे रात-दिन मजदूरी कराई, सो क्या सेवा नहीं माना जायेगा ? मुझे रुला-रुला कर हर किसी को घर में रखा और चाकरी कराई, उसका कोई हिसाब नहीं ?

उस समय तो गाँधी जी के दबाव से ही बा उन गहनों को वापस देने को राजी हुई, पर बाद में उन्होंने इसका

औचित्य समझ लिया कि सार्वजनिक सेवकों को निश्चय ही निस्पृह होना चाहिये, अन्यथा उनकी सेवा का मूल्य बहुत घट जाता है। आजकल तो हमारे देश में इस प्रकार के लोभ-लालच की हद हो गई है। लोग काम तो करेंगे छाटांक भर पर उनका बदला चाहेंगे सेर भर। इससे सार्वजनिक जीवन की और विशेषकर राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने वालों की मिट्टी खराब हो रही है और जनता की दृष्टि में वे सम्मान के बजाय उपेक्षा और निन्दा के पात्र हो रहे हैं। हम अपने पाठकों को बड़ी दृढ़ता के साथ यह सम्मति देंगे कि चाहे वे सार्वजनिक सेवा और जनकल्याण के कार्य अधिक न करें, उनके लिये अपनी कम से कम हानि सहन करें। पर जो कुछ करें वह निस्वार्थ भाव से अपना धर्म-कर्तव्य समझ कर करें। ऐसा करने से उनका वह थोड़ा-सा सेवाकार्य भी महान बन जायेगा। सेवाकार्य की महत्ता सब हमारी मानसिक भावना में है। अगर हम स्वार्थ की भावना रखते हुए कोई “परमार्थ-कार्य” करते हैं तो वह कभी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकेगा।

पहली स्त्री सत्याग्रही

जैसा आरम्भ में लिखा जा चुका है जब दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों के विवाह को गैरकानूनी बनाकर उनकी स्त्रियों को पत्नी के बजाय “रखैल” कहने का निश्चय किया तो गाँधी जी ने उसके विरुद्ध सत्याग्रह किया और उसमें स्त्रियों को शामिल करना उन्होंने आवश्यक समझा। पर यह एक खतरनाक काम था। जेलों का वातावरण दूषित होता है और वहाँ का व्यवहार भी अपमानजनक जैसा ही होता है, इसलिये घर के भीतर रहने वाली और तरह-तरह के सुआछूत और शुद्ध-अशुद्ध के जंजालों में फँसी हिन्दू स्त्रियाँ यदि जेल जीवन से घबड़ा कर दो-चार दिन में ही माफ़ी माँग कर चली आवें तो इसमें समस्त सत्याग्रह आन्दोलन की बड़ी बदनामी और हानि थी। यद्यपि गाँधी जी ने बातों ही बातों में इसकी चर्चा बा से कर दी पर उन्होंने यह स्पष्ट आग्रह कभी नहीं किया कि वे सत्याग्रह करके अवश्य जेल जायें। इसके बजाय उन्होंने अन्य बहनों से इसके लिये पूछा। उन सबने अपनी रजामन्दी बतलाई और कहा कि चाहे जितना भी कष्ट सहन करना पड़े हम लोग जेल की सजा पूरी करके आयेंगी। बा ने जब ये सब बातें सुनीं तो उनको कुछ बुरा लगा और उन्होंने गाँधी जी से कहा—“मुझसे आप जेल जाने को क्यों नहीं कहते? मुझमें ऐसी कौन-सी कमी है जिससे मैं जेल में न जा सकूँ?”

गाँधी जी ने उत्तर दिया—“मैं न तो तुमको कभी दुःखी कर सकता हूँ, न तुम्हारे ऊपर अविश्वास कर सकता

हूँ। तुम्हारे जेल जाने में तो मुझे बड़ा संतोष होगा, पर यदि मेरे मन में यह ख्याल बना रहे कि तुम मेरी आज्ञा-पालन करके जेल गई हो यह तो मुझे बुरा जान पड़ेगा। ऐसे काम सबको अपनी हिम्मत से ही करने चाहिये। तुम जेल के कष्टों से ऊब जाओ तो यह मुझे कैसे अच्छा लगेगा?”

बा—“मैं हार मानकर जेल से बाहर चली आऊँ, तो मुझे अपने पास मत रहने देना। मेरे बच्चे तक सह सकें, आप सब सहन करते रहें और मैं अकेली ही उसे न सह सकूँ ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा आप क्यों सोचते हैं? मुझे इस सत्याग्रह की लड़ाई में भाग लेना ही होगा।”

जेल में जाकर बा ने बहुत कष्ट सहन किये वहाँ का अशुद्ध ढंग से बनाया और गन्दे बर्तनों में रखा भोजन तो वे खा ही कैसे सकती थीं। इसलिये जेल में पहुँच कर उन्हें भूखा ही रहना पड़ा। पाँच दिन के बाद सरकार झुकी और उनको फल देने की आज्ञा दी। पर केवल तीन केला, चार प्रून, दो टमाटर और दो नीबू मिलते थे। इस प्रकार तीन महीना तक जेल के भीतर बा को आधा पेट भोजन पर ही रहना पड़ा। इसलिये जेल की सजा पूरी करके जब वे बाहर आईं तो हडिडियों का ढाँचा मात्र रह गई थीं। उस समय सब कोई उनको देखकर शोकाकुल हो गये। अफ्रीका के गोरे जैसे विदेशी और विधर्मी लोगों की जेल में एक धार्मिक विचारों की हिन्दू स्त्री का रहना वास्तव में बड़ा कठिन था, पर बा ने साहस करके सब संकटों को सहन कर लिया, यह एक ऐसा आदर्श था जिससे हमारी सब बहनें लाभ उठा सकती हैं।

बा की परिश्रमशीलता

बा का जीवन आरम्भ से ही परिश्रम करने का रहा था। गाँधी जी सदा से ही बड़ी बेख-रेख और जाँच-पड़ताल करने वाले पति थे। यह कस्तूरबा की निरालस्यता और सेवा-परायणता का ही परिणाम था कि वह उनकी पसन्द का कार्य करके उन्हें सन्तुष्ट रखती थीं। इसलिये वे रात को चाहे जल्दी सो गईं हों या देर से, तीन बजे प्रार्थना होने के समय अवश्य जग जाती थीं। गाँधी जी तो प्रार्थना समाप्त हो जाने पर फिर थोड़ी देर के लिये सो जाते थे, पर बा उसी समय से उनके स्नान के लिये पानी गरम करने और जलपात्र के लिये सफ़ाई या वैसी ही कोई चीज तैयार करने में लग जाती थीं। वैसे अन्य अनेक व्यक्ति गाँधी जी की किसी प्रकार की भी सेवा करने को इच्छुक रहते थे। पर बा जानती थी कि गाँधी जी जिस प्रकार प्रत्येक विषय में गहरी छानबीन करते रहते हैं उसे देखते हुए अन्य लोगों के कार्य में कोई त्रुटि निकल आना

१.१११ मरकर भी अमर हो गये जो

बहुत सम्भव है। इसलिये अगर किसी के आग्रह करने पर बा दूसरों को कोई काम करने का मौका दे भी देती थीं, तो भी बराबर यह निरीक्षण करती रहतीं कि उसमें कोई कमी तो नहीं रह गई। खासकर बर्तनों की सफाई की तरफ उनका बहुत ध्यान रहता था। जब वे देखतीं कि किसी लड़की के मले हुए बर्तनों में कुछ कमी रह गई है तो स्वयं उनको पूरी तरह साफ कर डालती थीं। वे प्रातःकाल से ही दिन भर किस प्रकार व्यस्त रहती थीं, इसका वर्णन करते हुए एक आश्रमवासी ने लिखा है—

बापू सवेरे लगभग ७ बजे घूमने निकलते उस समय बा अपने स्नान आदि कामों से निपट लेतीं और पूजा पाठ पर बैठ जातीं। लगभग एक घण्टा गीता और तुलसी-रामायण का पाठ करतीं। इसके बाद वे रसोईघर में पहुँच जातीं और वहाँ सब ठीक ढंग से चल रहा है या नहीं इसका पता एक निगाह में ही लगा लेतीं। कोई खाद्य सामग्री खुली पड़ी हो, शाक या फल बिगड़ने की हालत में हों तो वह तुरन्त उनको ठीक करने लगतीं। वे बहुत स्पष्टवक्ता थीं, इसलिये जिसको जो कहना होता था, साफ-साफ कह देतीं। मुँह से हॉ-हॉ कहने और अंगीकृत काम को भली-भाँति न करने वालों से बा बड़ी नाराज रहा करतीं। इसलिये नये आये हुए लोगों को कभी-कभी बा की बात बुरी भी लग जाती। वे प्रत्येक वस्तु को ठीक जगह सफाई से रखना पसन्द करती थीं और जो कुछ गिरा-पड़ा देखतीं उसे अपने हाथों से ठीक करने लग जातीं। अगर कभी किसी के नाराज होने की चर्चा गाँधी जी के पास पहुँचती तो वे कहते—“अगर बा के पास थोड़ा-बहुत कड़वा नीम है तो मीठी मिसरी तो बहुत ज्यादा है।”

“गाँधी जी का भोजन बा स्वयं ही तैयार करती थीं। अगर कोई और बनाने लगता तो पास ही खड़ी हुई देखती रहतीं कि हर एक चीज ठीक बन रही है या नहीं, वे भोजन बनाने में बहुत निपुण थीं और गाँधी जी की रुचि के अनुकूल खाद्य पदार्थ बनाने का पूरा ध्यान रखतीं। भोजन की घण्टी बजने पर वे सब मेहमानों को भोजन परोस कर स्वयं भी गाँधी जी के पास ही खाने बैठ जातीं। उस समय भी उनकी एक आँख तो बापू की तरफ ही रहती। एक मक्खी को भी आते देखतीं तो उनका बाँया हाथ तुरन्त पंखे को सँभाल लेता। भोजन समाप्त होने पर वे बापू के साथ उनके कमरे में आतीं। वे अखबार पढ़ने लगते तो बा उनके तलवों में मालिश करने लगतीं। जब उनकी आँखें लग जातीं तो वह भी उठकर अपने कमरे में आतीं और १५-२० मिनट के लिये लेट जातीं। उसके बाद उठकर अखबार पढ़ने लग जातीं।”

यद्यपि बा ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं तो भी अखबारों के जरिये देश की हालत का पता रखती थीं। वह “हरिजन बन्धु” को इसलिये पूरा पढ़ डालतीं कि विभिन्न कार्यक्रमों के विषय में गाँधी जी के विचारों का पता चलता रहे। अखबारों में दुनिया की मुसीबतों और तकलीफों का हाल पढ़कर बा को बहुत दुःख होता। महायुद्ध का हाल पढ़कर वे कहने लगतीं “क्या यह लड़ाई दुनिया को तबाह करके ही बन्द होगी?” बंगाल के भीषण अकाल की खबरें पढ़कर बा ने “आगाखॉ महल” के जेलखाने से एक पत्र में लिखा—

“बंगाल के समाचार पढ़कर तो दिल फटता है। वहाँ तो आसमान ही फट पड़ा है न जाने ईश्वर क्या करने वाला है।”

पढ़ने की हार्दिक आकांक्षा

बचपन में तो बा को किसी ने पढ़ाया नहीं पर बड़ी उम्र में वातावरण बदल जाने पर उनको पढ़ने का शौक हो गया था। रोज एक-आध घण्टा वे किसी न किसी के पास कुछ न कुछ पढ़ा ही करती थीं। राष्ट्रभाषा होने के ख्याल से हिन्दी का अभ्यास वे प्रायः किया करती थीं। कभी किसी की मदद से तुलसी रामायण पढ़तीं और कभी गीता का अभ्यास करतीं। अपनी आयु के अन्तिम वर्षों में आगाखॉ महल में कैद रहते हुए वे गाँधी जी से गीता के श्लोकों का शुद्ध उच्चारण करना सीखती थीं। इन दोनों ७५-७५ वर्ष की आयु के “शिक्षक और विद्यार्थी” का दृश्य देखते ही बनता था। बा जो कुछ सीखना शुरू करती थीं, बड़ी श्रद्धा के साथ सीखतीं और इतनी उम्र में जाने पर भी एक विनम्र विद्यार्थी की तरह पढ़ने को बैठतीं। उन्हें कुछ लिखने को दिया जाता, तो उसे भी वे छोटे विद्यार्थी जिस प्रकार अपना सबक तैयार करके लाते हैं। उसी तरह दूसरे दिन लिखकर लातीं। लिखने में कितनी ही अधिक गलतियाँ क्यों न हुई हों सुधार कर दुबारा लिखने में वे कभी उकताती न थीं।

बा के अंग्रेजी सीखने का वर्णन भी बड़ा मनोरंजक है। यह तो कहा ही जा चुका है कि आरम्भ में वे कुछ पढ़ी-लिखी न थीं। पर जब गाँधी जी के साथ दक्षिण अफ्रीका गई तो वहाँ उनको लाचार होकर अंग्रेजी ही सुनना और बोलना पड़ा। उन्होंने दूसरों से सुनकर कुछ शब्द याद कर लिये थे और उन्हीं को बोलकर अपना भाव प्रकट कर देती थीं। कुछ समय बाद गाँधी जी के सहकारी मि. पोलक की पत्नी भी गाँधी जी के द. अफ्रीका स्थित “फ्रीनिक्स-आश्रम” में रहने लगीं। उनकी संगत में रहने से उनको बोलने का इतना अभ्यास हो गया जिससे भारतवर्ष में वापस आने पर गाँधी जी से मिलने को आने वाले विदेशी

मेहमानों से सामान्य बातचीत कर लेती थीं। सन् १९३० में जब उनको सत्याग्रह में जेल का दण्ड दिया गया तो वहाँ उन्होंने अंग्रेजी लिखने और सीखने का भी प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में सौ. लाभु बहन ने जो उनके साथ जेल में थीं, एक संस्मरण में लिखा है—

“बा को पता चला कि मैं अंग्रेजी जानती हूँ, तो उन्होंने मुझसे अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया। इतनी बड़ी उमर में, इतने बड़े पद को पहुँचने के बाद भी मेरे पास बैठकर अंग्रेजी सीखने में उनको न तो हीनता मालूम हुई, न शर्म। उन्हें तो एक ही धुन लगी थी कि स्वयं बापू का पता अंग्रेजी में लिख सकें। “ए-बी-सी-डी” पर लगातार कई-कई दिन तक मेहनत करने पर भी वे कभी उकतायी नहीं। एक ही नाम को २०-२५ बार लिखते हुए वे कभी थकी नहीं, और न जल्दी-जल्दी नये-नये शब्दों या वाक्यों को सीखने की उन्होंने कभी इच्छा की। वे कहा करतीं— “अंग्रेजी आ जाये तो बापू को जो पत्र लिखती हूँ, उसका पता तो किसी से न लिखवाना पड़े और उनके पास जो डेर की डेर डाक आती है उसमें से मेरा पत्र खुद ही पहचाना जा सके न!”

अंग्रेजी पढ़ी हुई न होने पर भी बा कभी-कभी बड़ी-बड़ी मार्मिक बात बोल देती थीं। सन् १९२२ से १९२४ तक जब गाँधी जी यरवदा जेल में थे तो उन्होंने किसी कैदी की खुराक के सम्बन्ध में कुछ माँगें पेश कीं, पर जब सुपरिन्टेण्डेण्ट ने उनको नामंजूर कर दिया तो गाँधी जी को बुरा लगा और उन्होंने केवल दूध पर ही रहने का निश्चय किया। इस तरह चार सप्ताह बीत गये और उनका वजन १०४ से घटकर ६० पौण्ड रह गया। जब बा के साथ परिवार के कुछ लोग उनसे मिलने गये और यह सब हाल मालूम हुआ तो उन्होंने आग्रह किया कि वे इस प्रयोग को छोड़कर फल लेने लें।

यह देखकर सुपरिन्टेण्डेण्ट ने बा से कहा—“मि. गाँधी यह जो सब करते हैं, उसमें मेरा कोई कसूर नहीं है।”

बा ने जवाब दिया—“यस, माई नो माई हर्बैण्ड, ही आलवेज मिसचीफ।” अर्थात् “ठीक है, मैं अपने पति को पहचानती हूँ। उन्हें रोच कुछ न कुछ शरारत ही सूझती है।”

यद्यपि बा ने “मिसचीफ” (शरारत) शब्द का प्रयोग अन्य कोई शब्द न आने से ही किया था, पर यदि गहराई से देखा जाये तो वह गाँधी जी के चरित्र का बिल्कुल सही चित्रण था। उनका आशय यही था कि गाँधी जी कभी चुप बैठने वाले नहीं हैं, न वे कभी खुद पैर से बैठते हैं

और न दूसरे को बैठने देते हैं। ऐसे व्यक्ति को यदि प्यार में “शरारती” कह दिया जाये तो कोई दोष नहीं।

बा के इस उदाहरण से हमारी अन्य महिलायें बहुत प्रेरणा ले सकती हैं। यहाँ कुछ ही अधिक उमर हो जाने पर स्त्रियाँ कहने लगती हैं—“अब गृहस्थी के संज्ञक में पढ़ना-लिखना कैसे सम्भव हो सकता है?” वे दिन में कई घंटे व्यर्थ की बातों में खर्च कर देती हैं पर केवल पढ़ना ही उनको पहाड़ नजर आता है। वास्तव में यह उनकी श्रद्धा और धैर्य की कमी ही होती है। जिससे वे शिक्षा जैसी जीवन की कायापलट करने वाली चीज से वंचित रह जाती हैं। बा के ऊपर गाँधी जी के रहन-सहन की व्यवस्था और आश्रम के कितने ही कार्यों का पर्याप्त भार था, तो भी वे पढ़ने-लिखने का कुछ समय नियमित रूप से निकाल ही लेती थीं। इसका यह परिणाम हुआ कि वे देश और विदेशों के माननीय पुरुषों से बात-चीत करने और महात्मा गाँधी जैसे महामानव को सहयोग देने योग्य बन गईं। अपने गुणों के कारण ही गाँधी जी के साथ उन्होंने अपना भी नाम अमर कर लिया। निश्चय ही उनका उदाहरण भारतीय नारियों के लिये अनुकरणीय है।

सेवा का अद्भुत आदर्श

पढ़ने के अतिरिक्त दोपहर में ही सूत कातने का कार्यक्रम पूरा किया जाता था। वे प्रतिदिन काफी तादाद में बारीक सूत कातती थीं। चार बचे से फिर रसोई का काम शुरू हो जाता और ५ बजे वे गाँधी जी को खाना खिला देती थीं। वे स्वयं बहुत वर्षों से एकबार ही भोजन करती थीं। शाम को केवल थोड़ी-सी कॉफी पीती थीं। अन्तिम चार वर्षों में कॉफी भी छोड़ दी थी। तब वे दूध में तुलसी की कुछ पत्तियाँ और काली मिर्च उबाल कर उसी को पी लेती थीं।

शाम को गाँधी जी जब घूमने जाते तो बा आश्रम में कोई बीमार होता तो उसके पास जाकर बैठतीं और तबियत का हाल मालूम करतीं फिर अन्य महिलाओं को लेकर स्वयं भी घूमने को जातीं और जहाँ गाँधी जी वापस आते हुए मिल जाते वहीं से उनके साथ लौट आतीं।

संध्याकाल की प्रार्थना में बा सदैव उपास्थित रहती थीं और दूसरे लोगों के साथ रामायण का पाठ भी करती थीं। प्रार्थना समाप्त होने पर सब महिलाओं से थोड़ी देर बातें करतीं और फिर गाँधी जी के और अपने सोने की तैयारी करने में लग जातीं। सोने के समय गाँधी जी के सिर में तेल मलने का काम तो बा जीवन में अन्तिम समय तक निवर्तित रूप से करती रहीं। सुबह चार बजे फिर उठके आगामी दिन के कार्यों में लग जाती, यही उनकी

१.११३ मरकर भी अमर हो गये जो

नियमित दिनचर्या थी। यद्यपि अपने यहाँ करोड़ों स्त्रियाँ ऐसी हैं जिनको अपनी घर गृहस्थी में इससे अधिक परिश्रम करना पड़ता है, पर बा इस कार्य को जिस प्रकार श्रद्धा और कर्तव्य भावना से करती थीं, उसने उनकी सेवा को एक पवित्र पूजा या उपासना का रूप दे दिया था। इस सम्बन्ध में बा की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए मीरा बहिन (मिस स्लेड) ने लिखा है—

“मैंने भी कई सालों तक बापू की सेवा-चाकरी की है। इस बीच में मुझे बा के अद्भुत गुणों का दर्शन हुआ। प्रायः ऐसा होता कि बापू की निजी जरूरतों की खबरदारी रखने का काम सिर्फ हम दोनों पर आ पड़ता। बापू के तूफानी दौरों से तो बहुत-सी अड़चनें और कठिनाइयाँ रहतीं, पर बा अचूक नियमितता से, बिना थके, इस काम को बड़ी खूबी के साथ किया करतीं। बापू के लिये भोजन बनाने और उनकी मालिश करने का काम तो वे अपने ही हाथ में रखतीं। उसमें जहाँ-तहाँ थोड़ी मदद मुझसे भी ले लेतीं। कपड़े धोने और सामान बाँधने-खोलने का काम मेरे जिम्मे था। लेकिन उसमें भी बा की पैनी नजर बराबर मेरे काम पर बनी रहती। बा मानों कभी थकती ही नहीं थीं। सभाओं और मुलाकातों में बापू को रात में कितनी ही देर क्यों न हो जाये, बा उनके सिर में तेल मलने और उनके थके-मोड़े शरीर को दबाने के लिये उनकी राह देखती बैठी ही रहतीं। और फिर सुबह चार बजे की प्रार्थना में हाजिर रह कर पुनः बापू की सेवा में लग जातीं। वे गैर जरूरी बातें करके बापू का वक्त कभी खराब नहीं करतीं। बापू के आस-पास के सभी लोगों में वे बापू को कम से कम तकलीफ देतीं और उनकी ज्यादा से ज्यादा सेवा करतीं।”

इस जीवनचर्या के महत्त्व को समझते हुए यदि हम बा को एक “योगी” की संज्ञा दें तो उसमें कुछ अनुचित नहीं है। “गृहस्थ योग” भी योगशास्त्र की एक शाखा माना गया है और पौराणिक कथाओं के अनुसार प्राचीन काल में अनेक नारियों ने इसी के द्वारा महान सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। बा की सेवा और परिचर्या भी लगभग निष्काम कर्मयोग की श्रेणी में जा पहुँची थी। बा की मनोभावना के सम्बन्ध में हमारा अनुमान कहीं तक ठीक है इसके सम्बन्ध में गाँधी जी के वक्तव्य की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

“बा का जबर्दस्त गुण केवल अपनी इच्छा से मुझ में समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नहीं हुआ था, लेकिन समय पाकर बा के भीतर से ही इस गुण का विकास हो गया था। मैं नहीं जानता था कि बा में यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरू के अनुभव के अनुसार बा बहुत

हठीली थी। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करती। इसके कारण हमारे बीच थोड़े समय की या लम्बी कड़वाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्ज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गई, और दृढ़ विचार के साथ मुझ में यानी मेरे काम में समाती गई। जैसे दिन बीतते गये मुझमें और मेरे काम में—सेवा में—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमें तदाकार होने लगी। शायद हिन्दुस्तान की भूमि को यह गुण अधिक-से-अधिक प्रिय है। कुछ भी हो मुझे तो बा की उक्त भावना का यही मुख्य कारण मालूम होता है।”

बा की सेवा भावना

गाँधी जी की सेवा और देखभाल तो बा का मुख्य कर्तव्य था ही, पर वे स्वभाव से ही सेवा-भाव वाली स्त्री थीं। कुछ तो स्वभाव से ही और फिर गाँधी जी के सहवास तथा उदाहरण से उनका जीवन त्यागमय बन गया था। उनकी अपनी जरूरत कम थीं। जब कभी गाँधी जी अपने साथियों को लेकर बाहर जाते थे तो बा का बिस्तर सबसे छोटा होता था। वे बड़ी युक्ति और सुचढ़ता से थोड़े से सामान से ही अपना सब काम चला लेती थीं। गाँधी जी अक्सर कहा करते थे कि मैंने भी अपनी जरूरतों को बहुत कम कर दिया है और तरह-तरह के कपड़े पहिनना भी बन्द कर दिया है, इस पर भी मेरा बिस्तर बा के बिस्तर से दुगुना होता है।

इसी प्रकार जब कोई अन्य प्रान्त का युवक आश्रम में आया और उसने एक आलोचक की तरह गाँधी जी से कहा कि “आप सब किसी को तो चाय आदि पीने से रोकते हैं, पर बा तो प्रतिदिन दो बार कॉफी पीती हैं।” तो गाँधी जी ने उसे उत्तर दिया—“तुमको मालूम है कि बा ने कितना अधिक त्याग किया है? कितनी वस्तुओं और आदतों को छोड़ा है? अब अगर मैं उसकी इस अन्तिम छोटी-सी आदत को भी छुड़ाने की कोशिश करूँ तो मुझ-सा निर्दयी पति और कौन होगा?”

सन् १९३६ में गाँधी जी क्लकत्ता से काफी बीमार होकर बर्खा आये। उस समय यह समस्या सामने आई कि वे कहाँ सोयेंगे? पहले तो वे अनेक आदमियों के साथ एक बड़े हाल में सोते थे, पर अब आश्रम-वासियों ने विचार किया कि बीमारी की हालत में उनको कोई ऐसा स्थान दिया जाये जिससे वे शान्ति से रह सकें। इस उद्देश्य से मीरा बहिन ने अपना कमरा उनके सोने के लिये तैयार करके रखा था। पर गाँधी जी ने कहा—“मीरा ने तो वह कमरा अपने रहने तथा खादी के काम के लिये बनवाया

है। मैं उसमें कैसे रह सकता हूँ ? मैं तो अपने पुराने कोने में ही रहूँगा।”

मगर उस कोने में भी जगह कहाँ थी। वहाँ पहले ही कई व्यक्ति सोते थे। अगर बीमारी की हालत में गाँधी जी वहाँ सोयेंगे तो उनको अवश्य तकलीफ होगी। यह देखकर बा ने आगे बढ़कर कहा—“मेरा कमरा है न ?” इस पर गाँधी जी उसमें सोने लगे। पर वह कमरा छोटा था और उसमें भी एक-दो अन्य लोग गाँधी जी के साथ सोने को पहुँच गये। बा ने इस पर भी कोई एतराज नहीं किया, पर दूसरे दिन नास्ता करते हुए गाँधी जी ने ही कहा—“मैंने खास तौर पर यह घर बा के लिये बनवाया था और अब मैं इस पर कब्जा किये बैठा हूँ। बा को आज तक कभी कोई अलग कोठरी मिली ही नहीं। मेरा और बा का जो कुछ था वह शुरू से ही सबके लिये था। पर इस ख्याल से कि बा को इस बुढ़ापे में थोड़ा एकान्त मिल जाये तो अच्छा हो, मैंने यह घर बनवाया। लेकिन बा ने कभी इसका उपयोग अकेले नहीं किया। उसने कई लड़कियों को इसमें अपने साथ रखा है। लेकिन मेरे आजाने से तो बा को यहाँ से बिल्कुल निकल जाना पड़ता है, क्योंकि मैं जहाँ रहता हूँ वहीं मेरे रहने की जगह धर्मशाला बन जाती है। मुझे यह खटकता है, पर बा ने कभी इसकी शिकायत नहीं की। मैं जो चाहता हूँ बा से ले लेता हूँ, हर किसी को बा के पास भेज देता हूँ, पर वह हमेशा इसके लिये रजामन्द रही है।” इसके बाद वे अपनी चारपाई के पास ही बैठी हुई बा से हँसकर कहने लगे—“होना भी तो यही चाहिये, न ? अगर मियाँ एक कहे और बीबी दूसरा तो जीवन खारा हो जाये। लेकिन यहाँ तो मियाँ की बात को बीबी ने सदा माना ही है।”

एक अन्य अवसर पर जब कुछ हरिजनों ने गाँधी जी के खिलाफ सत्याग्रह किया तो पाँच व्यक्तियों की एक टोली सेवाग्राम में धरना देने और उपवास करने को पहुँची। गाँधी जी ने बजाय नाराज होने के उनका स्वागत किया और कहा कि आश्रम में बैठने के लिये जो स्थान उनको सुविधाजनक प्रतीत हो उसी को पसन्द करके ले लें। बा की झोंपड़ी में एक बड़ा कमरा और एक छोटा कमरा था। हरिजनों ने बा का बड़ा कमरा ही पसन्द किया। गाँधी जी ने बा को बुलाकर पूछा—“तू इन हरिजन भाइयों को अपना वह कमरा बैठने के लिये देगी न ?”

अपने खिलाफ उपवास करने के लिये आये हुए हरिजनों को बापू ऐसी सुविधायें दें और बा को नहाने के छोटे से कमरे में ही सब काम चलायें पड़े, यह उसे ठीक नहीं जान पड़ा। उसने ताना मारते हुए कहा—“आपने

तो इन लोगों को अपने बेटे मान रखा है, तब आप इन्हें अपनी झोंपड़ी में ही क्यों नहीं बैठाते ?”

गाँधी जी—“हाँ ये मेरे बेटे हैं। पर मेरे बेटे तेरे भी तो बेटे हुए न ?”

इस शब्दों ने बा को लाचार बना दिया और उसने हरिजनों को अपने बड़े कमरे में बैठने की सुविधा कर दी। बा केवल उन लोगों की धाँधली ही सहन न करती थी, वरन् उनके लिये पानी आदि की भी व्यवस्था कर देती थी।

आश्रम में सबका स्वागत-सम्मान

बा की यही सेवा भावना गाँधी जी के पास आने वाले सब मेहमानों के लिये प्रकट होती थी। वे लोग गाँधी जी के साथ तो केवल अपने काम की बातें ही करते थे, पर उनकी सब आवश्यकताओं की व्यवस्था बा ही करती थी। कोई भी परिचित या अपरिचित व्यक्ति आश्रम में आये बा उसका स्वागत बड़े प्रेम से करती—“कहाँ से आये हो ? सीधे यहीं आ रहे हो ? खाना खाया या नहीं ? गाड़ी में बहुत तकलीफ तो नहीं हुई ?” ऐसी सभी छोटी-बड़ी बातें वह पूछ लेतीं और जिसने खाना न खाया होता तो उसकी व्यवस्था करतीं।

आश्रमवासियों से भी वे प्रायः पूछती रहतीं—“खाना तो तुम्हें पसन्द पड़ता है ? देखना, कोई तकलीफ न उठाना। किसी चीज की जरूरत हो तो मुझसे कहना।”

मेहमानों की व्यवस्था करने में बा गाँधी जी के नियमों को भी ढीला कर देती थीं। दीनबन्धु एण्ड्रूज का काम चाय के बिना चल ही नहीं सकता था। पर गाँधी जी के पास तो किसी को चाय कैसे मिलती ! इसलिये बा उनको बुलाकर चाय पिलाती थीं। गाँधी जी अनेक बार बा को उलाहना देते “बा, तू दीनबन्धु को बुरी आदत लगा रही है !”

बा भी उन्हीं की तरह उलाहने के स्वर में कहती—“अब रहने भी दीजिये ! आप तो बस अपनी ही बात चलाते रहते हैं। सभी लोगों पर इस तरह सिरजोरी नहीं की जा सकती। मैं ही इसके लिये काफी हूँ।”

बा के आश्रम में रहने से ही श्री राजगोपालाचार्य को चाय, कॉफी मिलती थी और जवाहरलाल जी भी खास स्वाद वाली चाय बा के कारण ही पा सकते थे। राजेन्द्रबाबू, सरदार पटेल, मोतीलाल जी नेहरू, मौलाना आजाद सभी के आराम का ध्यान बा ही रखती थीं। ये बड़े नेतागण भी गाँधी जी के साथ घंटों चर्चा करके चारों जितने थक जाते हों, फिर भी वे बा से मिले बिना नहीं रहते थे।

१.११५ मरकर भी अमर हो गये जो

ये नेतागण भी बा से अलग-अलग ढंग से मिलते थे । सरदार पटेल तो उनके पास आकर छोटे कहाना को खूब चिढ़ाते और उसके साथ ऊधम करने में उन्हें आनन्द आता । मौलाना आजाद गम्भीर भाव से बा के पास आकर उनकी तबियत का हाल पूछते, जवाहरलाल जी जब मौज में होते तो कोई क्रांतिकारी बात कह कर बा को चिढ़ाने का प्रयत्न करते और ज्यादा थके होते तो दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते और चुपचाप चले जाते । इस तरह बा हर एक नेता की सँभाल रखती और सभी नेता बा का आदर करते थे । गाँधी जी के आश्रम को अगर किसी ने नीरस होने से बचाया था तो वह बा ही थी ।

साम्य-भाव की शिक्षा

सन् १९२४ की बात है । बा प्रतिदिन सोते समय गाँधी जी के सिर में तेल मालिश किया करती थीं । एक रात को वह कुछ देर से आई तो उन्होंने देरी हो जाने कारण पूछा और कहा “तेरे पास अगर काम ज्यादा था तो किसी दूसरे से तेल मलने को कह देती ।”

बा—“सबको खिलाकर मैंने खाया, फिर बर्तन साफ किये । उसके बाद बम्बई जाने वाले रामदास (गाँधी जी का तीसरा पुत्र) के लिये रास्ते का खाना और दो चार दिन का नास्ता बनाने बैठ गई । इसीलिये आने में देर हो गई, दूसरा ऐसा कोई दिखाई नहीं दिया जिसे तेल मलने का काम सौंप देती ।”

गाँधी जी—“तुझ पर काम का बहुत बोझ रहता है । यह सब तू कब तक चला सकेगी ? मेरे लिये भी नहाने और खाने-पीने की व्यवस्था तू ही करती है । मेहमानों की आवश्यकता की जिम्मेदारी भी तुझी पर होती है और मेहमान तो अक्सर आते ही रहते हैं । कपड़ों के लिये सूत कातने का भार भी तूने अपने सिर पर ले रखा है । यह ढेर-सा काम करने के लिये तू समय कहाँ से निकालती है, यही मेरे लिये तो अचरज की बात है । और इस भारी बोझ के होते हुए भी तू रामदास के लिये नास्ता बना रही थी । ऐसा कितने दिन चलेगा ? कल रामदास बम्बई जायेगा, परसों तुलसी नेपाल जायेगा, तीसरे दिन सुरेन्द्र दिल्ली जायेगा—इस तरह कोई न कोई आदमी तो आश्रम से बाहर जाता ही रहेगा । क्या तू हर आदमी के लिये खाना और नास्ता बना देगी ?”

बा—“नहीं । लेकिन रामदास मेरा लड़का है । इसलिये देर करके और आपके सिर में तेल मलना छोड़ करके भी उसकी पसन्द का खाना मैंने बना दिया । सारे आश्रमवासियों के लिये उनकी पसन्द का खाना या नास्ता तो मैं कैसे बना सकती हूँ ? आप तो महात्मा ठहरे, इसलिये

बाहर से आने वाले सभी लोग आपके लड़के हैं । लेकिन मैं अभी महात्मा नहीं बन पाई हूँ । फिर भी आप ऐसा न मानें कि आश्रमवासियों पर मेरा प्रेम कम है । लेकिन अपने सगे लड़के जैसा तो मैं दूसरों को कैसे मानूँ ? आप छोटी-छोटी बातों पर भी मुझ पर सदा सख्ती करते आये हैं ! क्या मैं अपने लड़के के लिये उसकी पसन्द की खाने की दो-चार चीज भी नहीं बना सकती ?”

गाँधी जी—“ठीक, यह सोचने जैसी बात है । लेकिन इस समय हम कहाँ बैठे हैं ?”

बा—“सत्याग्रह आश्रम में ।”

गाँधी जी—“हम अपना राजकोट का घर-बार छोड़ कर यहाँ क्यों बैठे हैं ?”

बा—“देश सेवा के लिये । सब भाई-बहन साथ मिलकर सच्चे रास्ते से देश की सेवा करने के लिये यहाँ आये हैं ।”

गाँधी जी—“जो भाई-बहन दूर-दूर से अपने माँ-बाप को छोड़कर हमारे पास आये हैं, वे हमें अपने जन्म देने वाले माँ-बाप से क्या कम मानते हैं ?”

बा—जरा भी नहीं ! आश्रम के सब लोग हम पर अपने माँ-बाप से ज्यादा प्यार रखते हैं । आपके लिये उनके मन में जो अपार भक्ति है, उसी से वे अपने माँ-बाप और घर-बार छोड़कर यहाँ रहते हैं ।

गाँधी जी—तो बा ! अब तू ही सोच कि हमारा क्या धर्म है ? सभी मातायें अपने बालकों पर ज्यादा प्रेम रखें यह स्वाभाविक है । इसलिये रामदास पर तेरे अधिक प्रेम को मैं साफ समझ सकता हूँ और अगर हम राजकोट के अपने घर में होते तो हमारी समूची जायदाद और सम्पूर्ण प्रेम के भागीदार रामदास, देवदास आदि हमारे लड़के ही होते । वहाँ तू दूसरों को अपने लड़कों के बराबर न मानती तो जल जाता । लेकिन यह आश्रम तो सभी सत्याग्रह सेवकों का है । इसलिये यहाँ तो दूसरे लोग जैसे रहें वैसे ही रामदास को भी रहना चाहिये । जो लोग तुझे अपनी माँ से भी ज्यादा मानते हैं, उन्हें तू रामदास से कम कैसे मान सकती है ? इस आश्रम पर आज सारे संसार की नजर लगी हुई है । इससे दुनिया बड़ी-बड़ी आशायें रखती है ।”

बा—“आपकी बात सच है । मेरी नजर में सभी रामदास जैसे होने चाहिये ।”

इस प्रकार बा ने क्रमशः अपना दृष्टिकोण विस्तृत करके साम्य भाव की शिक्षा ग्रहण की थी और वे जाति, धर्म, प्रांतीयता के भेदों से ऊपर उठकर आश्रम में रहने वाले सभी के सुख-दुःख की सच्ची साथी बन गई थीं । इन्हीं

गुणों के कारण आज उनको 'राष्ट्र-माता' की उच्च पदवी दी जाती है ।

बा का सार्वजनिक जीवन

दक्षिण अफ्रीका से भारत में आकर गाँधी जी ने चम्पारन-सत्याग्रह से लेकर १९४२ में "अंग्रेजो ! भारत छोड़ो आन्दोलन तक जितने राजनीतिक कार्यक्रम आरम्भ किये उन सब में बा उनके साथ रहीं और प्रत्येक अवसर पर आन्दोलन में भाग लिया । अन्य सत्याग्रहियों की तरह उन्होंने जेल की सजायें भी भोगीं और अन्तिम स्वराज्य-संग्राम में तो सरकारी बन्धन में रहते हुए जान ही दे दी ।

चम्पारन में बा को एक ऐसे गाँव में रखा गया था जिसके समीप एक बहुत ही दुष्ट निलहे गोरे की कोठी थी । गाँव के लोगों में से बहुत से बीमार रहते थे, पर गरीबी के कारण इलाज नहीं करा पाते थे । बा को उनकी बुरी हालत देखकर तरस आता तो वे घर-घर में जाकर बीमारियों की देख-भाल करतीं और उनको अपने पास से दवा देतीं । यह कार्य भी उस निलहे गोरे को बहुत हानिकारक जान पड़ा और अखबारों में शिकायत छपवाई कि—“मि. गाँधी नंगे पैर घूमकर और कपड़ों में सादगी बरत कर लोगों में अन्धश्रद्धा पैदा करते हैं और उससे फायदा उठाना चाहते हैं । यही नहीं, जब वे दूसरी राजनीतिक हलचलों को चलाने के लिये बाहर चले जाते हैं तो श्रीमती गाँधी यहाँ लोगों को भड़काने को अपने पति का काम जारी रखती हैं ।”

जब सन् १९२२ में “चौरी-चौरा की दुर्घटना” के बाद गाँधी जी को गिरफ्तार करके छः साल की सजा दी गई तब बा ने देश के नाम एक संदेश में जनता को उत्साहित करते हुए कहा था—“आज मेरे पति को छः साल की सजा हुई है । इस जबरदस्त सजा से मैं थोड़ी बेचैन हुई हूँ । सो मुझे मंजूर करना चाहिये । लेकिन हम चाहें तो सजा की मुहत्त पूरी होने से पहले ही उनको छुड़ा सकते हैं । यह कार्य हमारे हाथ की बात है । इसलिये मैं मेरे दुःख में हमदर्दी रखने वाले सभी स्त्री-पुरुषों से प्रार्थना करती हूँ कि वे रात-दिन लगे रहकर रचनात्मक कार्यक्रम को सफल बनायें । गाँधी जी को दी गई सजा का यही सच्चा जबाब है ।”

सन् १९३० के नमक-सत्याग्रह में तो बा ने इतना काम किया कि सरकारी अप्सर भी उनसे डरने लगे । डाण्डीकूच के समय जब आन्दोलन में भाग लेने वाली बहनों ने पूछा कि इस बार हमें क्या करना चाहिये, तो गाँधी जी ने बताया कि उनको नमक बनाकर जेल जाने की आवश्यकता नहीं । इसके बजाय विदेशी कपड़े का बहिष्कार

और शराब बन्दी का काम करना है । शीघ्र ही गाँधी जी ने सूरत में स्त्रियों की एक बड़ी सभा की जिसमें बम्बई तक की स्त्रियाँ आईं और कुल चार-पाँच हजार स्त्रियों ने भाग लिया । उस अवसर पर “स्त्री स्वराज्य संघ” की स्थापना की गई और जिले भर में विदेशी वस्त्र बायकाट और शराब बन्दी के लिये स्त्रियों की छावनियाँ कायम की गईं । इसके बाद समस्त कार्य का भार बा और मीतुबहन पर छोड़ कर गाँधी जी नमक सत्याग्रह का संघर्ष करने आगे चल दिये । इन दोनों ने अन्य सैकड़ों बहनों को साथ लेकर इस खूबी से काम किया कि सूरत जिले की शराब की तमाम दुकानें सुनसान हो गईं ।

इस पर सरकार ने कानून और नियमों को उठाकर ताक पर रख दिया और फेरी लगा कर शराब और ताड़ी बेचने की इजाजत दे दी । साथ ही यह भी कोशिश करने लगी कि स्त्रियों की छावनी के लिये मकान न दो । जब स्त्रियों ने छप्पर ढालकर छावनियाँ बना लीं तो पुलिस वाले आकर उनके बर्तन-भाँड़े उठा ले गये और छप्परों में आग लगा दी । इस पर बा ने कहा—“अब हम चटाईतान कर रहेंगे और मिट्टी के बर्तन रखेंगी । फिर देखें वे क्या ले जाते हैं ?”

जब गाँधी जी की गिरफ्तारी के बाद स्वयंसेवकों पर लाठियों बरसाई गईं तो सैकड़ों व्यक्ति घायल अवस्था में अस्पताल में पहुँचाये गये । बा तुरन्त वहाँ पहुँची और उसकी हालत देखकर बड़ी दुःखी हुई । एक सम्वाददाता के पूछने पर उन्होंने कहा—“बिछौनों पर पड़े उन भाइयों की मरहम पट्टी और बैंडेज वगैरह का वह करुण दृश्य देखकर मेरा दिल फटने लगा । पुलिस ने उन पर जैसा जुल्म किया, उसे सुनकर मैं काँप उठी । चारों तरफ से ऐसे ही जुल्मों की कहानियाँ आ रही हैं । इसलिये सब कोई इस काम में एक दूसरे की सहायता करें और साथ दें तभी हमारा काम सफल होगा । वायसराय के नये काले कानूनों का विरोध करने के लिये हमको अपना आन्दोलन अब दुगुने उत्साह से चलाना चाहिये ।” कहने की आवश्यकता नहीं कि बा ने इस काम को इतने जोर-शोर से किया कि सरकार ने उनको गिरफ्तार कर लिया और सन् १९३२ तथा १९३३ में उनका ज्यादा समय जेलखाने में ही बीता ।

सन् १९४२ की लड़ाई में तो बा को भी गाँधी जी की गिरफ्तारी के कुछ घंटे बाद ही पकड़ कर उनके पास आगाखौं महल की जेल में पहुँचा दिया गया । यह जेल खासकर गाँधी जी और उनके कुछ आश्रमवासी साध्वियों के लिये ही बनाई गई थी और उसमें सरकार ने उनको सब

१.११७ मरकर भी अमर हो गये जो

प्रकार की सुविधायें भी दी थीं। पर इस बार सरकार ने गाँधी जी को जिस प्रकार बिना आन्दोलन आरम्भ किये ही पकड़ा था, उससे बा का मन खट्टा हो गया। जेल में उनको एक प्रकार का खेद ही बना रहा, जिसने धीरे-धीरे उनके जीवन का अन्त कर दिया।

बा का आदर्श गृहस्थ-जीवन

जिस तरह से पति सेवा, कर्तव्य-परायणता, सबके सुख-दुःख की चिन्ता, त्याग-वृत्ति आदि बातों में बा ने एक उच्च उदाहरण उपस्थित किया उसी प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन में भी प्राचीन भारतीय आदर्श का पूरी तरह से पालन करके दुनिया को चकित कर दिया था। ३५ वर्ष की आयु में गाँधी जी ने यह निश्चय किया कि अब हम दोनों को काम वासना का त्याग करके भाई-बहन की तरह रहना चाहिये। वर्तमान समय की अधिकांश स्त्रियों की मनोवृत्ति को देखते हुए यह एक बड़ा कठिन और अस्वाभाविक-सा निश्चय था, पर बा ने इसे स्वीकार करने में कुछ भी आगा पीछा न किया और जीवन के पिछले ३७ वर्ष ब्रह्मचर्य-व्रत को मनसा-वाचा-कर्मणा पालन करते हुए व्यतीत किये इस सम्बन्ध में स्वयं गाँधी जी का यह कथन है—

“ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में बा ने कभी मेरा विरोध नहीं किया, या बा कभी उसे तोड़ने के लिये ललचाई नहीं। इसका फल यह हुआ कि हम दोनों का सम्बन्ध सच्चे मित्रों का-सा हो गया। मेरे साथ रहने में बा के लिये सन् १९०६ से, सच पूछा जाये तो सन् १९०१ से मेरे काम में घुल-मिल जाने के सिवा या उसके बाहर कुछ रह ही नहीं गया था। वह मेरे काम से अलग रह सकती थी, अलग रहने में उसे कोई कठिनाई न होती, लेकिन मित्र-होते हुए भी उसने स्त्री के नाते और पत्नी के नाते मेरे काम में समा जाने में अपना धर्म माना। इससे मेरी निजी सेवा को बा ने अनिवार्य-अटल स्थान दिया। यही कारण है कि मरते दम तक मेरी सुख-सुविधा का उसने ध्यान रखा।”

गाँधी जी का यह कथन निराधार नहीं था। २२ फरवरी को भी, जिस दिन बा का देहावसान हुआ, उन्होंने अपनी दौहित्री मनु बहन से कहा—“मनु, बापूजी की बोटल का गुड़ खत्म हो गया है। तू ने दूसरा तैयार किया।”

मनु बहन ने कहा—“हाँ, मोटी बा, गुड़ सिगड़ी पर ही है। अभी तैयार हो जाता है।”

बा ने कहा—“देख, मेरे पास तो कई लोग बैठे हैं। तू जा, बापूजी को दूध और गुड़ देकर तू भी भोजन कर ले।”

इसी को कहा जा सकता है सच्ची और निःस्वार्थ सेवा-भावना। जब यह मालूम है कि अब हम कुछ घंटों में इस संसार को छोड़ने ही वाले हैं, तब भी अपनी चिन्ता न करके दूसरों का ख्याल रखना ही महानता का लक्षण है। बा ने आजीवन गाँधी जी के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। यहाँ तक कि अपनी मृत्यु से ठीक एक वर्ष पहले उन्होंने अपने मरने की कामना करके गाँधी जी को मृत्यु के मुख से निकाला। इसका वर्णन करते हुए “बा और बापू” पुस्तक में कहा गया है—

“सन् १९४२ में जेलवास के समय बा की तबियत बहुत कमजोर थी, लेकिन जब गाँधी जी ने सरकार के अन्याय के विरुद्ध उपवास शुरू किया तो बा ने अपनी निर्बलता का ध्यान छोड़ दिया और उनमें एक नई चेतना भर गई। हमेशा की तरह इस उपवास के समय भी बा फलाहार करने लगी। २१ दिन तक उन्होंने अन्न का स्पर्श भी नहीं किया। उपवास के समय बा ने अनोखी हिम्मत रखी और खड़े पैरों बापू की सेवा की।”

“उपवास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया बापू की स्थिति ज्यादा नाजुक होती गई। उपवास बढ़ने के साथ बा की तुलसी-पूजा और बालकृष्ण की पूजा का समय भी बढ़ता गया और वह पूजा अधिक भक्तिपूर्ण बनती गई। २२ फरवरी १९४३ के दिन बापू जीवन और मरण के बीच झूलने लगे। उस समय मीरा बहन चुपचाप डॉ. सुशील बहन को बुलाकर बाहर ले गईं। वहाँ बा तुलसी के आगे घुटने टेक कर प्रार्थना कर रही थीं। बा के चेहरे पर दिखाई देने वाले भाव इतने करुण, इतने दीन थे कि देखने वालों की आँखों में भी आँसू आ गये। अपने ध्यान में बा इतनी लीन हो गई थी कि उन्हें इस बात का पता ही न चला कि कौन उनके पास आकर खड़ा हो गया।

उस दिन दस मिनट तक प्रयत्न करने पर भी बापू आधा औंस पानी गले के नीचे नहीं उतार सके। अन्त में वे इतने थक गये कि बेसुध होकर बिस्तर पर गिर गये। उनकी नाड़ी कमजोर पड़ गई और शरीर पसीने से तर हो गया। उनमें बोलने की तो क्या हाथ से इशारा करने की ताकत भी नहीं रही।

बा तो अपनी प्रार्थना में लीन थीं। सुशीला बहन ने डरते-डरते बापू जी के पास जाकर कहा—“बापूजी! क्या अभी भी मुसम्मी का रस लेने का समय नहीं आया है?” यद्यपि जब से उपवास शुरू हुआ था, बार-बार कहने पर भी गाँधी जी ने रस लेने से इन्कार कर दिया था। पर इस समय कई मिनट सोचने के बाद उन्होंने इशारे से “हाँ” कहा। सुशीला बहन ने तुरन्त दो औंस रस और दो औंस

पानी मिलाकर पिलाया । इसके शरीर में पहुँचते ही बापूजी के फीके और निस्तेज चेहरे पर जीवन की किरणें झलकने लगीं ।

इतने में बा भीतर आ गई । भगवान ने उनकी प्रार्थना सुन ली थी और गाँधी जी की प्राण-रक्षा हो चुकी थी । इस घटना के ठीक एक वर्ष बाद २२ फरवरी १९४४ की महाशिवरात्रि के दिन बा का स्वर्गवास हुआ । इस घटना को याद करके किसी ने कहा—“गये वर्ष इसी दिन बापू यमराज के मुँह में थे । बा ने सावित्री की तरह उन्हें यमराज के मुँह से छुड़ाया होगा और उन्हें यह वचन दिया होगा कि अगले वर्ष इसी दिन मैं आपके साथ चलूँगी ।”

इस तरह पति के जीवन में समा जाना उनका पदानुसरण करना और उनके लिये सदा आत्म-त्याग करने को तैयार रहना बा का स्वाभाविक गुण था । यह बात उनमें सत्याग्रह आश्रम में निवास करने पर ही नहीं आई थी, वरन् बहुत पहले से मौजूद थी । सन् १९१३ में जब वे दक्षिण अफ्रीका में थीं, गाँधी जी के परिवार के एक आदरणीय सदस्य श्री कालीदास भाई उनके यहाँ आये । तब उन्होंने बा को रसोई की सफाई अपने हाथ से करते देखा तो वे गाँधी जी से कहने लगे—“भाई, तुमने अपने जीवन में भारी परिवर्तन कर डाला है, रहन-सहन बहुत अधिक सादा बना लिया है । पर इस बेचारी कस्तूरबाई ने तो कोई मौज शौक नहीं जाना ।”

गाँधी जी—“मैंने इसे मौज-शौक करने से कब रोका है ?”

बा—“तो बताइये मैंने आपके घर में क्या मौज-शौक किया है ?”

गाँधी जी—“मैंने तुझे गहने पहनने या अच्छी रेशमी साड़ियाँ पहनने से कब रोका ? और जब तेरी इच्छा हुई तब क्या मैं तेरे लिये सोने की चूड़ियाँ भी बनवाकर नहीं लाया ?”

बा ने कुछ गम्भीर होकर कहा—“आपने तो सभी कुछ मुझे ला दिया । लेकिन मैंने उसे कब काम में लिया ? मैंने समझ लिया कि आपका रास्ता अलग है । आपको साधु-संन्यासी बनना है । तब भला मैं मौज-शौक से रहकर क्या करती ? आपका मन जान लेने के बाद मैंने भी अपने मन को मोड़ लिया और दुनिया का रास्ता छोड़ दिया ।”

ऐसा था बा और बापू का दाम्पत्य-जीवन । गाँधी जी बा को एक सामान्य स्त्री से ऊँचा उठाने के लिये हर तरह से, बातों से, व्यवहार से, नरमी से, सख्ती से उच्च शिक्षायें देते गये और वह उन पर अविचल श्रद्धा रखते हुए बदलती गई, आगे बढ़ती गई । यद्यपि प्रकट में उनमें

कुछ झगड़ा, कहा-सुनी होती जान पड़ती थी, पर आन्तरिक रूप से दोनों एक थे, एक-दूसरे के गुणों को समझते थे, इसीलिये जब किसी नई विचार वाली लेखिका ने बा को एक पत्र लिखा जिसमें गाँधी जी के व्यवहार को अनुचित बतलाते हुए उनके प्रति सहानुभूति दर्शाई गई तो बा को इस तरह का लिखना बहुत खराब जान पड़ा और उन्होंने तुरन्त ही उसको पत्रोत्तर में लिखा—

“तुम्हारा पत्र मुझे बहुत खटकता है । मेरी और तुम्हारी तो किसी दिन बातचीत भी नहीं हुई । तब तुमने कैसे जाना कि गाँधी जी मुझे बहुत दुःख देते हैं ? मेरा चेहरा उदास और उतरा हुआ रहता है, खाने पीने के बारे में भी गाँधी जी दुःख देते हैं, यह कभी तुम देखने आई थीं ?”

“मुझे जैसा पति मिला है वैसा तो दुनिया में किसी स्त्री को नहीं मिला होगा । वे अपने सत्य से सारे जगत में पूजे जाते हैं । हजारों लोग उनसे सलाह लेने आते हैं । मेरी गलती के बिना उन्होंने कभी मेरा दोष नहीं निकाला । हाँ मेरे विचार उदार न हों, मेरी दृष्टि ओछी हो तो जरूर वे मुझ से कहते हैं । लेकिन यह तो दुनिया में चलता आया है । पर अपने पति के कारण ही मैं सारी दुनिया में पूजी जाती हूँ । मेरे सगे सम्बन्धियों के मन में मेरे लिये खूब प्रेम है मेरे मित्र मेरा आदर करते हैं ।”

“तुम मेरे दुःख की जो गलत बात कहती हो उसे कोई मानेगा नहीं । हाँ, मैं तुम्हारी जैसी नये जमाने की नहीं हूँ । नये जमाने की स्त्री मानती है कि जीवन में खूब स्वतन्त्रता ली जाये, पति हमारे वश में रहे तो ठीक, वरना उसका और हमारा रास्ता अलग ! लेकिन हिन्दू स्त्री को ऐसा करना शोभा नहीं देता । पार्वती जी का प्रण था कि जन्म-जन्म में शंकर ही उनके पति रहेंगे वैसा ही मेरा समझो ।”

उधर गाँधी जी का भी यह कहना था कि “मेरी पत्नी के प्रति अपनी भावना का वर्णन यदि मैं कर सकूँ तो ही हिन्दू धर्म के प्रति मेरी क्या भावना है, उसे प्रकट कर सकता हूँ । मेरे पत्नी मेरे अन्तर को जिस प्रकार हिलाती है, उस प्रकार दुनिया की कोई दूसरी स्त्री उसे हिला नहीं सकती । उसके लिये ममता के एक अटूट बन्धन की भावना मेरे अन्तर में जागृत रहती है ।”

युग-पुरुष गाँधी को इतना प्रभावित करके नारी जाति का महत्त्व बढ़ाना कोई साधारण बात नहीं है । बा के इस गुण और महानता की प्रशंसा बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों ने की है । श्रीमती गोष्ठी बहन कैप्टिन ने बा के निकट रहकर और उनकी अन्तरंग भावनाओं का अध्ययन

१.११६ मरकर भी अमर हो गये जो

करके यह लिखा था—“बा और सरोजिनी देवी को देखकर ही हमें इस बात का अन्दाज हो सकता है कि नारीत्व में कितना गौरव और कितना वैभव रहा है। कितनी विविधता, कितनी तेजस्विता और कितना सनातन यौवन ! इन दो स्त्रियों को देखने से क्या हमें इस बात का दिव्य दर्शन नहीं होता कि हमारी भारत भूमि नारियों की भूमि है।”

स्वयं श्रीमती सरोजिनी नायडू ने, जो बा, और बापू के साथ प्रायः रहती थीं, बा का देहावसान होने पर लिखा—“भारतीय स्त्रीत्व के जीते-जागते प्रतीक-सी, उस नाजूक किन्तु वीर नारी की आत्मा को चिर शान्ति प्राप्त हो ! जिस महापुरुष को वे चाहतीं, जिसकी वे सेवा करतीं और अद्वितीय श्रद्धा, धैर्य और भक्ति के साथ जिसका वे अनुसरण करतीं, उसके लिये वे निरन्तर कुरबानी करती रहीं। जिस कठिन मार्ग को उन्होंने अपनाया था, उस पर चलते हुए उनके पैर एक क्षण के लिये भी लड़खड़ाये नहीं और न उनके दिल ने कभी कच्ची खाई। वे मातृत्व से अमरत्व में गई और हमारी गाथाओं, गीतों और हमारे इतिहास की वीरांगनाओं की मंडली में अपना वास्तविक स्थान पा गई।”

आज भारतीय नारियाँ जिस प्रकार अविद्या और रूढ़ियों में ग्रस्त हो रही हैं और सार्वजनिक क्षेत्र में उनका नगण्य स्थान है, उसे देखते हुए सामान्य पाठकों को ये उद्गार अतिशयोक्ति जैसे लग सकते हैं। पर इन्हीं स्त्रियों में से वैदिक ऋचाओं की रचयित्री विश्ववारा, ब्रह्मवादिनी गार्गी, शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने वाली भारती, यमराज का सामना करने वाली सावित्री जैसी स्त्रियाँ भी हो चुकी

हैं। चाहे निकटवर्ती होने के कारण सब लोग बा की इस महानता को अनुभव न कर सकें पर भावी इतिहासकार उनकी गिनती उसी परम्परा में करेंगे। अधिकांश लोगों का दृष्टिकोण बहुत सीमित-संकीर्ण होता है, वे हर एक को अपने छोटे से पैमाने से ही नाप सकते हैं। जैसा गोशी बहन ने अनुभव किया वे बा और सरोजिनी देवी के “गौरव” और “वैभव” को नहीं देख पाते। बा उनको रसोईघर में काम करती हुई एक सामान्य स्त्री और सरोजिनी देवी एक स्वच्छन्द फैशनबिल महिला ही जान पड़ेंगी। पर अगर वे समाज की प्रगति और विकास का लेखा-जोखा लगाने में समर्थ हो सकें तो उनको विदित होगा कि गाँधी जी के बीस वर्ष व्यापी असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाली नारियों के त्याग और आत्म-बलिदान ने ही यह स्थिति उत्पन्न कर दी कि भारतीय स्त्री राजदूत, राज्यपाल (गवर्नर), मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री के सर्वोच्च पदों तक पहुँच सकी हैं।

हम विदेशों की तरह घर का काम काज छोड़कर नारियों के पूरी तरह क्लर्क या कारखानों के कर्मचारी बन जाने के पक्ष में नहीं है। यह बात हमारे प्राचीन आदर्शों और संस्कृति के प्रतिकूल है और मानव समाज की वर्तमान स्थिति में कल्याणकारी भी नहीं मानी जा सकती। इसीलिये हम कस्तूरबा को एक ऐसी महान भारतीय स्त्री मानते हैं जिन्होंने अन्त समय तक गृहस्थी का संचालन और पति सेवा के आदर्श का पूर्ण रूप से पालन करते हुए, सार्वजनिक जीवन में भी अच्छी तरह भाग लेकर नारियों के अधिकारों के मार्ग को प्रशस्त बनाया।

समाज-सुधार और जन-सेवा में संलग्न जानकी मैया

शहरों में रहने वाले और विशेषतया वे व्यक्ति जिनके घरों में नल लगे हैं, इस बात को जल्दी नहीं समझ सकते कि पानी के अभाव से भी करोड़ों लोगों को कितना कष्ट सहन करना पड़ता है। अमेरिका आदि आधुनिक देशों में तो, जिन स्थानों में पानी की कमी होती है, सरकार समुद्र के पानी को मीठा बनाकर या बाहर से पानी लाकर नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। पर भारत के लाखों गाँवों में जहाँ कुएँ बहुत कम गहरे हैं, अथवा गर्मी में जिनका पानी सूख जाता है, वहाँ के निवासियों को थोड़े से पानी के लिये भी जितना परिश्रम और प्रयत्न करना

पड़ता है, इसको भुक्त-भोगी ही जानते हैं। जहाँ मनुष्यों को भी पीने के लिये जल-कष्ट सहन करना पड़ता है, वहाँ गाय, बैल, घोड़ा आदि पशुओं की क्या दशा होती होगी, इसकी कल्पना से भी मन दुःख से भर जाता है।

ऐसी ही दृश्य जब “जानकी मैया” ने महापुरुष विनोबा के साथ बिहार के गाँवों की पद-यात्रा करते समय देखा तो उसका हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो गया। वह विचार करने लगी कि कैसे खेद की बात है कि ये गरीब लोग पूरा पानी भी नहीं पाते, अथवा दो-दो चार-चार मील से लाकर अपनी प्यास बुझाते हैं, जबकि नगरों में

लाखों व्यक्तियों के यहाँ चाय, शर्बत, कोको-कोला की ही भरमार होती रहती है। उन्होंने यह बात विनोबा जी के सम्मुख प्रकट की। उन्होंने भी इसकी गम्भीरता स्वीकार की और वे इस सम्बन्ध में किसी उपाय पर विचार करने लगे।

उन्हीं दिनों उन्होंने “कांचन-मुक्ति” का सन्देश भी दिया था। इसका आशय यह था कि लोगों में सुवर्ण का जो मोह फैला हुआ है और स्त्रियाँ विशेष रूप से जेवरों के लिये घर के पुरुषों को परेशान करती रहती हैं, उस प्रवृत्ति का त्याग करना चाहिये। इसके कारण मनुष्य का आध्यात्मिक और मानसिक पतन होता है, अनेक प्रकार के संकट उत्पन्न होते रहते हैं। यह विचार एक महिला होने के नाते जानकी मैया को विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत हुआ और वह स्त्रियों में इसका प्रचार करने लगीं। जब “चांदिल-सर्वोदय सम्मेलन” के अवसर पर महिला-सम्मेलन हुआ तो उसने वहाँ उपस्थित सब बहिनों से “कांचन-मुक्ति” की अपील की। उसने कहा कि अब युग बदल गया है और समझदार स्त्रियों को उचित है कि जेवर पहनने की इस असामयिक प्रथा को छोड़ दें।

जानकी मैया के भाषण से प्रभावित होकर एक बंगाली लड़की ने अपनी अँगुली से अँगूठी उतार कर दे दी। इसके पश्चात् अन्य कितनी ही स्त्रियों ने भी एक-एक करके कितने ही जेवर दिये। अन्त में हिसाब लगाकर देखा तो मालूम हुआ कि इस प्रकार २८ तोला सोना प्राप्त हुआ है। जानकी मैया ने वह सब विनोबा जी के सामने लाकर रख दिया और पूछा कि इसका क्या किया जाये? उन्होंने कुछ सोच कर कहा कि “बहनों के प्रेम पूर्वक दिये हुए इस दान का उपयोग ग्रामीण जनता के लिये जल की व्यवस्था के लिये किया जाना अच्छा है। मनुष्य तो जैसे तैसे पानी प्राप्त कर भी लेते हैं, लेकिन पशु बिना पानी के बहुत कष्ट पाते हैं। उनकी सेवा जगह-जगह कुओं का निर्माण किये जाने से अधिक होगी और भूमि भी हरी-भरी बनेगी। इसलिये ‘कूप-दान’ का कार्य आरम्भ करना उचित है।”

अब जानकी मैया ने प्यासे ग्रामीणों के लिये कूप-निर्माण का व्रत ले लिया और घर-घर में जाकर महिलाओं में इस सम्बन्ध में प्रचार करने लगीं। वे जानती थीं कि माताओं में धर्म-भावना विशेष होती है और उसे यदि ठीक ढंग से मोड़ा जायेगा तो वे इस उपयोगी कार्य में भी सहयोग देने लग जायेंगी। इस आन्दोलन के आरम्भ में उनको क्या अनुभव हुआ यह उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

“उस समय मैं गया में थी जहाँ मेरी कोई विशेष जान-पहचान नहीं थी। फिर भी बहनों के पास जेठ-बैसाख

में भी घूमती। तीन-तीन, चार-चार मंजिल पर चढ़ती और अपनी बात समझाती। आजकल माँगने वालों से कोई खुश तो नहीं रहता, पर मुझे तो एक धुन लगी हुई थी। मेरे मन में विचार आया कि १०८ कुएँ हों। सूत की एक ‘लटी’ में तारों की इतनी ही संख्या होती है। पहले महीने में कोई सिलसिला नहीं जमा। निराशा-सी होने लगी। मन उगमगाने लगा कि १०८ की जगह ८ भी हो जायें तो बड़ी बात है। जब मैं कहती कि गायों के लिये पीने को पानी नहीं मिलता तब बड़े घरों की स्त्रियाँ कहतीं कि पानी तो बहुत है। मैंने कहा कि आप एक दिन देहात में चलकर देखो। गया के श्री भूपराज बड़े भावना वाले जमींदार हैं। वह गान्धी के तथा विनोबा जी के बड़े भक्त हैं, लेकिन उनको या उनके घर वालों को यह कल्पना नहीं थी कि दरअसल कुओं के बिना गाँवों में पशु तथा मनुष्यों को कितना कष्ट है। इसलिये उन लोगों को देहात ले जाकर स्वयं देखने का कार्यक्रम बनाया। जब हम वहाँ पहुँचे तो जान पड़ा कि गर्मी के कारण सब जगह सूखा ही सूखा है, पशुओं की हड्डियाँ दिखाई दे रही थीं और बिना पानी चारे के वे बेहाल हो रहे थे।

“गाँव वालों से बातें कीं तो मालूम हुआ कि पचास घरों के बीच केवल एक कच्चा कुआँ है, वह भी बरसात में भर जाता था। उन्हें हर साल नया खोदना पड़ता था। चूना, ईट, सीमेन्ट से पक्का बनाने की शक्ति उनमें नहीं थी। यह हाल देखकर बहनों का हृदय पसीज गया। वे बोलीं—“सौ तोले की जगह हम दस तोले के ही आभूषण पहिन लेंगी, लेकिन कुआँ बनवायेंगी। गाँव वालों ने कहा ‘हम कुआँ खोद लेंगे, ईट बना लेंगे। हमें चूना और सीमेन्ट आदि ही चाहिये।’ हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि यदि गाँव वाले श्रमदान से कुआँ बनालें, तो सामग्री में पाँच सौ रुपया से काम चल जायेगा। १०८ कुओं के लिये कम से कम पचास हजार रुपया चाहिये। गया में लक्ष्मीनारायण डालमिया रहते हैं। साधु-सन्तों के भक्त हैं। उन्होंने १० तोला (एक तोला = ११.६६४ ग्राम) सोना दिया और सत्य देवजी से भी मैंने १० तोला लिया। धीरे-धीरे वहाँ ३६ कुएँ खुदे और ३० के वचन मिले। जब एक दुकान से सीमेन्ट लेने लगे तो लारी वाले बिना किराये के सीमेन्ट पहुँचाने लगे, केवल पेट्रोल लेते थे।

‘विनोबा जी एक महीने का भ्रमण करके रौंची पहुँचे तो मैं भी रेल से वहाँ पहुँच गई। रौंची में भी घर-घर घूमकर समझाने लगी कि विनोबा जी आवें तो उनको कुओं की भेंट दी जाये। १३½ तोला सोना मिला और तीस कुओं के लिये पाँच-पाँच सौ रुपये के वचन मिले। वर्षा

१.१२१ मरकर भी अमर हो गये जो

शुरू हो जाने से कुँएँ बनाने का काम तो नहीं हो सकता था इसलिये सब रकम वहीं पंचों के पास रख कर मैं कलकत्ता चली गई। वहाँ ६१ कुँओं के लिये तीस हजार पाँच सौ रुपये और ४ $\frac{1}{2}$ तोला सोना मिला। यह रकम खादी-भण्डार में जमा करा दी गई। कलकत्ते में सभी लोग परिचित थे। मैं इस तरह घर-घर घूमूँ, यह उनको अच्छा नहीं लगा। वे बोले आपको एक-दो जगह से ही रकम मिल जाये तो काम हो सकता है, फिर इस तरह क्यों घूमती हो? मैंने उत्तर दिया—“पर मुझे तो स्त्रियों में प्रचार और देश की माँग की जानकारी कराने के लिये भी घूमना है।” इसलिये मैं घर-घर जाती ही रही। जब मैं झील पर, जहाँ सबेरे लोग टहलने आते हैं, कुँएँ माँगने पहुँचती तो घनश्यामदास जी बिड़ला हँसकर कहते—“आज मैया जी की झोली में कितने कुँएँ पड़े?” मैं कहती—“आज दो पड़े, आज बहुत कम मिला।” मैं उनसे तो क्या माँगती?”

इस तरह “कूप-दान” का आन्दोलन जगह-जगह फैलाकर उन्होंने धनिक-वर्ग में गरीबों की दशा के प्रति एक प्रकार की सहानुभूति उत्पन्न कर दी। जब वे दिल्ली पहुँची तो लोगों ने कहा कि यहाँ कुँओं का काम नहीं हो सकेगा, यहाँ तो रोज ही चन्दे होते रहते हैं। पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और दो एक स्थानीय कार्यकर्ताओं का सहयोग लेकर घर-घर घूमना आरम्भ कर दिया। एक दिन बाबा राघबदास ने कहा—“पं. जवाहर लाल जी से कुँओं कौन लायेगा।” जानकी मैया इसके लिये तैयार हो गई और जवाहरलाल जी के पास पहुँची। उन्होंने कहा—“आज विनोबाजी का जन्म दिन है। भीष्म पितामह को अर्जुन ने पृथ्वी में बाण मार कर पानी पिलाया था, वैसे ही आप तीर मार कर पाताल फोड़िये जिससे विनोबा जी को पानी ही पानी मिल जाये।” नेहरू जी खूब हँसे उन्होंने खुशी से एक कुँआँ अपने नाम से दे दिया। जब राजेन्द्र बाबू से बात हुई तो उन्होंने भी दो कुँओं का वचन दिया और दूसरे ही दिन एक हजार रुपया भिजवा दिया। राजघाट की प्रार्थना सभा में जानकी मैया ने कहा कि सबेरे तक दिल्ली में ७६ कुँएँ हुए थे, एक जवाहरलाल जी का मिलकर ८० हुए। अब आप कृपया विनोबा जी के इस जन्म दिन पर १०८ की संख्या पूरी कर दीजिये। उसी समय एक सज्जन ने दस कुँओं के लिये ५ हजार रुपया दे दिया और एक गुजराती भाई ने ८ कुँओं का वचन दिया। इस प्रकार ६८ हो गये। पर जानकी मैया अपने उद्योग में लगी रहीं और रात्रि में तभी सोई जब १०८ कुँओं की संख्या पूरी हो गई।

जन्म और बाल्यावस्था के संस्कार

पीड़ित और अभावग्रस्त जनता के लिये इस प्रकार की हार्दिक सहानुभूति और सेवा भावना रखने वाली जानकी मैया का पूरा नाम जानकी देवी बजाज है। वे भारत के स्वाधीनता संग्राम के एक सुदृढ़ स्तम्भ स्वर्गीय जमना लाल बजाज की पत्नी हैं। यद्यपि, जन्म से वे एक मारवाड़ी घराने की अपढ़, गहनों से लदी, परदे में रहने वाली, छुआछूत में बहुत अधिक ग्रस्त बालिका थीं। पर देव ने उनको जमना लाल जी जैसे मनस्वी व्यक्ति की पत्नी बना दिया और महात्मा गाँधी तथा विनोबा जैसे युग-पुरुषों के सान्निध्य में वर्षों तक रहने का उनको अवसर प्राप्त हुआ। इससे उनकी कायापलट हो गई और वे एक रूढ़ि तथा परम्पराओं में ग्रस्त मारवाड़ी स्त्री के बजाय, नये से नये परिवर्तनों, सुधारों और आन्दोलनों की संचालिका बन गईं।

जानकी देवी के पिता जावरा (मध्य भारत) के रहने वाले एक अच्छे व्यवसायी थे। वे पुराने विचारों के और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसलिये आचार-विचार की दृष्टि से बड़े परहेज से रहते थे। उनके घर के चौके में अगर चिड़िया भी घुस जाती तो चौका फिर से धोया जाता था। मक्खी से बचाव करने के लिये परदे टाँगे जाते थे। बाल बच्चे वाली स्त्रियों का पानी अलग रहता था और रसोई उन पृथक् रखे घड़ों से बनाई जाती थी जिनमें से ब्राह्मण नहाकर और रेशम अथवा सन की गीली धोती पहिन कर पानी निकालता था। इसी पानी से बनी रसोई से ठाकुर जी को भोग लगाया जाता था। घर में नल के पानी का उपयोग नहीं होता था। अगर मंदिर जाते समय ऐसे पानी का एक छींटा भी पड़ जाये तो फिर से स्नान करना पड़ता था।

पर निजी आचरण में ऐसा परहेज रखने पर भी वे हृदय के परम उदार और दुःख-कातर व्यक्ति थे। कोई मिलने आता तो उसके मुख दुःख की बात पहले पूछते। जब मालूम होता कि किसी की लड़की का विवाह है, या घर में विशेष खर्च का कार्य होने वाला है, तो पूछते “खर्च वगैरह की व्यवस्था हो गई है?” वह कहता “हाँ दादाजी! सौ एक रुपया की तो तजबीज है, पर” वे समझते कि इसे सौ-पचास रुपये की अभी और जरूरत है। बस उसी समय एकाघ बोरा अनाज और कुछ रुपया दिलवा देते। वे रुपये गिनकर नहीं देते थे। मुट्ठी भर के यों ही दे देते थे। ऐसी सहायता पाने वालों में ब्राह्मण, बनिया, किसान, मजदूर, मुसलमान सभी रहते थे।

ऐसे वातावरण में रहकर जानकी देवी भी पूरी “धार्मिक” बन गई थीं। उसने अपनी जीवन कहानी में लिखा है कि “मैं बहुत छोटी अवस्था से ही एकादशी का व्रत करने लग गई थी। घर में जो पैसे खर्च के लिये मिलते थे उनको मंदिर में बैठे ब्राह्मणों को एक-एक दो-दो पैसा करके दे आती थी। एक दिन मैंने हमारे यहाँ शालिग्राम की पूजा करने वाले पुजारी से पूछा कि किस नाम का जप करने से भगवान प्रसन्न होते हैं? पुजारी ने ‘ॐ नमो नारायण’ का जप करने को कहा। मैं छत पर जाकर यह किया करती। मैंने सुना था कि माला फेरने या जप की बात दूसरे को मालूम होने से पुण्य घट जाता है, इसलिये मैं यह जप चुपचाप ही करती। कोई अच्छा कार्य चुपचाप करना ही ठीक है, यह संस्कार बचपन से ही मुझमें ऐसा जम गया कि उसके सम्बन्ध में दूसरे से कहना या प्रचार करना मुझे अच्छा नहीं लगता।

इस प्रकार जानकी देवी का पालन-पोषण एक ऐसे रूढ़िवादी पर सज्जन स्वभाव वाले परिवार में हुआ कि वह पुरातनतावादी बन गई। मारवाड़ी समाज की स्त्रियाँ प्रायः धार्मिक वृत्ति की होती हैं, पर उनका धर्मभाव अधिकांश में अन्धविश्वास पर आधारित होता है। वही, बात जानकी देवी में भी आ गई। जावरा, मुसलमानी राज था, इसलिये शासन के प्रभाव से वहाँ के हिन्दुओं में भी पर्दा-प्रथा का पालन कड़ाई के साथ किया जाता था। जानकी देवी के पिता पर्दे के विशेष रूप से पक्षपाती थे। जब एकाध बार उनके घर की स्त्रियाँ पैदल ही हनुमान जी के मन्दिर को चली गईं, तो पता लगने पर वे बहुत नाराज हुए। जानकी देवी को भी आरम्भ से ऐसा ही अभ्यास हो गया था और विवाह के उपरान्त वर्धा में भी पर्दे का पालन काफी मात्रा में करती रहीं।

जानकी देवी का रंग सांवला था। चार साल की उम्र में उसको बड़े जोर से चेचक निकली, जिसके कारण वह कई महीने तक कष्ट पाती रहीं। उसकी जान तो बच गई, पर तमाम बदन पर चेचक के दाग पड़ गये और रंग और भी काला हो गया। एक प्रकार से वह बहुत-कुरूप हो गई। वे लिखती हैं कि विवाह हो जाने के बाद वर्धा में भी अपने रूप के कारण मैं किसी से मिलने में भी संकोच करती थी। यहाँ तक कि मुझे दर्पण में अपना मुख देखने में भी संकोच होता था। उधर जमनालाल जी काफी गोरे और सुन्दर थे। इसलिये विवाह का निश्चय होते समय इस बात की बराबर चर्चा होती रही कि लड़के-लड़की की जोड़ी तो ठीक नहीं मिलती। पर जमनालाल की दादी सदीबाई इस बात को कुछ भी महत्त्व नहीं देती थीं। जब जमनालाल की माँ ने कहा कि “हमारा लड़का तो गोरा

और सुन्दर है, उसकी बहू भी सुन्दर लानी चाहिये, तो सदीबाई ने उत्तर दिया—“बेटी! हम दोनों सुन्दर तो हैं, पर सन्तान के लिये तो तरसती ही रह गई (जमनालाल जी अन्यत्र से गोद लाये गये थे)। तेरी भाभी को देख कि है तो काली कुरूप पर उसने सात रतन (संतानें) दिये हैं। हमको तो ऐसी लड़की चाहिये जिससे वंश की वृद्धि हो। रूप में क्या रखा है।”

आजकल की हालत देखकर सदीबाई का कथन याद आता है। इस समय रूप और उसके साथ नये से नये फैशन की ही पूछ है। चरित्र और गुणों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। लड़के स्वयं चाहे काले कुरूप हों पर पत्नी तो सिनेमा की अभिनेत्रियों के समान सुन्दर ही ढूँढ़ते रहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण वर्तमान समय में साँवले रंग की और सुन्दरता रहित लड़कियों के अभिभावक उनके विवाह के सम्बन्ध में कितने चिन्तित रहते हैं, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। ऐसी लड़कियाँ प्रायः विधुर व्यक्तियों के साथ ही ब्याहनी पड़ती हैं, अथवा उनके साथ बहुत अधिक दहेज का लोभ देकर विवाह ठीक करना पड़ता है।

विवाह और प्रगति के पथ पर

जानकी बाई का विवाह मारवाड़ी समाज की तत्कालीन प्रथाओं के अनुसार नौ वर्ष की आयु में ही हो गया था। उस समय जमनालाल जी तेरह वर्ष के थे। इतनी कम उम्र में विवाह होने के पश्चात् लड़की प्रायः चार वर्ष पिता के घर पर ही रहा करती है, जिससे दाम्पत्य-जीवन तेरह चौदह वर्ष की आयु तक आरम्भ हो पाता है। पर जमनालाल जी के बाबा बच्छराज जी को घर के सूना होने के कारण बहू को बुलाने की जल्दी पड़ी रहती थी। इसलिये विवाह के पश्चात् उसका पीहर में रहना कम ही हो सका। घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ चाहती हैं कि इस तरह पास रहने से बाल पति-पत्नी में प्रेम उत्पन्न हो जायें जो आगे चल और भी सुदृढ़ हो सकेगा। पर जमनालाल जी और जानकी बाई भी बाल्यावस्था में बड़े संकोची और शर्मीले स्वभाव के थे, इसलिये सब तरह से कोशिश करने पर भी वे एक दूसरे से बोलने का साहस नहीं करते थे। धीरे-धीरे कई वर्ष बाद जब घर के सब वृद्ध-जन एक-एक करके मरते गये तब इनकी झिझक टूटी और गृहस्थी का सारा बोझ अपने ऊपर आ पड़ने से स्वमेव ही मिल-जुल कर सब व्यवस्था करने लगे। पर अब भी जानकी देवी का रूढ़िवादी स्वभाव कायम था। वह पतिव्रत धर्म का पूर्ण रूप से पालन करना चाहती थी, इसके लिये उसका तरीका वही पुराना रहा। पति की पूजा करना, उसका पादोदक लेना, उसकी जूठी थाली में भोजन करना

१.१२३ भरकर भी अमर हो गये जो

आदि । वह प्रायः “स्त्री धर्म” का वर्णन करने वाली पुराने ढंग की पुस्तकों को पढ़ा करती थी और समझती थी कि उनमें जो कुछ लिखा होता है, वह सब भगवान का ही लिखा हुआ है । इसलिये वह उन बातों का अक्षरशः पालन करने की चेष्टा करती थी । इस सम्बन्ध में उसमें जो कुछ है, उससे भारतीय नारी की स्वेच्छापूर्वक बन्धनग्रस्त स्थिति पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

“पहली बात जिसका मुझ पर असर हुआ वह यह कि पति या बड़ों के बाद ही भोजन करना चाहिये । मैं ऐसा ही करने लगी । बच्छराज जी और जमनालाल जी प्रातःकाल बादाम का हलुआ और कुछ नमकीन खाकर काम में लगे जाते थे, और मेरे लिये भी ये चीजें ऊपर भेज देते थे । बच्छराज जी नौकरानी से पूछते भी रहते थे कि “बीनणी (बहू) ने कलेवा कर लिया क्या ?” मैं बिना कलेवा किये ही ‘हाँ’ कहला देती और अपने पूजा-पाठ तथा सीने-पिरोने में लगी रहती । जब बच्छराज जी तथा जमनालाल जी दोपहर को भोजन कर चुकते तभी मैं भोजन करती । इसमें दो बज जाया करते थे । नियम पालन का इतना ख्याल रखती कि कभी कोई चीज खाने की इच्छा भी हो जाती तो भी उसे मुँह में डालने से बचती । पीहर में तो मैं दिन भर में कई बार खा-पी लेती थी । पर अब तो खाना पीना पति-भक्ति की भावना के अनुसार होने लगा । दूसरे मैं पति की झूठी थाली में भोजन करने को पतिभक्ति समझती थी । इसलिये जमनालाल जी की थाली रखवा लेती और उसी में भोजन करती ।

“इस प्रकार अनियमित भोजन का मेरे शरीर पर खराब असर होने लगा । मेरे पेट में गाँठें बनने लगीं, जिससे टट्टी जाने में कष्ट होता था । शर्म के कारण यह बात किसी से कहने में संकोच करती थी और यह सोचकर रह जाती थी कि इसमें दूसरा कोई क्या करेगा ? परिणाम यह हुआ कि मुझे मस्से की बीमारी (बवासीर) हो गई जो बाद में बढ़ती ही गई ।

“जमनालाल जी अपने बगीचे में शिवजी की पूजा करते थे और रुद्राक्ष की माला गोमुखी में डालकर जप करते थे । उनके कमरे में योगियों के चित्र भी टँगे रहते थे । जब जमनालाल जी से मेरा परिचय बढ़ गया तब मैंने कहा कि पूजा घर पर ही किया करें । उन्होंने यह मान लिया और पूजा का सामान बगीचे से घर मँगवा लिया । वे स्नान करके पूजा पर बैठते और मैं उनकी धोती धोकर फिर उनकी पूजा भी करती । मैंने पढ़ा था कि पति का पादोदक, जैसे वैष्णवों में गुरु का लेते हैं, लेना चाहिये और सफेद फूल से पूजा करनी चाहिये । इसलिये मैंने एक गमला

ऊपर रख लिया था । उसमें से नित्य एक फूल लेकर पति पर चढ़ाती और श्लोक का पाठ करते हुए चाँदी की कटोरी में उनके दाहिने पैर के अँगूठे को धोकर उस जल को पी जाती थी ।

जमनालाल जी को ये दोनों क्रियायें—जूठी थाली में भोजन करना और अँगूठे को धोकर पीना, अच्छी नहीं लगती थी । जूठी थाली में भोजन करना तो कुछ समय बाद बन्द ही कर देना पड़ा । एक तो उनको यह नापसन्द था और दूसरे जूठे थाल पर मक्खी आदि बैठती थीं सो मुझे भी ठीक नहीं लगता था । पर पादोदक का लेना मेरे आग्रह के कारण चलता रहा । जब वे जेल चले जाते तब भी मैं उनका पादोदक शीशी में भरकर रख लेती और जब कभी उनसे मिलने जाती चुपचाप पैर धोकर ले आती ।

“एक बार हम लोग चित्रकूट गये थे । वहाँ की मिट्टी का कण-कण पवित्र माना जाता है । वहाँ की मिट्टी मैं लाना चाहती थी । पर मिट्टी लाने में मेरा दूसरा उद्देश्य यह था जमनालाल जी के पैरों की रज और भी पवित्र रहेगी । इसलिये जब तक हम वहाँ रहे, मैंने एक काम यह किया कि जब भी वह बाहर से आते, उनका दाहिना अँगूठा धोकर उसे वहाँ की मिट्टी में मिलाकर पेड़े-से बना लिया करती । आज भी ये पेड़े मेरे पास रखे हैं । प्रतिदिन स्नान के बाद अब भी उसका एक कण मुँह में रख लेती हूँ ।

पतिभक्ति कोई बुरी चीज नहीं है, पर क्या उसका पालन ऐसी अविवेक पूर्ण बाढ़ क्रियाओं से ही हो सकता है ? क्या करोड़ों हिन्दू और अन्य जातियों की स्त्रियाँ जो ऐसा नहीं करतीं, पतिव्रता नहीं हैं ? हमने सैकड़ों यूरोपियन स्त्रियों का हाल पढ़ा है जिन्होंने जीवन भर पति का हर तरह की कठिनाइयों में साथ दिया है और उसके साथ ही प्राण भी त्याग दिये हैं । हमको उस अंग्रेज महिला का किस्सा याद आता है जिसे “टिटैनिक” जहाज के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने पर पति ने जबर्दस्ती “प्राण रक्षक नौका” में बैठा दिया था, पर स्थान की कमी से वह स्वयं डूबते हुए जहाज पर ही ठहरा रहा । यह देखकर स्त्री से न रहा गया और जैसे नाव चलने लगी कि वह कूदकर पुनः जहाज पर आ गई और पति से कहने लगी जब हम आजीवन एक साथ मिले हुए रहे हैं तो अब मृत्युकाल में पृथक क्यों हों । बस, वे दोनों ही अपने कमरे में चले गये और शांतिपूर्वक जलराशि के भीतर समा गये ।

क्या इस तरह जीवन के अंतिम क्षण तक पति के प्रणय-सूत्र में बँधी रहने वाली अंग्रेज महिला इस कारण पतिव्रता नहीं कही जायेगी कि वह पति का अँगूठा धोकर पादोदक नहीं लेती ? इस प्रकार की बातों को सिवाय

अन्धविश्वास के और कुछ नहीं कहा जा सकता। जानकी देवी भी जब गाँधी जी के साबरमती आश्रम में रहने लगीं और उनके उपदेश से उसने सभी गहनों का त्याग कर दिया तो वह इस सम्बन्ध में ऐसी लापरवाह हो गई कि अनेक बार चूड़ियों के टूट जाने पर एक-दो दिन बिना चूड़ियों के ही बिल्कुल खाली हाथ रह जाती थीं। इससे एकाध बार अन्य स्त्रियों को उसके पति का 'अमंगल' होने का सन्देह भी हो गया। गाँधी जी की पत्नी कस्तूरबा भी चूड़ियों से कभी खाली हाथ नहीं रखती थीं। वह कहा करती थीं कि जानकी देवी तो गाँधीजी को और भी बढ़ावा देती है। शायद किसी दिन वे कहने लग जायें कि "देखो, जानकी बहन तो चूड़ी भी नहीं पहनती, तुम इसके लिये क्यों इतना आग्रह करती हो?"

सच्ची पतिव्रता वही है जो पति के अनुकूल चले और उसके कार्यों तथा विचारों को पूरा करने में सहयोग दे। जमनालाल जी की मृत्यु के बाद जब जानकी देवी ने सती होने की इच्छा प्रकट की तो गाँधीजी ने उनसे यही कहा कि पति के साथ जल मरना कोई बहुत बड़ी प्रशंसा की बात नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि तुम्हारे पति ने जिन कार्यों को पवित्र मानकर उनके लिये अपना जीवन अर्पण किया था, तुम उन अधूरे कामों को पूरा करने में अपना तन, मन, धन सब कुछ समर्पण कर दो, और उसकी पूर्ति में तिल-तिल करके अपने जीवन की आहुति दो। यही सच्चा पतिव्रत और सतीत्व है।

सोना चाहे भगवान हो या शैतान, पर त्यागने योग्य है

एक बार जब जानकी देवी ने अपने घर पर आये एक मेहमान की कमर में सोने की तागड़ी (करघनी) देखी। मारवाड़ियों में यह भी धनवानों में प्रचलित है। जानकी देवी ने जमनालाल जी से कहा—“वे भी सोने की तागड़ी पहना करें उन्होंने उत्तर दिया—“सोना तो भगवान का रूप है, उसे कमर के नीचे नहीं पहनना चाहिये।” इस पर वह चुप हो गई और उसके सामने यह प्रश्न खड़ा हो गया कि वह स्वयं क्या करे? मारवाड़ी महिलाओं का गहनों का प्रेम प्रसिद्ध ही है। वे सर से पैर तक जेवरों से लदी रहती हैं जिनकी तोब प्रायः तो पहुँच ही जाती होगी। पर और सब गहनों की अपेक्षा भी तागड़ी का स्थान कुछ ऊँचा माना जाता है। जानकी देवी भी विवाह के बाद से ही तागड़ी पहनती आई थीं। पर अब पति के मुख से यह सुन कर कि सोना तो भगवान का रूप है क्योंकि भगवान का एक नाम 'हिरण्य गर्भ' भी है और 'हिरण्य' का अर्थ सोना ही है, उसकी “धर्मश्रद्धा” जागृत हो उठी। वह कहने लगी

कि जब सोना भगवान स्वरूप है तो मैं भी उसे कमर के नीचे कैसे पहन सकती हूँ? उधर तागड़ी का मोह भी जोर मारता था कि अपने समाज में सभी इसे पहनते हैं मैं इसके बिना न जाने कैसी लगूँगी। पर अन्त में “धर्म-भावना” की ही जीत हुई और उसने तागड़ी को सदा के लिये त्याग दिया।

इसके कुछ समय बाद ऐसा समय आया जब गाँधी जी के कार्यक्रम ने जोर पकड़ा और उन्होंने उस सिलसिले में कहा—“सोना कलि रूप है। दूसरों में ईर्ष्या पैदा करता है, खो जाने का और चोरी का डर रहता है, शरीर पर मैल जम जाता है, नाक, कान से दुर्गन्ध आती हैं। इससे देश के मूलधन में भी कमी पड़ती है।” जमनालाल जी गाँधी के अनन्य अनुयायी ही क्या उनके पाँचवें पुत्र बन चुके थे। इस निर्णय को सुनकर उन्होंने जानकी देवी को पत्र में लिखा—“बापू का आदेश है कि गहने त्याग दो।” इस पत्र को पढ़कर उसकी क्या मनःस्थिति हुई इसका वर्णन करते हुए जानकी देवी ने स्वयं लिखा है—

“जमनालाल जी की चिट्ठी तो मेरे लिये वेद-वाक्य की तरह थी। अगर वह यह बात मेरे सामने कहते तो मैं शायद बहस भी करने लगती पर उन्होंने बापूजी का आदेश लिखकर भेज दिया तो मैं क्या करती। चिट्ठी मेरे सामने रखी थी और मैं एक-एक गहना उतारती जाती थी। मारवाड़ी स्त्रियों में पैर के कड़े कभी नहीं खोले जाते। गरीब से गरीब भी पैर में हलका भारी कड़ा पहनते हैं। पर मुझे जब कोई गहना पहनना ही नहीं तो इस झूठे मोह को भी त्याग दिया। कड़ा निकाल देने पर सबको आश्चर्य हुआ और कई स्त्रियाँ मुझे बिना कड़ों के देखने भी आईं।

घूँघट कैसे हटा ?

वर्धा में अग्रवाल महासभा का अधिवेशन होने वाला था। उसके लिये जमनालाल जी ने भाषण तैयार किया उसमें पर्दा-प्रथा के विरोध में भी कुछ कहा गया था। वे जानते थे कि मैं, मेरी देवरानी तथा घर की अन्य स्त्रियाँ घूँघट निकालती हैं। जमनालाल जी जो कुछ कहते थे, उसकी शुरुआत अपने घर से करते थे। इसलिये उनकी नजर हम पर जाना स्वाभाविक था। हमारी स्थिति बड़ी विचित्र थी। घूँघट संस्कार एक-दो दिन या एक-दो पीढ़ियों का थोड़े ही था? वह एकाएक कैसे छूटे? घूँघट की प्रथा तो अभी तक बहुत जगह कायम है। राजस्थानी समाज में घूँघट प्रतिष्ठा, सभ्यता और कुलीनता का चिह्न माना जाता था।

१.१२५ मरकर भी अमर हो गये जो

जमनालाल जी श्रीकृष्णदास जाजू को अपने बड़े भाई की तरह मानते थे। उन्होंने जाजूजी से कहा—“आपको घर की स्त्रियों से बात करनी चाहिये और उनमें संस्कार डालने चाहिये। वे निचली श्रेणी यानी नौकरों-चाकरों से ही बात-चीत करती हैं। इससे उनमें ऊँचे विचार कैसे आयेंगे? आप जैसे लोगों को संकोच छोड़कर उनके संकोच को भी दूर करना चाहिये।” पर जाजूजी इस तरह कहने से कब बोलने वाले थे। उनसे कोई स्वयं बोल सकते थे।

“अंत में जमनालाल जी ने अपने जन्म-पिता कनी रामजी को तैयार किया और ऊपर आकर हमसे बोले—“अपने घर में घूँघट छोड़ते हैं। सो पहले काकाजी से ही शुरूआत करनी है। नीचे चलो, काकाजी को मैं तैयार करके आया हूँ।” मैंने अपनी देवरानी से कहा “बीनणी, सुसराजी के पास चलणो है।” उसने उत्तर दिया—“जिठाणी जी, आगे तो आपणों ही चालणों पड़सी।” बड़ा संकट था। हम कैसे उनके सापने जातीं। हम तो यह सुनकर ही पसीना-पसीना हो गई। खैर, किसी तरह हम दोनों उनके पास गई। कुछ नहीं किया कि भाग आई। उन्होंने हमको आशीर्वाद दिया “सुखी रहो बेटा।” वह भी पसीने से तर हो गये थे। हमारे घर में यह प्राचीनता के अन्त और नवीनता के उदय का संधिकाल था। एक बार पहाड़ की चोटी पर चढ़ जाना भी सहज होता, समुद्र पार जाना भी सम्भव हो जाता, पर उस समय हमारे घर में ससुर के सामने बिना घूँघट किये बोलने को पहुँच जाना बहुत बड़ी बात थी।

“इसके बाद माथे पर सोने का ‘बोर’ लगाना छूटा और तब घाघरे लैहंगों में बदलने लगे। वे घाघरे चालीस से पचास गज तक के होते थे और उनमें तीन सौ से लगाकर चार सौ तक कलियाँ होती थीं। चार सौ कलियों का घाघरा तो मैं भी पहन चुकी हूँ। ऐसे बड़े घाघरे बहुत दिनों तक धुलते भी न थे।

“मेरा घूँघट छूट गया तो मुझे दूसरी बहनों का घूँघट खुलवाने की धुन लग गई। कई बहनों को तो मैं घूँघट खुलवाकर सभाओं के मंच पर खींच लाई। जहाँ-जहाँ मैं गई वहाँ मेरा यही काम हो गया। इसके कुछ ही दिन बाद कलकत्ते में “मारवाड़ी महिला सम्मेलन हुआ। वहाँ वालों ने मुझे अध्यक्ष बनाया। उस अवसर पर बापूजी ने एक बड़ा सुन्दर संदेश पर्दा-प्रथा तोड़ने के लिये मेरे द्वारा भेजा।

वर्धा २५-१०-३६

प्रिय भगिनि,

आप बहनों से पर्दा तुड़वाने कलकत्ता जा रही हैं, इसलिये धन्यवाद।

पर्दा बहम ही नहीं है, मुझे उसमें पाप की गंध आती है। पर्दा किससे रखें? क्या पुरुष-मात्र विषयासक्त रहते हैं? क्या स्त्रियाँ अपनी पवित्रता बिना पर्दा के नहीं रख सकतीं? पवित्रता मानसिक बात है, सभी स्त्री-पुरुषों में सहज होनी चाहिये। भाई इस बुद्धि-प्रधान युग में स्त्री धर्म की रक्षा करना चाहती है तो उसे दरिद्रनारायण की सेवा करनी होगी, शिक्षण लेना होगा। दरिद्रनारायण की सेवा का अर्थ है खादी का प्रचार, सूत कातना आदि। हरिजन-सेवा का अर्थ है अस्पृश्यता रूपी कलंक को धोना, ये दो बड़े भगवान के कार्य हैं, और विद्या पाने का कार्य भी पर्दा रखने से कभी नहीं चल सकता।

क्या पर्दा रखकर सीता रामजी के साथ जंगलों में भटकी होंगी। सीता से बड़ी पवित्र स्त्री जगत में कभी हुई है? बहनों में कहो, पर्दा तोड़ो और धर्म को रखो।

आपका

मोहनदास गाँधी

इसके बाद भी जानकी देवी ने समय-समय पर अनेक बहनों का घूँघट खुलवाया। फिर जब एक बार लहर चल पड़ी तो एक से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में यह विचार फैलता चला गया। आज मारवाड़ी समाज में पर्दा का प्रचार जो बहुत घट गया है उसका श्रेय जानकी देवी जैसी प्रचारिकाओं को ही है जिन्होंने आज से चालीस वर्ष पहले समाज और परिवार वालों के विरोध तथा लोगों की बुरी लगने वाली टीका-टिप्पणी को सहन करके इस कार्य को आरम्भ किया था। बाहर वाले तो क्या स्वयं जमनालाल जी की माता कहती थीं कि “जब पर्दा करती थी तो ऐसा, कि कोई एक नाखून भी न देख सके और अब छोड़ा तो ऐसा कि पुरुषों की सभा में मंच पर खड़े होकर व्याख्यान देने लगी।” इसके उत्तर में जानकी देवी हँसकर कहती—“मैं क्या करूँ, जिसको आपने जन्म दिया है उसी अपने बेटे से कहो। जो वह कहें मुझे तो वही करना पड़ेगा।” जानकी देवी का गहना उतार देना भी उनको अच्छा नहीं लगा। वह कहतीं—“इस लड़की ने तो सब गहना उतार कर रख दिया और मैं बूढ़ी पहनती रहती हूँ, यह क्या अच्छा दिखाई पड़ता है?”

तो भी इनके त्याग का प्रभाव तो सब पर पड़ता ही था। इनके ससुर (जमनालाल जी के पिता) देवली में काम करते थे। एक बार जानकी देवी ने वहाँ की कांग्रेस द्वारा आयोजित सभा में व्याख्यान देते हुए कहा कि तम्बाकू, बीड़ी पीना अच्छा नहीं। जब इनके ससुर ने यह बात सुनी तो कहने लगे—“बहू तो लोगों की तम्बाकू पीने से रोकती

है, तब मैं उसे कैसे पीऊँ ।” बस उसी दिन से उन्होंने हुक्का आदि का त्याग कर दिया ।

पर रूढ़िवादी लोगों में से अनेक अपनी धुन के पक्के होते हैं । जमनालाल जी के पुरोहित और मन्दिर के पुजारी “जोशीजी” ने जब यह सुना कि सेठानी जी (जानकी देवी) ने पर्दा छोड़ दिया है और कांग्रेस के प्रचार कार्य में चारों तरफ घूमकर व्याख्यान देने लगी हैं, तो उनको बड़ा बुरा लगा । उन्होंने प्रतिज्ञा करली कि “सेठानी जी न तो मेरे सामने आवें, न मुझसे बात करें, नहीं तो मैं कुएँ में गिर कर जान दे दूँगा या बर्धा छोड़कर चला जाऊँगा !” जब वे जानकी देवी को इधर-उधर देखते तो कहीं अन्यत्र जाकर छिप जाते । वे परम्परावादी थे और घूँघट में प्रतिष्ठा समझते थे । जानकी ने स्वयं भी उनके सामने जाना छोड़ दिया था क्योंकि वे ऐसे “कट्टर” लोगों के कारण अपना समय या काम खराब करना नहीं चाहती थीं ।

जब गाँधी जी के आदेश से जमनालाल जी ने अपने मन्दिर का दरवाजा अछूतों के लिये खोल दिया तो जोशीजी ने मन्दिर जाना ही छोड़ दिया । पच्चीस वर्ष तक उन्होंने मन्दिर के भीतर कदम नहीं रखा । वे इसके लिये गाँधी जी की भरपेट बुराई करते रहते थे । अन्त में जमनालाल जी की ग्यारहवीं श्राद्ध तिथि के अवसर पर वे मन्दिर में आये । वे कहते थे कि “मुझे सेठानी की प्रेरणा ही मन्दिर में ले लाई ।” कुछ भी हो जानकी देवी उनके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था निरन्तर करती रहीं ।

महात्मा गाँधी देश की नब्ब को सबसे अधिक पहिचानते थे और उन्होंने चुन-चुन कर ऐसे कार्यक्रम चालू किये थे जिनसे देश का सार्वजनिक विकास हो । वे जानते थे कि केवल राजनीतिक आन्दोलन से स्वराज्य नहीं मिलेगा और यदि वह किसी प्रकार मिल जाये तो उससे लाभ नहीं उठाया जा सकता । जब तक यहाँ के स्त्री-पुरुष में अनेक प्रकार के दोष बने रहेंगे, जब तक हानिकारक रूढ़ियों से उनका पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक वे प्रगति के पथ पर कदापि अग्रसर नहीं हो सकते । इसलिये उन्होंने महिलाओं की जागृति, अछूतोद्धार, सादा रहन-सहन, धार्मिक उदारता, श्रमजीवियों से सद्व्यवहार आदि अनेक लोक हितकारी प्रवृत्तियों को जन्म दिया था और उनके माध्यम से भारतीय जनता को सशक्त तथा कर्तव्य-परायण बनाने का प्रयत्न किया था ।

इन सब कार्यक्रमों में “महिला-जागरण” का आन्दोलन किसी दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था । स्त्रियों के पिछड़े और संकीर्ण विचारों की होने के कारण हमारे अनेक आन्दोलन अकाल में ही समाप्त हो जाते थे । स्त्रियाँ

स्वयं तो ऐसा कोई सार्वजनिक हित का कार्य करती ही नहीं थीं, साथ ही घर के पुरुषों को भी ऐसे कार्यों में सम्मिलित होने से बराबर रोकती रहती थीं । वे सार्वजनिक कार्यों को व्यर्थ के काम समझती थीं और यह विचार करती थीं कि भाई पुरुष ऐसे कामों में पड़ गये तो धन और समय की ‘बर्बादी’ होगी । वे तो यही चाहती थीं कि पुरुष अपनी सारी शक्ति घर के कार्यों, स्त्री बच्चों को आराम पहुँचाने में ही खर्च करता रहे । देश और समाज के सभी कार्य उनकी दृष्टि में व्यर्थ ही थे ।

इसलिये असहयोग आन्दोलन के आरम्भ में ही महात्माजी ने “नारी-जागरण” का शंखनाद किया । उन्होंने कहा कि यदि देश की आधी जनसंख्या इस प्रकार स्वाधीनता संग्राम से सर्वथा पृथक् और उदासीन बनी रहेगी, तो भारतवर्ष कभी सच्चे अर्थों में स्वाधीन न बन सकेगा । मातृभूमि के उद्धार का कार्य केवल पुरुषों का ही नहीं वरन् उनकी पत्नियों को भी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये । जब तक स्त्री अपने पतियों, भाइयों और पुत्रों के साथ बराबर कदम बढ़ाते हुए प्रगति पथ पर अग्रसर न होगी तब तक हमारी कोई योजना पूरी तरह सफल नहीं हो सकेगी । नारी तो शक्ति का स्वरूप है, जब तक वह पुरुष का साथ नहीं देगी, उसे प्रोत्साहित न करेगी, विजयी होकर लौटने पर उसका प्रेमपूर्वक स्वागत नहीं करेगी तब तक पुरुष पूरे अन्तःकरण से स्वाधीनता समर में भाग न ले सकेंगे । अतएव नारी-जागरण बहुत ही आवश्यक कार्यक्रम है ।

इस कार्य में जानकी देवी उनकी बहुत बड़ी सहायिका सिद्ध हुई । वह समाज में एक उच्च स्तर के घर की महिला थीं, स्वयं प्राचीन परम्परा की दृढ़ अनुयायी थीं और फिर गाँधी जी के उपदेशों से स्वाधीनता संग्राम की कार्यकर्त्री बनी थीं, इसलिये “महिला-मंडल” पर उसका खूब प्रभाव पड़ता था । उन्होंने वैसे तो सार्वजनिक रूप से जो कार्य किये वे सभी के लिये हितकारी थे, पर अपने जातीय सम्बन्धों के कारण मारवाड़ी स्त्रियों में उसका खूब प्रभाव पड़ता था । उन्होंने इसका उपयोग मारवाड़ी बहनों को जमाने में किया और यह बड़ा कल्याणकारी सिद्ध हुआ । इससे दूसरा लाभ यह भी था कि जेवर छुड़ाने के साथ ही, वह उन स्त्रियों से कांग्रेस के लिये चन्दा वसूल करने में भी अद्वितीय सिद्ध हुई । इस प्रकार वे एक साथ दो उद्देश्य सिद्ध करती थीं । गहने की हानिकारक प्रथा का उन्मूलन और उसमें से बचने वाले पैसे में से कुछ का उपयोग देश और समाज सेवा के कार्यों के लिये करना । अपनी इस शक्ति का उपयोग करके ही उन्होंने “कूप-दान” के आन्दोलन को सफल बनाया था ।

साबरमती आश्रम में

पर यह शक्ति भी जानकी देवी को अनायास प्राप्त नहीं हो गई। इसके लिये उसे साबरमती आश्रम में रहकर काफी 'तपस्या' करनी पड़ी थी। उसने न तो पीहर में हाथ से कोई काम किया था और न वर्धा आकर उसे कोई काम करना पड़ा। सब काम नौकर ही करते थे। इसलिये जब जमनालाल जी ने बच्चों और स्त्री के सुधार और शिक्षण की दृष्टि से साबरमती में रहने का निश्चय किया, तो उन्होंने गाँधीजी से यह भी कह दिया कि आश्रम के नियमों के अनुसार जानकी देवी का निभाव कठिन होगा। इस बात को समझ कर गाँधीजी ने जमनालाल जी को आश्रम की हद के बाहर एक मकान रहने को दिया जिससे जानकी देवी आश्रम के समस्त नियमों का एकदम पालन करने से बची रहे, पर निकट सम्पर्क में रहने से धीरे-धीरे वहाँ के नियमों का पालन करना सीख जाये। तो भी जानकी देवी को अपनी अनुभवहीनता के कारण कितनी परेशानी उठानी पड़ी, इसका वर्णन करते हुए उसने लिखा है—'हमने सुन रखा था कि आश्रम में किसी प्राणी को—सोंप-बिच्छू तक को नहीं मारा जाता है। वहाँ कुत्ते भी बहुत थे। हर क्षण उनके कारण परेशानी रहती। मेरी हालत तो और भी खराब थी। वर्धा में हम ऊपर बैंगले में रहते थे, नीचे चौक में पहरा रहता था। दरवाजे आदि बन्द रखने की भी हमारी आदत न थी। आरम्भ में हम कोठार से सामान लाते, पर कुत्ते आते और सामान ले जाते। इस तरह वे हिल गये। एक दिन एकादशी का व्रत था, शहर आश्रम से चार मील दूर था। नौकर फल वगैरह लेने शहर गया। मैंने और मेरी ननद गुलाबबाई ने सोचा कि कुएँ से पानी ले आवें नहीं तो अँधेरा हो जाएगा। आश्रम की दौड़ धूप के कारण भूख भी जोरों से लगती थी। बरामदे में सब तैयारी करके रखी कि रामकृष्ण (छोटे पुत्र) पाबन्दी में चप्पल डाल दी। अब प्रश्न उठा कि अँधेरे में पानी लेने कौन जाये? हम विचार कर ही रहे थे कि कुत्ता आकर दूध को 'लप-लप' पीने लगा। अब यह चिन्ता हुई कि दुबारा दूध कहाँ मिलेगा, इतने में दूसरा कुत्ता आकर अंजीर के माल उठाकर ले भागा और तीसरा पपीता उठा ले गया। इस प्रकार फलाहार की व्यवस्था गड़बड़ हो गई और उधर संध्या की प्रार्थना का समय हो चुका।

"रसोई घर बन्द करके रखने की हमारी आदत नहीं थी। मक्खन निकाल कर तवेली में रखकर कोठार में दूसरा सामान लेने जाती कि कुत्ते आकर मक्खन ले जाते।" एक दिन आश्रम की बेला बहन खाना-पीना करके हमारे यहाँ आई। आते ही उसने कहा कि "अभी

तक तुम लोगों का भोजन भी नहीं हुआ। चलो मैं रोटी बना देती हूँ। मैं बेसन पीस कर लाई तब कढ़ी बनी। बेला बहन रोटी बनाकर जाने लगी कि इतने में एक कुत्ता लपक कर, जितनी उसके मुँह में आई उतनी रोटी लेकर भाग गया। हम सब पहले दिन के भूखे थे, बची हुई रोटियाँ खाकर ही भूख बुझाई।" बेला बहन ने ये सब बातें किशोरलाल भाई से कहीं। उन्होंने अपने धर्म गुरु केदारनाथ जी से कहा कि "जमनालाल स्वयं तो रसोइया और नौकर लेकर इधर-उधर चले गये हैं, और स्त्री-बच्चों को यों ही छोड़ गये हैं।" मैं समझती थी कि जमनालाल जी जानबूझ कर ऐसा करते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि स्त्रियों को अपने घर की रसोई बनानी आनी चाहिये। मुझे रसोई बनानी आ जाये इसी दृष्टि से वे रसोइया को अपने साथ ले जाते थे।

"केदारनाथ जी ने आकर देखा कि दो कुत्ते एक कमरे में बैठे हैं बाकी सब बरामदे में हाजिर हैं। उन्होंने छोटे-छोटे पत्थरों का ढेर इकट्ठा किया और कुत्तों पर फेंकना शुरू किया। वे पत्थर इस तरह फेंकते थे कि कुत्तों को चोट तो नहीं आती, पर वे डर जाते थे, कुत्ते सचमुच उतना डर गये कि फिर वहाँ आना ही भूल गये। इससे हमने भी यह सबक सीख लिया। बाहर से कठोरता और भीतर से नम्रता का यह गुण हमने प्रत्यक्ष देख लिया।"

जानकी देवी के अनुभव से मालूम पड़ता है कि जिन बड़े लोगों को बहुत सुखी और शान से जीवन बिताने वाला समझा जाता है उनकी दशा बड़ी असहाय और दयनीय होती है। कोई खास परिस्थिति आ जाने पर अथवा आवश्यकता पड़ जाने पर उनकी कैसी दुर्दशा होती है, यह उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जब वह बच्चों को साथ लेकर नदी में कपड़े धोने जाती है तो बड़ी लड़की कपड़ा गिराती जाती। कपड़े अधूरे ही धोये जाते तब तक आश्रम की कोई घंटी बज जाती और भागना पड़ता। कभी किसी गाय आदि से सामना पड़ जाता तो भागना पड़ता या दूसरे से सहायता माँगनी पड़ती। स्फ्रांश यह कि जो लोग अपने हाथ से काम करना नहीं सीखते, केवल नौकरों के भरोसे जीवन व्यतीत करते हैं, उनको तनिक सा परिवर्तन होने पर ही बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, और रोना-झींकना पड़ता है। अनजान लोग समझते हैं कि "बड़ा आदमी" होने में बड़ा आराम और सुख है, पर वे केवल बाह्य दृष्टि से ही देखकर ऐसा कहते हैं। यदि वे अन्तःदृष्टि से भी देखना जानते तो उनको मालूम पड़ता कि "बड़े आदमी" वास्तव में छोटे लोगों की अपेक्षा भी असन्तुष्ट, अशान्त और भयभीत रहते हैं। ऐसे लोग सच्चे सुख के कभी दर्शन भी नहीं कर पाते।

आश्रम-जीवन का प्रभाव और श्रम आदत

पर जानकी देवी की हार्दिक आकांक्षा थी कि वह गांधी जी के बतलाये सच्चे जीवन मार्ग पर चले इसलिये वह सब कठिनाइयों और परेशानियों को सहन करते हुए भी उत्साह से वहाँ के कार्यों में सहयोग देती रही और अपने हाथ से काम करने का ढंग सीखती रही। वहाँ के वातावरण के प्रभाव से उनका मन भी दूसरों की तरह पढ़ने-लिखने का हुआ। इस कार्य में भी आरम्भ में उसे कैसी असफलता हुई इस सम्बन्ध में उसने कहा है—

“जहाँ गीता का वर्णन चलता है, वहाँ मैं गीता लेकर पहुँच जाती। सितार सीखने के वर्ग में सितार ले जाती। बापू जी जब बहनों का वर्ग लेते तो उसमें भी पहुँच जाती। बापू जो रामायण आदि पुस्तकों में से शुद्ध लिखकर लाने के लिये कहते। मैं बड़े चाव से शुद्ध और सुन्दर लिखकर बताने का प्रयत्न करती। कापियों देखकर बापू जी निशान कर देते थे। लड़कियों के साथ साबरमती नदी में तैरना सीखने की भी कोशिश करती। मैं सीखने के हर स्थान पर पहुँचती, पर पूरी जानकारी किसी बात की न कर सकी। आश्रम की बहनें मुझ पर हँसती रहतीं और कहतीं कि जिस वर्ग में देखो जानकी बहन हाजिर रहती है। पर वे यह नहीं जानती थीं कि मैं जहाँ की तहाँ ही रहती थी। नया पाठ लेने से चूकती नहीं, पर पिछला भूलती चली जाती।”

“आश्रम में पाखाना सफाई का काम आश्रमवासी ही करते थे। बापू ने जीवन-साधना की शुरुआत भंगी के काम से ही मानी है। जिसको इस काम से ग्लानि हो, भय हो उसका आश्रम में रहना सम्भव न था। हम लोग भी पाखाने में ही शौच जाते थे। मैंने देखा कि वहाँ तो ब्राह्मण, पण्डित सब बिना हिचक के पाखाने की सफाई करते हैं। मैं भी एक दिन हिम्मत करके गई। मन में उत्साह जो था। नाक पर साड़ी लपेट ली और चली गई। मैले की बाल्टी में एक बांस डाल कर दो आदमी पकड़ कर खाद के गड्ढे तक ले जा रहे थे। मैले पर काफी मिट्टी पड़ी होने से बांस आने या स्नान होने की कोई बात ही नहीं थी। मैंने भी बाँस का एक छोर पकड़ा और डरते-डरते मुँह फेरकर उसे गड्ढे तक पहुँचा दिया। मैंने यह काम कर तो दिया, पर बाल्टी पहुँचाने के बाद लौट कर सिर से पैर तक रगड़-रगड़ कर स्नान किया और गोबर लगा कर हाथ पैरों की शुद्धि की। पाखाना सफाई का यह मेरा पहला ही औका था।”

पंजाब की प्रसिद्ध जननेत्री श्रीमती सरला देवी चौधरानी साबरमती आश्रम में बीमार हो गई। उनको टायफाइड हो गया। उनकी सेवा करने को महात्मा गाँधी

ने जमनादास गाँधी को नियुक्त कर दिया। दो-तीन दिन बाद ही सरला देवी ने बापू जी से शिकायत की कि जमनादास उनकी सेवा ठीक तरह नहीं कर सकते। गाँधी जी ने अपने पुत्र देवदास से कहा कि “कल से तुम इस काम को करना।” पर देवदास ने कहा कि “कल मेरी भी शिकायत होगी इसलिये मेरा न जाना ही ठीक है।” इसके बाद श्रीमती सन्तानम की ड्यूटी वहाँ लगाई गई, पर उनकी भी शिकायत हुई। यह देखकर जानकी देवी के मन में यह बात आई कि मैं भी देखूँ कि सेवा में क्या कमी रह जाती है, जिससे शिकायत का अवसर आता है। साथ ही सेवा करने का तरीका भी सीख लूँगी। वहाँ जानकी देवी को जो अनुभव हुआ वह उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—

“दूसरे दिन मैं उनकी सेवा में हाजिर हो गई। धूप और अगरबत्ती जलाकर मैंने उनके कमरे में सुगन्ध कर दी। झाड़ू भी धीरे-धीरे दी। उन्होंने पेशाब का डब्बा बाहर रखने को कहा वह भी मैंने रख दिया। फिर चोटी बनाने को कहा। मैंने चोटी बनाना शुरू किया। उनके बाल बड़े लम्बे थे। मैंने चोटी बहुत धीरे-धीरे की कि कहीं कोई बाल खिंच न जाये। मेरा काम उनको ठीक लगा।

टट्टी पेशाब का कम्पोज तो मैं बाहर रख देती, पर भंगी के हाथ का धोया, गीला कम्पोज भीतर कैसे रखूँ। इस दुविधा को मैंने गोमती बहन के सामने रखा। उसने कहा कि आप वहाँ के काम के लिये जाती हो तो वहाँ के कपड़े अलग रखो और घर के कपड़े अलग। मैंने कहा “कपड़े बदलना तो ठीक पर सिर रोज-रोज कैसे धोऊँगी? गोमती बहन ने समझाया सिर की बात छोड़ दो।”

“जब सरला देवी को मालूम हुआ कि मैं जमनालाल की पत्नी हूँ, तो उन्होंने कहा कि पेशाब का बर्तन बार-बार मत निकाला करो। जब टट्टी हो तब दोनों एक बार ही निकाल दिया करो। इससे संतोष हुआ, क्योंकि इस प्रकार यह काम स्नान के पहले भी हो सकता था।”

वातावरण और सत्संग के प्रभाव से मनुष्य में कितना परिवर्तन हो जाता है, इसके लिये जानकी देवी का उदाहरण बहुत प्रभावशाली है। कहीं तो उसका यह हाल था कि नल के पानी का छीटा पड़ जाने पर भी स्नान करती थी, चौका-चूल्हे और छुआ-छूत के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करती थी और कहीं दूसरों की टट्टी और पेशाब उठाने में भी संकोच छोड़ दिया। गाँधी जी के आचरण और अन्य आश्रमवासियों के उदाहरण से उसने प्रत्यक्ष देख लिया कि छुआ-छूत की अपेक्षा बहुत बड़ा धर्म पीड़ितों और आपद-प्रस्ती की सेवा करना है। जब वह विनोबा जैसे महापुरुषों को टट्टी की सफाई करती देखती थी तब

१.१२६ मरकर भी अमर हो गये जो

उसमें किसी प्रकार के दोष का विचार कैसे करती ? आश्रम में कुछ समय रहकर उसने समझ लिया कि असली धर्म छुआ-छूत और बाह्य शुद्धता के नियमों के पालन करने में नहीं है, वरन् उससे अधिक आवश्यकता आन्तरिक शुद्धि की—सद् विचारों और श्रेष्ठ भावनाओं की है। यदि हम अपने शरीर, मन और सामग्री का उपयोग दूसरों का उपकार करने में, किसी दीन-दुःखी की सेवा में करते हैं अपने हृदय में लोक-कल्याण की भावना रखकर सार्वजनिक हित के कार्य करते हैं, तो हमारी बाह्य-शुद्धि भी शोभा की बात मानी जा सकती है। पर यदि आचरण की दृष्टि से हम संकीर्ण और स्वार्थी ही बने रहे तो ऊपरी स्नान-ध्यान का कोई खास महत्त्व नहीं समझा जा सकता।

असहयोग आन्दोलन में देश-सेवा

जमनालाल जी ने एक प्रकार से अपनी सम्पत्ति और सामग्री तो देशोद्धार के लिये अर्पित कर ही दी थी, पर एक देश सेवक की हैसियत से उन्होंने स्वयं बार-बार जेल जाकर कष्ट भोगने में भी कमी नहीं रहने दी। जेल में उनकी स्थिति को देखकर अदालत उनको 'ए' क्लास में रखकर बहुत-सी सुविधायें देने का आदेश देती थी, पर वे कहते हैं कि जब हमारे अन्य साथी 'सी' क्लास में रहकर असुविधा सहन करते हैं तो हम 'ए' क्लास में आराम के साथ कैसे रह सकते हैं ? 'इसलिये वे जान बूझ कर 'सी' क्लास में आकर वैसी ही सूखी रोटी और घटिया साग-भाजी आदि खाते थे। इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर खराब पड़ा और उनको कई प्रकार की शारीरिक शिकायतें पैदा हो गईं।

जानकी देवी हर तरह से पति की अनुगामिनी थी। जमनालाल जी के जेल जाने के बाद वह स्वयं आन्दोलन में जोरों से भाग लेने लगती और सत्याग्रह के अवसर पर मौके पर पहुँचकर सहायता का कार्य करती। वह स्वयं भी सत्याग्रह करके जेल गई, और अपने पुत्रों को भी प्रेरणा देकर जेल भेजा। जेल में भी अपने आचार विचार सम्बन्धी नियमों पर दृढ़ रही, जिससे एक बार तो बीमार होकर मरते-मरते बची। इसका वर्णन करते हुए जीवन वृत्तान्त में एक स्थान पर कहा गया है—

“जब तक मैं वर्धा-जेल में रही तब तक खाने का डब्बा घर से आता रहा, इसलिये कोई मुश्किल मालूम नहीं हुई। कुछ दिन बाद नागपुर जेल में भेजने की आज्ञा आई। मुझे डर लगा कि हे भगवान ! अब कैसे होगा ? मेरा नागपुर जाना घर वालों को मालूम न हो सका। 'गाँधी जी की जय' के नारे लगाते हुए हम जा रहे थे। जब नागपुर जेल में पहुँची तो देखा कि वह तो एक बड़े महल की तरह है।

एक के बाद एक तीन-चार दरवाजे लॉघने पर एक साफ कोठरी मिली। वहाँ दस कोठरियाँ थीं। एक कोठरी में जाली का पलंग, कुर्सी आदि सामान भी था। मैंने उसी में अपने साथ लाई चीजों को घर की तरह जमा दिया।

“नागपुर जेल के सुपरिण्टेण्डेंट अनुशासन में बड़े कठोर थे और कैदी उन्हें “जालिम” कहा करते थे। मैं वहाँ 'ए' क्लास में थी। उन्होंने मुझसे आवश्यक सामान आदि के बारे में पूछा। मैंने कह दिया कि “और तो जो कुछ है उसी से चल जायेगा, पर मेरा गाय के घी-दूध प्रयोग करने का ही नियम है।” उन्होंने कहा कि गाय का दूध तो यहाँ से दे दिया जाएगा, घी घर से मँगवा सकती हो। मैंने उबले हुए साग और रोटी के लिये ही कहा, क्योंकि मिर्च खाने की मेरी आदत न थी। जब मैंने देखा कि वहाँ कैदियों में स्टोव जलाने के लिये दियासलाई की भी खींचातानी चलती है तब मैं कच्चे दूध में ही नीबू डाल कर दही जमाने लगी। खाने के लिये बैंगन का शाक और रूखी रोटी आती थी। उसी पर बिना तपा हुआ घी रखकर खा लेती ठण्डे पानी से ही नहाती और कपड़े धो लेती। हमारे यहाँ टट्टी के लोटे को मिट्टी से माँजने का रिवाज है, पर महाराष्ट्र में इस पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता। जब कोई टट्टी होकर आता और अपनी आदत के अनुसार मेरी बाल्टी में लोटा डुबो देता तब मैं बाल्टी को फिर मिट्टी से माँजती। इस तरह मेरा नाम बढ़ता ही जाता था।”

इस तरह जानकी देवी को जेल का खाना पीना और व्यवस्था अनुकूल सिद्ध न हुई और वह बीमार हो गई। घर पर तो सब काम ठीक समय पर नौकर कर देते थे, पर यहाँ जेल में सब कुछ अनियमित हो गया। घर में गरम पानी से स्नान आदि की आदत थी, पर यहाँ ठण्डे से ही काम चलाना पड़ता था। इससे कुछ ही दिनों में बुखार आने लगा। डाक्टर ने दवा खाने को कहा तो उसके लिये इन्कार कर दिया। दिन में तीन-चार बार टट्टी और उल्टियाँ भी होने लगीं। रात में कोठरी के भीतर कमोड पर ही टट्टी जाना पड़ता था। सात दिन में ही तेईस पौण्ड वजन घट गया। बवासीर की शिकायत पहले से ही थी। अब खून की टट्टियाँ और खून की उल्टियाँ होने लगीं। एकाध दिन तो तबियत ऐसी खराब हो गई कि बाहर इनके मरने की खबर फैल गई। पहले यह खबर किशोरलाल भाई ने सुनी पर उन्होंने जमनालाल जी को बताया नहीं। बाद में सब को खबर लग गई कि इनकी हालत बहुत खराब हो गई है। इनको जेल से अस्पताल में ले जाने को स्ट्रेचर भी आ गया, पर साथी महिलाओं ने कहा कि अब शाम को जाने से तकलीफ होगी सुबह ले जाना। इसके बाद

दुर्गाबाई जोशी ने कहा कि मैं एक दवाई बनाकर देती हूँ, यदि उससे रात भर में फायदा हो गया तो अस्पताल नहीं जाना पड़ेगा। उन्होंने चावल का माड़ बनाकर उसमें नमक तथा जीरा मिलाया और घी का छोंक देकर चटा दिया। उससे वास्तव में काफी आराम हुआ। इसके पश्चात् दही और छाछ का सेवन बताया गया। पर दही जमाने के लिये जामन का जेल में मिल सकना कठिन था, क्योंकि वे शुद्ध गाय के दूध का ही जामन भी चाहती थीं। अन्त में वह वर्धा से ही मँगाया गया और तब दही तथा छाछ का सेवन करने से स्वास्थ्य ठीक हो सका। इस अवसर पर संग में जो अन्य सत्याग्रही महिला कैदी थीं उन्होंने इनकी दिल से सेवा की और उसी से शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हो सका।

असहयोग आन्दोलन में समस्त भारत में जहाँ जेल जाने वाले पुरुषों की संख्या लाखों थी वहाँ स्त्रियों ने भी हजारों की संख्या में जेल-यात्रा की थी। यद्यपि स्त्रियाँ राजनीतिक बातों को अधिक नहीं समझती थीं, पर गाँधी जी के ऊपर उनका भगवान की तरह ही विश्वास हो गया था, इसलिये उनके आदेश को सुन कर वे सब तरह के कष्टों को सहने को तैयार हो जाती थी। पर अधिकांश जीवन घर के भीतर ही बिताने और संसार में नित्य प्रति होने वाले संघर्ष से अपरिचित होने के कारण उनकी थोड़े से परिवर्तन में ही कठिनाई जान पड़ती थी। फिर जेलखाने की तो दुनिया ही दूसरी होती है। वहाँ तो हर एक व्यक्ति को अपराधी मनोवृत्ति का समझकर उसे हर तरह से दबा कर रखने की चेष्टा की जाती है यद्यपि असहयोग में जेल जाने वाली सभी स्त्रियाँ बड़ी सभ्य, सहृदय और प्रायः ऊँचे परिवारों की ही थीं और सरकार भी इस बात को समझकर उनके साथ अधिक कड़ाई नहीं करती थी, पर फिर भी जेल के भीतर कुछ तो सख्ती बरती ही जाती है। वहाँ के कायदे कानून ही ऐसे हैं जिनसे सामान्य मनुष्य घबड़ा जाता है फिर भी जानकीदेवी वहाँ शान्ति और बिना घबराहट के रही आई, गम्भीर बीमारी हो जाने पर भी अपने नियम पर कायम रही, यह कम साहस और प्रशंसा की बात नहीं है, वह बहुत बड़े घर की महिला थी, जिसे कभी किसी बात का अभाव सहन करना ही नहीं पड़ता था, उसने जेलखाने जाकर वहाँ छः महीने बिता दिये, इसे इसकी सच्ची देश भक्ति का प्रमाण ही मानना चाहिये।

परेशानी में भी आत्म संयम

जानकीदेवी ने राष्ट्रपिता गाँधी के आदेशानुसार गहने और पर्दा ही नहीं छोड़ा, वह मारवाड़ी समाज की एक परम्परावादी स्त्री होते हुए जेल खाने जैसे अपावन स्थान में ही नहीं हो आई, वरन् हमसे भी बढ़कर उसने यह किया

कि देशोद्धार के लिये अपने पति, पुत्रों का वियोग भी स्वीकार कर लिया। जेलखानों के जीवन से अभ्यस्त न होने के कारण वहाँ बार-बार जाने से जमनालाल जी का स्वास्थ्य भंग हो गया और उनका अल्प आयु में ही स्वर्गवास हो गया। उनके दोनों पुत्रों को सत्याग्रह और सन् ४२ के आन्दोलन में जेल में कठोर यातनायें सहन करनी पड़ीं और वे मरते-मरते बचे। खैर ये बातें तो कभी-कभी ही सहन करनी पड़ती थीं, पर जमनालाल जी असहयोग आन्दोलन में इतने अधिक व्यस्त हो गये थे कि उनको अपनी पत्नी से बातें करने के लिये दो-चार मिनट का समय नहीं मिलता था। यह भी उसके लिये कम खेद की बात नहीं थी। वह जमनालाल जी की सेवा करना चाहती थी, उनको कोई तकलीफ हो तो उनकी देखभाल करने को प्रस्तुत रहती थी, पर जमनालाल जी के पीछे एक के बाद दूसरा काम और एक व्यक्ति से बात खत्म होते ही दूसरे व्यक्ति का आ जाना इस तरह लगा रहता था कि घर के भीतर कुछ मिनट भी नहीं ठहर पाते थे। इससे जानकी देवी को कभी-कभी बड़ा खेद होता था। इसका उदाहरण देते हुए उसने कहा है—

“जमनालाल जी के कान में दर्द रहा करता था। बहुत इलाज कराया पर कोई लाभ न हुआ। उसका मेरे मन पर भी बोझ रहता था। मेरी झुंझलाहट इसलिये भी थी कि वे अस्वस्थ होते हुए भी निरन्तर कार्य में लगे रहते थे। मेरे कहने का कोई असर नहीं होता था। यदि वह घर पर रहते तो आने-जाने वालों का तौता लगा रहता था। उन लोगों की आवभगत, व्यवस्था तथा कार्यों के सम्बन्ध में बातें होती रहती थीं। उनको अतिथि सत्कार और सार्वजनिक कार्य में ही आनन्द और सुख मालूम देता था। बाहर जाते तब भी कार्यों तथा कार्यकर्ताओं के साथ बातों में लगे रहते। मोटर में, रेल में भी काम की बातें चलती रहतीं। मैं चाहती थी कि वे थोड़ा आराम करें, पर उनकी बातें क्यों रुकने लगीं। बातों में वह इतना थक जाते कि मुझे उनसे बात करने में भी दया आने लगती। गुस्सा तो मन में रहता ही, पर क्या करती? अति प्रेम की इन दो अवस्थाओं में मेरा शरीर अस्वस्थ और कमजोर तथा मन चिड़चिड़ा रहने लगा। बात-बात में बोलने के स्थान पर रोना आ जाता था।

“मैं चाहती कि उन्हें थोड़ा आराम मिले। मुझे उनकी सेवा करने का थोड़ा मौका मिले, पर ऐसा कुछ बनता ही नहीं था। इसका मुख्य कारण था सार्वजनिक कार्य, मेहमानों का आना जाना, सेक्रेटरियों और नौकरों से माथापच्ची। मैं सोचती थी कि ये ही बातें हैं जिनके कारण आराम का अवसर नहीं मिलता और मैं भी सेवा करने से वंचित हूँ। आदमी मोह के कारण क्या-क्या नहीं सोच लेता? सो मैं

१.१३१ मरकर भी अमर हो गये जो

उनको परेशान और व्यस्त रखने वाली इन सब बातों से चिढ़ने लगी। वह कोई सार्वजनिक बातें करते या दौरे में साथ चलने को कहते तो मुझे गुस्सा आ जाता। इसी बात पर हम दोनों में दिनों दिन खींचा-तानी बढ़ने लगी। वह स्वयं समाधान के लिये भरसक प्रयत्न करते थे और जानते भी थे कि दोनों में यह खींचातानी क्यों हो रही है, लेकिन उनका जीवन जो पूरी तरह से सार्वजनिक ही हो गया था। वह चाहते तो भी उससे कैसे छूट सकते थे? वे तो उसमें सिर से पैर तक डूब चुके थे। यह तो मेरा ही काम था कि मैं उनके स्वभाव और रुचि को समझकर उनका साथ देती और उनके आनन्द में अपना आनन्द मानती।”

यहाँ पर जानकी देवी ने पतिव्रत और स्त्री-धर्म की मूल बात कह दी। पतिव्रत धूपबत्ती अथवा दीपक जलाकर पति की पूजा करने में नहीं है, वह है उनकी अन्तरात्मा में अपनी अन्तरात्मा का योग कर देने में। इसी को शास्त्रों में “गृहस्थ-योग” कहा गया है। ऐसी पत्नी एक और एक प्यारह की लोकोक्ति के अनुसार अपने पति की शक्ति को कई गुना बढ़ा देती है। इसके विपरीत जो स्त्री शरीर से और बाह्य रूप से तो पतिव्रत का पालन करती है पर अपने मन तथा अन्तरात्मा को पति के मन तथा अन्तरात्मा के अनुकूल नहीं बनाती, उसका पतिव्रत प्रशंसा के योग्य नहीं माना जा सकता है। हमें खेद से कहना पड़ता है कि आजकल हमारी अधिकांश महिलायें, चाहे शिक्षित हों या अशिक्षित, इसी श्रेणी में आती हैं। इसी कारण हजारों व्यक्ति समाज-सेवा की इच्छा और अभिलाषा रखते हुए भी उससे वंचित रह जाते हैं। इसलिये स्त्रियों को चाहिये कि वे पतिव्रत के वास्तविक तत्व को समझें और व्यवहार में लावें जिससे वे अपने पति की सच्ची सहकारिणी कही जा सकें।

जानकी देवी विवाह के समय बिल्कुल अपढ़ और रूढ़िग्रस्त थी, परन्तु पति के विचारों और आकांक्षाओं के अनुकूल आचरण करके उसने उनका हार्दिक प्रेम ही प्राप्त नहीं किया वरन् स्वयं महत्त्वपूर्ण समाज सेवा करके अपना मानव-जन्म भी कृतार्थ कर लिया। गहनों का लालच और पर्दे के भीतर छिपकर रहना हमारे सामाजिक जीवन के दो बड़े अभिशाप हैं, जिनके कारण समाज का आधा अंग—महिला समाज गिरी हुई अवस्था में पड़ा है। यदि महिलायें इनसे छुटकारा पा सकें तो देखते-देखते उनकी कायापलट हो जाये। तब वे भी जानकी देवी की तरह “कूपदान” जैसे समाज सेवा के बड़े-बड़े काम करने में समर्थ हो सकेंगी।

यह ठीक है कि शिक्षा की कमी बाह्य जगत से विशेष सम्पर्क न रहने के कारण भारतीय स्त्रियाँ एक सीमित दायरे में ही बनी रहती हैं। अपना निजी परिवार और अधिक हुआ तो नाते-रिस्ते के व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी के हित-अनहित ही तरफ ध्यान देना वे अनावश्यक समझती हैं। इसका एक कारण यह भी होता है कि भारतीय समाज में स्त्री का पर-पुरुषों से किसी भी प्रकार सम्पर्क में आना—साधारण बातचीत भी करना अच्छा नहीं समझा जाता। ऐसी दशा में उनसे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की क्या आशा की जा सकती है। जानकी देवी भी गाँधी जी तथा विनोबा जैसे महामानवों से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर भी अधिकांश में महिला समाज में ही काम करती रहीं। उन्होंने पुरुषों में खुलकर काम किया हो, ऐसा उनके जीवन वृत्तान्त से प्रकट नहीं होता।

फिर भी पुरुष चाहे तो अपनी पत्नियों को सार्वजनिक सेवा के लिये बहुत कुछ उपयोगी बना सकते हैं। जानकी देवी ने लिखा है कि उसका सार्वजनिक जो कुछ है वह जमनालाल जी की ही देन है, जिसे बाद में गाँधी जी और विनोबा जी से प्रेरणा मिलती रही—

“नौ बरस की उम्र में जाबरे से वर्धा अपरिचितों के बीच में रहने को गई। छोटी-सी कच्ची उम्र में ही माता-पिता से जो संस्कार मिल सके उनको लेकर ससुराल गई। जब होश सँभाला तो सास और दादा-ससुर का साया उठ चुका था, तब जमनालाल जी से सम्पर्क और परिचय बढ़ने लगा और उन्होंने मेरा जीवन अपने विचारों के अनुसार ढालना आरम्भ किया। पर वे अपनी कोई भी इच्छा मुझ पर लादते नहीं थे। जो बात अच्छी होती थी, उस ओर इशारा मात्र कर देते थे। इस प्रकार जीवन चल रहा था कि गाँधी जी आये। उन्होंने तो हमारे जीवन में तूफान की तरह प्रवेश किया। सारा जीवन ही बदल गया। उसके बाद विनोबा जी से परिचय बढ़ा। इस प्रकार मेरा जीवन आज जो कुछ है, जमनालाल जी, बापू जी और विनोबा जी का बनाया है। बापू जी को अपनी जीवन-साधना में कठिन प्रयत्न करना पड़ा था। उन्होंने बड़े नियम से, दृढ़ता से, परिश्रम से अपने जीवन को बनाया। विनोबा के लिये सब सहज है। इस प्रकार इन तीन साधकों और महापुरुषों के निकट सम्पर्क में रहने और अपनी शक्ति भर प्रयत्न करते रहने से, जैसी मैं बन सकी हूँ, उसका परिचय पाठकों को मेरी जीवन-कथा से मिल सकता है।”

निःसन्देह हमारे देश में अभी तक स्त्रियों को समाजोपयोगी बना सकना पुरुषों के ही हाथ में है। जिस घर में पुरुष स्वयं संकीर्ण विचारों के होंगे, या स्त्रियों के

समाज में मिलने-जुलने को शंका की दृष्टि देखते होंगे वहाँ की स्त्रियों से किसी प्रकार की आशा करना ही व्यर्थ है। सब कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी भारतीय स्त्री अभी तक पुरुष की आश्रित है। हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों ने तो उसे जन्म जन्मान्तर के लिये अपने पति की "दासी" बनकर रहने की भावना पैदा कर ही दी है। सामाजिक परम्परा के अनुसार भी स्त्री का पुरुष की इच्छा के अनुकूल चलना ही प्रशस्त माना गया है, अन्यथा उसकी चर्चा और निन्दा होने लगती है। इस प्रकार स्त्रियों को देश और समाज के लिये उपयोगी बनाना अधिकांश में पुरुषों का ही काम है। हाँ इस प्रकार की सुविधा मिलने पर आगे बढ़ना तथा स्वार्थ भाव को कम करके परोपकार के कार्यों में रुचि लेना स्त्री के निजी स्वभाव और प्रयत्न पर निर्भर है।

जैसा अनेक विद्वानों का मत है गाँधी-युग ही भारतीय समाज की काया पलट करने वाला है। हिन्दू जाति में जो अनेक प्रकार की हानिकारक परम्परायें प्रचलित थीं। उनके निराकरण का सफल प्रयास गाँधी जी ने ही किया। अछूतोद्धार के लिये उन्होंने जिस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगादी, और अपने प्राणों की बाजी लगाकर असमर्थ जातियों को हिन्दुत्व के दायरे में ही रखा, उसका हाल सभी जानते हैं। उन्हीं के आन्दोलन के प्रभाव से आज अछूत जातियों के व्यक्ति राज्य-मन्त्री से लेकर कलेक्टर, कमिश्नर तक बने हुए हैं। इसी प्रकार भारतीय नारियों को अशिक्षा, पर्दे, जेवर आदि की बुराईयें से छुड़ाकर सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हो सकने योग्य बनाने का श्रेय भी महात्मा जी को ही है। यद्यपि उनसे पहले ही स्त्री शिक्षा का प्रचार हो चुका था। कितने की कन्या स्कूल खुलकर कुछ स्त्रियाँ बी. ए., एम. ए. की डिग्रियाँ प्राप्त कर चुकी थीं, पर सार्वजनिक जीवन में उनका प्रवेश न हो सका था। गाँधी जी ने स्त्रियों को असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन में सम्मिलित करके उनकी झिझक निकाल दी और वे समझ गईं कि घर-गृहस्थी का उत्तरादायित्व सर पर रहने पर भी उनको समय आने पर समाज और देश सेवा के कार्यों में सहयोग देना ही चाहिये। जानकी देवी ऐसी स्त्रियों का

एक उदाहरण है। मारवाड़ी समाज में स्त्रियों की दशा जितनी पिछड़ी हुई थी और वे अन्धविश्वासों तथा मूढ़ परम्पराओं में जितनी अधिक ग्रस्त थीं उससे कोई जानकारी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। पर महात्मा जी की प्रेरणा से जानकी देवी ने स्वयं उन सबसे मुक्त होकर अपने समाज की सैकड़ों स्त्रियों को बन्धन मुक्त करके समाज सेविका बना दिया यह कम महत्त्व की बात नहीं है।

एक जानकी देवी ही नहीं महात्मा जी के आन्दोलन की प्रेरणा से और भी हजारों स्त्रियाँ उच्च श्रेणी की समाज सेविका और देश सेवा की व्रतधारी बन गईं। उदाहरण के लिये श्रीमती सरोजिनी नायडू महात्मा जी के सम्पर्क में आने से पूर्व केवल एक प्रसिद्ध कवियत्री ही थीं और कभी-कभी कांग्रेस, कॉन्फ़ेन्सों में देश सुधार सम्बन्धी विषयों पर साधारण भाषण दे लिया करती थीं। पर सहयोग आन्दोलन में भाग लेने के उपरान्त वे देश की एक कर्मठ नेता बन गईं और फैशन तथा सुख-विलास की जिन्दगी को त्याग कर जेलखाने की रोटियाँ खाने लगीं। नमक सत्याग्रह के समय उन्होंने घंटों तक खुले मैदान में खड़े रहकर जो सहिष्णुता का भाव प्रकट किया उससे सिद्ध हो गया कि कोमल से कोमल भारतीय नारी कर्तव्य की पुकार सुनकर त्याग और बलिदान का महान आदर्श उपस्थित कर सकती है। इसी प्रकार अवन्तिकाबाई गोखले ने गाँधी जी के कार्यारम्भ करते ही बम्बई के सुख-समृद्धि पूर्ण जीवन को त्याग कर चम्पारन (बिहार) के पिछड़े हुए गाँवों का रहन-सहन स्वीकार किया और वहाँ रहने वाले मैले-कुचैले बच्चों तथा स्त्रियों को अपनी सेवा के बल से एक नया जीवन प्रदान कर दिया।

उसने चम्पारन-सत्याग्रह आन्दोलन में वह काम करके दिखा दिया, जो वहाँ के निवासियों द्वारा आज तक याद किया जाता है। जानकीदेवी का सौभाग्य था कि उसे भी इस प्रकार की त्यागी और सेवाभाव सम्पन्न महिलाओं तथा गाँधी जी का सानिध्य प्राप्त हुआ, जिससे वह अपने को दीन-दुखियों की सहायिका और सेविका बनाकर अपना जीवन सफल कर सकीं।

जातीयता और संस्कृति की संरक्षक : गोल्डामेयर

सन् १९२१ की बात है। अमेरिका में रहने वाली एक यहूदी युवती अपने कुछ साथियों के साथ, जिनमें उसका पति और बहिन भी थी, 'पाकाहोन्टस' जहाज के द्वारा पैलेस्टाइन के लिये रवाना हुई। उन दिनों पैलेस्टाइन एक

रेतीला और अधिकांश में उजाड़ प्रदेश था। सन् १९१५ तक वह टर्की के सुल्तानों के अधीन था, पर प्रथम महायुद्ध में हार जाने के कारण वह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के अधिकार में आ गया, और उसने घोषणा कर दी कि वहाँ पर उस

१.१३३ मरकर भी अमर हो गये जो

देश के पुराने वाशिनटों—यहूदियों को बसाया जायेगा । पैलेस्टाइन किसी समय यहूदी जाति का मूल निवास स्थान था और वहाँ पर शाह सुलेमान जैसे जगत प्रसिद्ध बुद्धिमान सम्राट शासन कर चुके थे । पर इधर कई सौ वर्षों से तुकों ने उस पर अधिकार कर लिया था और वह प्रायः उपेक्षित दशा में पड़ा था । देश के भीतरी भागों में कुछ लाख अरब लोग निवास करते थे और कुछ पुराने यहूदी भी इधर-उधर पाये जाते थे । सन् १६०५ से यूरोप और अमेरिका के कुछ यहूदी भी वहाँ आकर नई बस्तियाँ बसाने लगे थे, जिनका वास्तविक लक्ष्य पैलेस्टाइन में एक “जातीय गृह” स्थापित करना था । इस आन्दोलन का नेता “बेन गुरियों” था, जो आराम की जिन्दगी को छोड़कर अमेरिका से वहाँ आकर बस गया था ।

जब पैलेस्टाइन में अंग्रेजों का “मेण्डेरी” शासन स्थापित हो गया तो यहूदी आन्दोलनकारियों को अपनी योजना के सफल होने की सम्भावना जान पड़ने लगी और वे अमेरिका तथा यूरोप के यहूदियों को वहाँ आकर बसाने तथा पूँजी लगाकर कृषि-फार्म तथा अन्य उद्योग-धन्धे स्थापित करने की प्रेरणा देने लगे । उपर्युक्त यहूदी युवती और उसके साथी, इसी प्रेरणा से प्रभावित होकर अपना घर बार छोड़ इस लम्बी यात्रा के लिये प्रस्तुत हुए थे ।

पर संयोगवश वह समुद्री-यात्रा भी बड़ी खतरनाक सिद्ध हुई । किसी कारणवश उस जहाज के कितने ही मल्लाह और इंजीनियर असन्तुष्ट थे और उन्होंने मार्ग में बार-बार हड़ताल करके जहाज को क्षतिग्रस्त करने की चेष्टा की । इंजन घर में पानी भरकर तथा आग लगाकर जहाज को डुबाने की कोशिश की गई, पर कप्तान की सावधानी और कड़ाई से जहाज चौदह दिन के बजाय अड़तालीस दिन में किसी तरह इटली पहुँच गया । वहाँ जाने पर पता चला कि ईसाई और मुसलमान तो पैलेस्टाइन जाने वाले जहाज पर बात्रा कर सकते हैं, पर यहूदियों को टिकिट नहीं दिया जाता । यहूदी केवल ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से मंजूरी प्राप्त करके ही उस देश में प्रवेश कर सकते थे । दूसरी बात यह थी कि अरब लोग उनका विरोध कर रहे थे और वे अवसर मिलते ही उन पर आक्रमण करने को तैयार रहते थे ।

पर अमेरिका से आने वाले इस दल के सदस्य इन सब कठिनाइयों को समझते थे और इसलिये हर तरह के उपाय करके अपने “प्राचीन देश” में जाने की कटिबद्ध थे । जब पैलेस्टाइन का टिकिट न मिला तो वे दूसरे जहाज द्वारा मिस्र चले गये और वहाँ से रेल द्वारा पैलेस्टाइन जा पहुँचे ।

इटली से मिस्र जाने वाले जहाज पर एक बड़ी दिलचस्प घटना हुई । जहाज पर अंग्रेज सरकार का एक अधिकारी भी था जिसका कार्य यात्रियों के “पासपोर्ट” की जाँच करना था । वह जानकर इन युवतियों को हतोत्साहित करने के लिये कहता—“तुम पैलेस्टाइन में क्या काम करके निर्वाह करोगी ? वहाँ तो केवल खेती किसानों का ही धन्धा है ।” इस तरह वह इनको बार-बार चिड़ाता । पर २८ वर्ष बाद एक दिन ऐसा आया कि जब वही युवती, जिसका नाम “गोल्डामेयर” था पैलेस्टाइन की श्रममन्त्री नियुक्त की गई, और उक्त अंग्रेज अफसर को, जो उस समय भी वहाँ के “ट्रेड एण्ड इण्डस्ट्री डिपार्टमेण्ट” में नौकरी कर रहा था, उसी की आज्ञानुसार कार्य करना पड़ा ।

जन्म और शिक्षा

गोल्डा का जन्म सन् १८६८ में हुआ । उसके माता-पिता रूस के कीव नगर के निवासी थे । पिता लकड़ी की आलमारी बनाने का कार्य करता था, पर बड़ा परिवार होने से उसे बड़ी गरीबी में निर्वाह करना पड़ता था । साथ ही रूस में यहूदियों को क्रान्तिकारी मानकर विशेष रूप से कष्ट दिये जाते थे और चाहे जब उनके मोहल्लों पर आक्रमण करके उनको लूटा-मारा जाता था । इससे परेशान होकर वह भी अन्य हजारों रूसी यहूदियों की तरह अमेरिका चला आया और “मिलवायूकी” कस्बे में रह कर रेल्वे में बढ़ई की नौकरी करने लगा । गोल्डा की माता खाद्य पदार्थों की एक दुकान करने लगी पर अब भी उनकी आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक थी और परिवार को गरीबी में ही दिन काटने पड़ते थे ।

आरम्भ से ही इस प्रकार की गरीबी और सामाजिक अन्याय का अनुभव करने से गोल्डा की मनोवृत्ति में दृढ़ता और प्रतिकार का भाव उत्पन्न हो गया था । सन् १८०३ में रूस के एक कस्बे में रहने वाले यहूदियों पर विधर्मियों ने आक्रमण किया जिसमें ४५ निर्दोष व्यक्ति मारे गये । इस घटना के लिये देश विदेशों के न्यायप्रिय व्यक्तियों ने रूस की निन्दा की, अन्य देश के शासनाध्यक्षों ने विरोध-पत्र भेजे और यहूदियों ने एक दिन नियत करके सर्वत्र अपने धर्म मन्दिरों में उपवास किया, यद्यपि उस समय गोल्डा की उम्र केवल ५ वर्ष की थी, पर जब उसने अपनी माता और बहिन को उपवास करते देखा तो वह सब लोगों के रोकने पर भी उपवास में सम्मिलित हो गई । दोपहर के बाद घर वालों ने उसे भूखी देखकर कुछ खा लेने के लिये बहुत समझाया, पर वह अपने निष्चय पर डटी रही और अन्य लोगों ने धर्म मन्दिर से वापस आकर भोजन किया तभी उसने भी खाया ।

अमेरिका जाने पर उसे स्वाधीनता का अनुभव हुआ, जिसका रूस में पूर्ण अभाव था। जिस दिन गोल्डा ने स्कूल में “स्वाधीनता घोषणा-पत्र” पर हस्ताक्षर किये उस दिन उसकी समझ में आया कि वाशिंगटन और जैफरसन ने संसार में क्या काम करके दिखाया था। वहाँ के वातावरण में उसका स्वाधीनता प्रेम, न्याय का पक्ष, समर्थन और जातीयता की भावना दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसके हृदय में सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की भावना भी बलवती होने लगी। जब उसकी आयु दस वर्ष की ही थी उसने अन्य छोटी लड़कियों को संगठित करके “अमेरिकन यंग सिस्टर्स सोसायटी” (अमरीका की छोटी बहिनों की संस्था) की स्थापना की। इसका उद्देश्य बहुत अधिक गरीब बच्चों को स्कूल में पढ़ाई जाने वाली किताबें दिलाना था। यद्यपि वे अपने जेबखर्च में से कुछ आने ही बचा पाती थीं, फिर भी लोगों ने उनकी इस भावना की सराहना की। “मिलवायूकी” से प्रकाशित होने वाले स्थानीय समाचार पत्र ने इस कार्य की प्रशंसा में एक लेख प्रकाशित किया कि “यद्यपि यह बहुत अल्प प्रयत्न है, पर इससे यह प्रकट हो गया कि हमारे यहाँ छोटे बच्चों को बिना आवश्यक पुस्तकों के भी स्कूल जाना पड़ता है।” अखबार में इस संस्था की सदस्यों का चित्र भी प्रकाशित किया गया जिसके नीचे लिखा था, “प्रेसीडेंट गोल्डी सबसे ऊपर की पंक्ति में दाहिनी तरफ से चौथे नम्बर पर खड़ी हैं।”

सेवा और सेवार्थ त्याग की यही आरम्भिक भावना ही आगे चलकर बहुत बड़े रूप में प्रस्फुटित हुई। उसी भावना ने हाईस्कूल तक पढ़ी एक सामान्य बड़ई की पुत्री को स्वेच्छा से अमेरिका का सुविधापूर्ण जीवन त्याग कर पैलेस्टाइन के रेगिस्तानी प्रदेश में जाने को प्रेरित किया और सैकड़ों प्रकार के कष्ट तथा खतरे उठाकर “इसराइल” के नवीन राष्ट्र की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग देने लायक बना दिया। हमारे देश के बालकों में सार्वजनिक हित की ऐसी भावना प्रायः देखने में नहीं आती। यदि किसी को ऐसी प्रेरणा प्राप्त होती है तो वह अधिकतर संकुचित जातीय अथवा साम्प्रदायिक क्षेत्र तक ही सीमित रह जाती है। इसी कारण हमारे यहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्ता भी जात-पाँत के फन्दे से नहीं निकल पाते और राजनीतिक क्षेत्र में भी वे इसी दूषित मनोवृत्ति से काम लेते रहते हैं। यदि वे सेवा के सच्चे भाव से कार्य करते तो हमारे देश की हालत बहुत सन्तोषजनक होती।

जातीय आन्दोलन में

गोल्डा पढ़ने में हमेशा तेज रही और अपने दर्जे में उसका नम्बर सदा प्रथम रहा। पर उसके माता-पिता

उसको अधिक पढ़ाना आवश्यक नहीं समझते थे और चाहते थे कि वे घर और दुकान का काम करके परिवार की आमदनी को बढ़ाने में सहायक हो। उनकी माँ तेज मिजाज की स्त्री थी और लड़कियों को खूब डाँटती-डपटती रहती थी। इस कारण सबसे बड़ी लड़की “शाना” बयस्क होते ही घर से अलग होकर एक दूसरे कस्बे में रहने लगी थी। गोल्डा भी जब छोटे स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर चुकी तो उसकी माता ने उसे आगे पढ़ाने की अनिच्छा प्रकट की। इस पर वह भी १५ वर्ष की आयु में ही घर से निकलकर अपनी बड़ी बहिन के पास चली गई और वहाँ पर वह हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त करने लगी। साथ ही पुर्स्त के समय अपने बहनोई की कपड़ा धोने की दुकान पर इस्तरी (प्रेस) करने का काम भी कर लेती थी।

जिस “डेनवर” नामक कस्बे में इन दिनों गोल्डा पढ़ रही थी, वहाँ पर टी. बी. की चिकित्सा करने वाला अस्पताल भी था। उसमें दूर-दूर के व्यक्ति स्वास्थ्य को ठीक करने के लिये आते थे। वे प्रायः शाना के यहाँ आकर चाय और लेमन आदि पीते और इधर-उधर की बातचीत करते रहते थे। वे लोग अधिकांश में पूर्वी-यूरोप के देशों के निवासी थे और उसमें समाजवादी, मार्क्सवादी, जिनोइस्ट (यहूदी-राज्य के समर्थक) आदि विभिन्न विचारों के व्यक्ति पाये जाते थे। वे लोग अपने-अपने सिद्धान्त के समर्थन में प्रायः बड़े जोश के साथ वाद-विवाद किया करते थे।

१५ वर्ष की आयु की गोल्डा को यह राजनीति विषयक बहस बड़ी रोचक और आकर्षक जान पड़ती थी। वे लोग स्त्रियों को स्वाधीनता, समान अधिकार, वोट देने का अधिकार आदि विषयों पर भी खूब चर्चा करते थे। गोल्डा के अर्द्ध-विकसित मस्तिष्क पर इन बातों का प्रभाव पड़ता रहता था और कुछ समय बाद उसकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के कारण अपनी बहिन शाना से भी उसका झगड़ा-सा हो गया। गोल्डा ने आरम्भ में एक घुलाई की दुकान में काम किया और फिर एक कपड़े बेचने की दुकान में काम करने लगी। इन कामों में उसे थोड़ा ही वेतन मिलता था और समय अधिक देना पड़ता था, तो भी वह स्वाधीनता का उपयोग करके प्रसन्न थी। अधिक लम्बी और स्वस्थ होने से अब वह पूरी युवती जान पड़ती थी और अमेरिकन समाज के अनुसार कितने ही विवाहेच्छुक युवकों से उसकी मित्रता होने लगी। इन युवकों में से एक मोरिस मेरीसन था, जो यद्यपि गोल्डा की तरह निर्धन था पर जिसे पढ़ने का बड़ा शौक था। उसने अपने परिश्रम और लगन द्वारा ही स्वयं को शिक्षित बना लिया था। वह गोल्डा से राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर बातें किया

१.१३५ मरकर भी अमर हो गये जो

करता और विभिन्न विषयों की पुस्तकें लाकर उसे पढ़ने को दिया करता ।

गोल्डा और मोरिस की मित्रता घनिष्ठ होती गई, पर इन दोनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर था । जबकि गोल्डा खूब बातें करने वाली, मिलने-जुलने वाली और सदा आगे बढ़ने को तैयार रहने वाली थी, वहाँ मोरिस चुपचाप रहने वाला और किसी से विशेष सम्पर्क न रखने वाला था । इसके साथ ही वह सार्वजनिक कार्यों में स्त्रियों का अधिक भाग लेना भी पसन्द नहीं करता था । इसके विपरीत गोल्डा शुरू से ही राजनीति और सामाजिक कार्यों की तरफ रुचि रखने वाली थी और निरन्तर “जिनोइज्म” (यहूदी राष्ट्रवाद) की तरफ खिंचती चली जाती थी । पर इतना अन्तर होते हुए भी मोरिस, गोल्डा की सुन्दरता और बुद्धिमत्ता के कारण उस पर हृदय से अनुरक्त हो गया । वह स्वभाव से एक ‘प्रेमी’ था और जिसे एक बार प्रेम कर लिया उसके साथ हर तरफ से निर्वाह करना ही उसे आदर्श जान पड़ता था । गोल्डा भी उसकी विद्या और सादगी तथा सच्चाई के कारण उसकी तरफ आकर्षित थी । इसलिये यद्यपि उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ आईं । पर अन्त में वे विवाह-सूत्र में बँध ही गये ।

जिस समय मोरिस से मित्रता चल रही थी, उसी समय गोल्डा की माँ का पत्र आया कि यदि वह उसके पास आना चाहे तो उसके हाईस्कूल में पढ़ने की व्यवस्था कर दी जायेगी और वह चाहेगी तो उसके बाद नॉर्मल स्कूल में ट्रेनिंग की परीक्षा भी दे सकेगी । इस पर गोल्डा, जो अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी “मिलावायूकी” चली आई ।

“यहूदी राज्य” की भावना

इसी समय यूरोप में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया और रूस तथा आस्ट्रिया की सरकारें उन देशों में रहने वाले यहूदियों पर अकथनीय अत्याचार करने लगीं । उनकी सेनायें जहाँ कहीं पहुँचती थीं, वहाँ यहूदियों को या तो कत्ल कर देती थीं या देश निकाला दे देती थीं । इससे समस्त संसार के यहूदियों में एक हलचल मच गई और अमेरिका के धनवान यहूदी करोड़ों रु. चन्दा इकट्ठा करके उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने लगे । गोल्डा पर इन घटनाओं का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा । उसने पीड़ितों के लिये चन्दा इकट्ठा किया और इस सम्बन्ध में बड़े जोरदार भाषण देकर लोगों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देने लगी । इसी समस्या पर विचार करते-करते वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि यूरोप के पीड़ित यहूदियों का प्रश्न केवल आर्थिक सहायता और उनके पक्ष में भाषण देने से हल नहीं हो सकता, वरन् उनके लिये एक ऐसे “स्वदेश” का होना

आवश्यक है, जहाँ वे किसी भी समय और बिना किसी प्रकार की कानूनी रुकावट के जा सकें । यह निश्चय करके सन् १९१५ में ही, जब वह सत्तरह वर्ष की थी, “पोआले जिओन” नामक संस्था की सदस्या बन गई । यह एक छोटी, अल्प प्रभाव वाली संस्था थी, जिसमें अधिकांश “यीडिश” भाषा बोलने वाले श्रमजीवी सम्मिलित थे । इन लोगों का निश्चय था कि वे यथासम्भव शीघ्र पैलेस्टाइन जाकर वहाँ यहूदी राज्य की स्थापना का प्रयत्न करेंगे ।

उस समय अमेरिका में ‘जिओनिज्म’ की प्रचारक एक और बड़ी संस्था भी थी, पर उसमें भाग लेने वाले अधिकांश में बड़े लोग या पूँजीपति थे, जो केवल जातीयता के भाव से ही इस आन्दोलन का समर्थन नहीं करते थे, वरन् जिनका मुख्य उद्देश्य पैलेस्टाइन का औद्योगिक विकास करके स्वयं भी उससे लाभ उठाना था । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान युग के पूँजीपति धन के अतिरिक्त और किसी चीज या गुण को उससे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं दे सकते जिस प्रकार हमारे यहाँ के सेठ साहूकार ‘दान-पुण्य’ के कार्यों में हजारों, लाखों रुपया लगा देने पर भी मन में उससे अधिक धन पाने की अभिलाषा रखते हैं, वही बात अमेरिका के कितने ही यहूदी पूँजीपतियों के लिये भी कही जा सकती थी ।

पर गोल्डा की भावना इस सम्बन्ध में बहुत शुद्ध और त्याग तथा बलिदान की थी । वह स्वयं बहुत गरीब घर में पैदा हुई थी, रूस में उसने स्वयं यहूदियों की दुर्दशा देखी थी, अमेरिका में भी उसने निर्धनता के कष्ट सहन किये थे, इसलिये वह पैलेस्टाइन में “यहूदी-राज्य” का समर्थन गरीब यहूदियों की सुरक्षा और हित की दृष्टि से करती थी । वह पैलेस्टाइन जाकर बसना और उसमें निवास के लिये प्रयत्न करना, इसलिये पसन्द नहीं करती थी कि वहाँ उसे कुछ आर्थिक लाभ हो सकेगा, या वह अधिक आराम से रह सकेगी । वरन् उसका उद्देश्य स्पष्टतः कष्ट और सब प्रकार की असुविधायें सहकर भी अपनी जाति के उद्धार के लिये प्रयत्न करना था और वास्तव में एक उच्च आत्मा का यही कर्तव्य होना भी चाहिये । हम भी अपने देश में आज तिलक, गोखले, गाँधी, मालवीय और चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, सुभाष बोस आदि की मरने के बाद भी प्रतिष्ठा करते रहते हैं, उनके स्मारक बनाते हैं, जबकि दस-बीस लाख का दान देकर मन्दिर, धर्मशाला आदि बना देने वाले अथवा किसी अन्य “धर्म कार्य” के नाम पर धन देने वाले सेठ साहूकारों के नाम भी कोई नहीं जानता ।

पीड़ित यहूदियों की सेवा में अपनी अल्प शक्ति को लगाते हुए गोल्डा ने पैलेस्टाइन जाकर वहाँ ‘यहूदी-राज्य’

की स्थापना के लिये हर प्रकार का प्रयत्न और बलिदान करने का निश्चय कर लिया। पर उसके घर वाले, उसकी बहिन, उसका भावी पति तथा अन्य इष्ट-मित्र इस विचार के पक्ष में न थे और यह सलाह देते थे कि वह अमेरिका में ही रहकर पीड़ित यहूदियों की सेवार्थ उद्योग करती रहे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पैलेस्टाइन का देश उस समय हर प्रकार की असुविधाओं और खतरों से भरा था और अमेरिका का एक गरीब आदमी भी वहाँ की अपेक्षा सुख और सुविधाओं का उपभोग करता था। पर इन सब बातों को जानते हुए भी गोल्डा ने जो पैलेस्टाइन में निवास करने का निश्चय किया उसका कारण यही था कि उसके हृदय में जातीय-प्रेम हिलोरे मार रहा था और वह अपने दुर्दशाग्रस्त भाइयों के लिये कुछ सच्ची सेवा का कार्य करने को व्याकुल थी। यही कारण था कि उस अपरिपक्व आयु में ही उसके भाषण ऐसे हार्दिक भावनायुक्त और जीशीले होते थे कि उसकी गिनती नेताओं में होने लग गई और जातीय सभाओं और कॉन्फ्रेंसों में वह प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने लगी।

हमारे देश की स्त्रियों की तो क्या बात पुरुषों में भी ऐसी भावना बहुत अल्प परिमाण में दिखाई पड़ती है। प्रथम तो यहाँ बहुत कम लोगों का ध्यान व्यक्तिगत स्वार्थ से हटकर जातीय हित की तरफ जाता है और यदि कोई इस विषय में कभी विचार भी करते हैं तो वे सामान्य चर्चा या जवानी जमा खर्च करके ही अपने कर्तव्य की पूर्ति समझ लेते हैं। यही कारण है कि आजकल हमारे अधिकांश आन्दोलन असफल सिद्ध होते हैं और सार्वजनिक संस्थायें कुछ दिन चलकर समाप्त हो जाती हैं। गोल्डा के जीवन-वृत्तान्त को हम इसलिये इतना महत्त्व देते हैं ताकि हमारे भाई-बहिन उससे शिक्षा ग्रहण करें कि जब एक साधन रहित और बहुत सामान्य पढ़ी-लिखी लड़की ने, जातीय-हित के उद्देश्य से इतना त्याग किया और दृढ़तापूर्वक संलग्न रह कर समस्त जीवन उसी के लिये निष्ठावर कर दिया तो हम बहुत कुछ साधन और सहायक होने पर भी कोई महत्त्व की जातीय-सेवा क्यों नहीं कर सकते ?

यहूदी-समाचार पत्र का प्रकाशन

सन् १९२० में 'पोआले जिओन' की तरफ से "यीडिश" भाषा में एक दैनिक पत्र प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, जिसका नाम "दि जीट" (दी टाइम्स) था। एक सामान्य साधनों वाली संस्था के लिये यह बहुत बड़ा और खतरनाक कार्य था, क्योंकि दैनिक पत्र में हजारों, लाखों का घाटा हो जाना बिल्कुल साधारण बात है।

इसलिये पत्र का संचालन करने के लिये एक कम्पनी बनाई गई और गोल्डा को उसके शेयर बेचने के लिये भेजा गया। इस कार्य के लिये प्रति सप्ताह १५ डालर और मार्गव्यय देने का निश्चय दिया गया, वह पत्र की आर्थिक स्थिति को अच्छी तरह समझती थी, इसलिये कई महीने यात्रा करने पर भी कभी होटल में नहीं ठहरी और अपने खाने का व्यय भी यथाशक्ति कम ही करती थी। यहाँ तक कि अगर वह आइसक्रीम खाती तो उसका दाम भोजन में शामिल नहीं करती थी। उसका कहना था कि "संस्था से मैं आइसक्रीम नहीं माँग सकती।"

इतनी मितव्ययिता करते हुए भी गोल्डा परिश्रम और कार्य में किसी तरह की कसर नहीं रखती थी। जो लोग इस अखबार की निर्बल आर्थिक स्थिति के कारण उसके चल सकने में सन्देह प्रकट करते थे उनको वह "जातीय हित" के नाम पर डोंट देती थी और लोगों को ऐसे हार्दिक विश्वास के साथ समझाती थी, कि वे पत्र की सहायतार्थ तैयार हो जाते थे। एक छोटे शहर में एक जूता बनाने वाला उसकी बातों से ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने अपने परिवार को रूस से बुलाने के लिये जो रुपया जमा किया था, वह सब अखबार के शेयर खरीदने में लगा दिया। पर जैसी सम्भावना थी, तमाम पूँजी के खत्म हो जाने पर बीस महीने बाद अखबार बन्द हो गया। चालीस वर्ष बाद जब वह राष्ट्र संघ में इसराइल की प्रतिनिधि थी, इस पर गोल्डा ने कुछ मुस्कराते हुए कहा—"मुझे अब भी उसके रुपये डूब जाने का ख्याल आता रहता है।" पर सन् १९२० में उसके मन में इस प्रकार की भावनायें नहीं उठती थीं।

सबसे कठिन समस्या गोल्डा के पति मोरिस की थी। प्रेम के वशीभूत होकर उसने गोल्डा की सब बातें स्वीकार करके विवाह कर लिया था। पर उसके मन में यही ख्याल था कि जैसे-जैसे अनुभव होता जायेगा और पैलेस्टाइन की कठिनाइयों का पता लगेगा तो वह वहाँ जाने का विचार छोड़ देगी, पर चूँकि गोल्डा का निर्णय किसी बाहरी लाभ या स्वार्थ के कारण न था, वरन् वह उसकी आन्तरिक जातीय भावना और परोपकार की वृत्ति से उत्पन्न हुआ था, इसलिये जैसे-जैसे कठिनाइयों और विरोध की बात सामने आने लगी वह और भी दृढ़ होती गई।

सन् १९२१ में पैलेस्टाइन से अरब लोगों के दंगों के समाचार आने लगे। अब रहन-सहन के कष्टों के साथ ही प्राणों का खतरा भी उत्पन्न हो गया। उस अवसर पर उसको बड़ी बहिन के पति "साम" ने बड़े आग्रहपूर्वक उसको खतरे से बचकर रहने को कहा तो गोल्डा ने उत्तर दिया—"तब तो मैं वहाँ अवश्य ही जाऊँगी।"

१.१३७ मरकर भी अमर हो गये जो

पैलेस्टाइन में आरम्भिक जीवन

सन् १९२३ में जब गोल्डा पैलेस्टाइन में पहुँची तो वहाँ की हालत वास्तव में बड़ी गिरी हुई और कठिन थी। उस समय तक वहाँ केवल कुछ लाख ही यहूदी थे, जिनमें से कुछ तो वहाँ के प्राचीन निवासी थे और कुछ यूरोपियन देशों से अत्याचारी शासकों के दमन के कारण प्राण बचाने को आ गये थे। ऐसे लोगों की तादाद, जो “यहूदी-राज्य” का आदर्श और उद्देश्य लेकर आये थे कुछ हजार ही थी। इनमें सबके नेता “बेनगुरियों” थे जो १९०५ में ही एक यहूदी उपनिवेश बसाने के उद्देश्य से पैलेस्टाइन में पहुँचे थे और वहाँ अपने साथियों के द्वारा कितने ही “सहकारी कृषि फार्मों” की स्थापना और संगठन करके विभिन्न देशों का दौरा करके होनहार नवयुवकों को पैलेस्टाइन में आकर बसने की प्रेरणा देते रहते थे। सन् १९१५ में टर्की की सरकार ने उनको “यहूदी-राज्य” के लिये षडयन्त्र करने के अपराध से देश निकाले का दण्ड दिया। तब वे अमेरिका में भ्रमण करके वहाँ अपने “मिशन” का प्रचार करने लगे। उसी समय गोल्डा की भेंट उनसे हुई थी और उन्हीं की बातों से प्रभावित होकर उसका पैलेस्टाइन में जाकर बसने का निश्चय अटल-अचल हो गया था। वह उसी समय पैलेस्टाइन चली जाती पर युद्ध के कारण उन दिनों वहाँ जाकर कार्य कर सकना असम्भव था, इसलिये महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् जाने का निश्चय करना पड़ा।

ऐसे विरोधी धर्म वालों द्वारा शासित और सैकड़ों वर्षों से उजाड़ पड़े हुए देश में जाकर बसना और उसको रहने लायक बनाना सहज न था। सन् १९०६ में कुछ धनवान यहूदियों द्वारा “एमेक” की घाटी की बहुत सी भूमि खरीदकर उसमें “सहकारी फार्म” स्थापित करने की योजना बनाई गई। यह जमीन जगह-जगह पानी और कीचड़ से भरी थी और इस कारण वहाँ मलेरिया का बड़ा प्रकोप रहता था। नये बसने वालों को बड़ा परिश्रम करके सर्वप्रथम वहाँ रूके हुए पानी को निकाल कर जमीन को खेती के लायक सूखी बनाना पड़ा। उसके पश्चात् वहाँ पर धीरे-धीरे सड़कें, मकान और बस्तियाँ बसाई गईं। यह कार्य कितना कठिन था और उन सबसे पहले आने वालों ने उसको किस प्रकार स्वार्थ त्याग के भाव से किया, इस सम्बन्ध में गोल्डा के पहुँचने के कुछ ही पहले “जैवनेली” नाम के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने एक कॉन्फ्रेंस में बतलाया था—

“इस समय इस प्रदेश में जो चार हजार यहूदी कार्यकर्ता निर्माण कार्यों में व्यस्त हैं वे ही इस देश की कायापलट करेंगे। हम सब मध्यम श्रेणी के घरों के युवक हैं, जिनको शारीरिक श्रम के कार्यों से कभी काम नहीं

पड़ा। पर अब वे पैलेस्टाइन आकर सब प्रकार के कामों को करने के अभ्यस्त बन रहे हैं। चाहे सड़क और “हाइवे” बनाना हो, चाहे मैदानों को हल से जोतना हो, चाहे पत्थरों को हटाना हो, चाहे पहाड़ों में खेती करनी हो—हर कार्य में हमने इस बात का प्रमाण दे दिया है कि अभी हमारी जाति का शक्ति-स्रोत सूख नहीं गया है। हमको ही “यहूदी-जगत” के सम्मुख यह घोषणा करनी है कि हम पोलैण्ड और रूमानिया के यहूदियों को बचाकर “इसराइल” राष्ट्र का निवासी बनायेंगे।”

गोल्डा भी पैलेस्टाइन पहुँच कर इन्हीं उत्साही देशभक्तों के दल में शामिल हो गईं, यद्यपि कितने ही पुराने विचारों के व्यक्ति स्त्रियों को घरेलू कार्यों, भोजन बनाने और सन्तानपालन तक ही सीमित रखना चाहते थे, पर गोल्डा और उसके जैसे विचारों की अन्य स्त्रियों ने इसको स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया और कहा कि हम भी राष्ट्र-निर्माण के लिये वे सब काम करेंगी जिनको पुरुष कर रहे हैं। इसलिये नाजुक युवतियों ने स्वेच्छा से चट्टानों को तोड़ने और सड़कें बनाने के कार्य में भाग लेना आरम्भ किया। यह सच है कि भारी पत्थरों के उठाने अथवा कुदाल चलाने के कार्यों में वे पुरुषों की समानता नहीं कर सकती थीं, फिर भी उन्होंने किसी प्रकार के परिश्रम से हार नहीं मानी। जर्मनी में रहने वाली एक सुन्दर लड़की, जो एक यूनीवर्सिटी में पढ़ रही थी, पैलेस्टाइन आकर दूसरे ही दिन से एक कृषि फार्म पर काम करने लगी। वहाँ की तेज धूप में बारह घण्टे काम करने और भोजन में केवल उबले हुए सेम या मटर आदि खाने से उसे पेचिश की शिकायत हो गई। जब उसने व्यवस्थापिका से दलिया देने की प्रार्थना की तो उसने उत्तर दिया कि “हमारे यहाँ रोगियों के लिये कोई व्यवस्था नहीं है।” फिर भी वह अपने निश्चय पर डटी रही और आगे चलकर “इसराइल” की एक प्रमुख कार्यकर्ता बन गई।

सहकारी कृषि-फार्म का रहन-सहन

गोल्डा को भी आरम्भ में काफी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं यद्यपि अब कृषि फार्म में खाने-पीने की सामग्री की उचित व्यवस्था हो गई थी, फिर भी सब लोगों को पूर्णरूप से परिश्रम करके ही काम चलाना पड़ता था। आरम्भ में लोगों का ख्याल था कि गोल्डा को अमेरिकन ढंग से आराम के साथ रहने की आदत है और वह कृषि फार्म के कार्य को न कर सकेगी पर वहाँ जब उसे बादाम तोड़ने का काम दिया गया तो उसने पूरी सफलता से पूरा कर दिखाया। यद्यपि खड़े-खड़े उसकी पीठ दर्द करने लगती थी और हाथ पीले पड़ जाते थे, पर वह कभी काम

से पीछे नहीं हटती थी। फिर भी कई महीने की परीक्षा के पश्चात् जब गोल्डा और उसके पति को सहकारी कृषि-संस्था का सदस्य बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया तो कुछ लोगों ने उसके सम्बन्ध में एतराज किया। उनका कहना था कि यद्यपि वह एक परिश्रमी और सहिष्णु कार्यकर्ता है, पर अभी तक उसमें अमेरिकियों के कितने ही शौक शेष रह गये हैं। वह काम करने के बाद कितनी ही बार शाम को रेशमी मोजे पहिन लेती है, कपड़ों में शिकन पड़ जाती है, तो वह उन पर अवश्य ही इस्त्री करती है, सामूहिक रसोईघर में काम करते समय वह मेज पर आयल क्लाय बिछाने को कहती है, अगर खाने वाले उठते समय अपनी खाने की मेजों को साफ नहीं कर जाते तो वह शोर मचाती है। ये सब बड़े लोगों के “शौक” हैं और आगे चलकर इनके कारण ऐसी और बातें होने की सम्भावना है।

सफाई की प्रवृत्ति के विरुद्ध ऐसे आक्षेप सुनकर गोल्डा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने आक्षेपकर्ताओं को उत्तर दिया कि “आप गायों तथा अन्य पशुओं की सफाई पर तो बड़ा जोर देते हैं, तो क्या मनुष्यों को उतना भी स्वच्छ नहीं रखना चाहते?” उसने इस विषय में किती की बात पर ध्यान न दिया और जब उसे ‘फार्म’ के पाँच पशुओं की देखभाल का काम सौंपा गया और उस समय वहाँ कोई छूत की बीमारी फैली तो उसने स्नान के ‘टब’ को “अल्कोहल” से धोकर साफ कर लिया। लोगों ने मजाक में उसका नाम ही गोल्डा से “ब्राण्डी बेबीज” (बरौंड़ी वाले बच्चे) रख दिया।

गोल्डा ने अपने सब कार्यों को इतनी योग्यता और लगन के साथ पूरा किया कि छः महीने में ही उसको “मुर्गी-पालन” की शिक्षा ग्रहण करने भेज दिया गया। वहाँ से लौटकर उसने फार्म में यह कार्य आरम्भ कर दिया और उसमें पूरी तरह से सफलता प्राप्त कर दिखाई। एक वर्ष बाद वह “कृषि फार्म” की तरफ से पैलेस्टाइन की “केन्द्रीय यहूदी श्रमजीवियों की यूनियन” में प्रतिनिधि बनाकर भेजी गई। वह अन्य प्रकार से भी आवश्यकता पड़ने पर फार्म निवासी स्त्री-पुरुषों की सहायता करती रहती थी और एक प्रकार से सर्वप्रिय बन गई थी।

पर गोल्डा के पति मोरिस को कृषि फार्म का जीवन कुछ भी पसन्द नहीं आया। पहली बात तो यह थी कि उसका शरीर ऐसा न था कि वहाँ के कमरतोड़ कार्य को कर सके। इसलिये शीघ्र ही उसे मलेरिया हो गया, जिससे उसकी चिन्ता और भी बढ़ गई। उसकी हड्डी भी टूट गई, जो बिना आपरेशन के ठीक नहीं हो सकती थी। इन सबसे अधिक खराब बात उसे जान पड़ती थी कि यहाँ पर

“प्राइवसी” (एकांत) और सामाजिकता का सर्वथा अभाव था। अन्य लोग तो इन बातों को “आदर्श” मानते थे पर मोरिस की दृष्टि में यह देहातीपन अथवा मूढ़ता ही थी।

कुछ समय बाद गोल्डा के मन में भी परिवर्तन की भावना आने लगी, यद्यपि सहकारी कृषि फार्म में स्थान पाना बड़ा सौभाग्य माना जाता था और जो एक बार वहाँ पहुँच जाता था वह उसे छोड़ने का कभी विचार नहीं करता था, क्योंकि वहाँ जीवन निर्वाह की बहुत स्थायी व्यवस्था थी। पर गोल्डा केवल खाने-पहिनने की व्यवस्था के लिये पैलेस्टाइन नहीं आई थी। वह उस देश के राष्ट्रीय जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण काम करना चाहती थी। इसलिये जब उसने अपने पति को ‘फार्म’ के जीवन से असन्तुष्ट देखा और यह भी अनुभव किया कि इसके कारण उन दोनों में मनोमालिन्य उत्पन्न हो रहा है, तो उसने उस स्थान को बदल देना उचित समझा।

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश

कुछ समय तक गोल्डा “तेल अबीव” में रही और “पब्लिक वर्क डिपार्टमेण्ट” में कैशियर का कार्य करती रही। पर इसके पश्चात् गर्भवती हो जाने से उसने वह कार्य छोड़ दिया और जेरूसलम में जाकर रहने लगी। गृहस्थी का भार पड़ जाने से वह अपना अधिकांश ध्यान बच्चों की तरफ लगाने लगी। उस समय उसकी आमदनी और भी घट गई। उधर पति को भी कोई ठीक नौकरी न मिल सकी। इस कारण सन् १९२४ से १९२८ तक चार-पाँच साल का समय उसे बड़ी कठिनाइयों में काटना पड़ा। इस सम्बन्ध में उसके जीवन चरित्र में कहा गया है—

“अपने बड़े बच्चे को एक नर्सरी स्कूल में दाखिल करने के लिये उसने वहाँ के सब बच्चों के कपड़े धोने का भार अपने ऊपर लिया, पर वहाँ पर अमेरिका की तरह धुलाई करने की मशीन न थी और गोल्डा को सब काम अपने हाथों से ही करना पड़ता था। वह एक के बाद दूसरा डोल पानी गर्म करती जाती और कपड़ों को एक लकड़ी के तख्ते पर पीट-पीट कर साफ करती। छः महीने तक “धोबिन” का काम करने के पश्चात् उसे एक अन्य प्राइवेट स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने की नौकरी मिल गई। उसे अपने बच्चे को पैदल या गोदी में लेकर जाना पड़ता था, क्योंकि बच्चों की गाड़ी खरीदने लायक पैसा उसके पास न था। बच्चे के लिये दूध का प्रबन्ध करने में भी कठिनाई पड़ती थी और स्वयं तो प्रायः सूखी रोटी पर ही गुजारा करना पड़ता था। यद्यपि गोल्डा के माता-पिता भी गरीब थे और उसे अपना जीवन अभावग्रस्त स्थिति में ही व्यतीत करना पड़ता था, पर यहाँ जेरूसलम में उसे बच्चों के पालने

१.१३६ मरकर भी अमर हो गये जो

में उससे भी अधिक कठिनाई सहन करनी पड़ रही थी। उसके किसी पड़ोसी ने दूध देने वाले से कह दिया कि मोरिस से दूध का रुपया वसूल कर सकना कठिन होगा, तो गोल्डा को दूध मिलना भी बन्द हो गया जो मिलता वह भी बड़ी कठिनाई से।

उसके ऊपर थोड़ा-थोड़ा करके काफी कर्ज हो जाता था। यद्यपि वह बड़ी सावधानी और मितव्ययिता से पैसा बचाती रहती तो भी महीने का अन्त होने पर मकान का किराया और खाद्य सामग्री वाले का बिल चुकाने के लिये कमी पड़ ही जाती थी। उस समय गोल्डा ने अपने सम्बन्धियों और मित्रों को जो पत्र लिखे थे उनसे विदित होता है कि दुकानदार ने उसे रोटी और “मार्गेरीन” (नकली मक्खन) उधार देने से इन्कार कर दिया था क्योंकि उसे सन्देह था कि उसका पति मोरिस दाम चुका सकेगा या नहीं? एक पत्र में उसकी बड़ी बहिन शाना ने लिखा था कि जब उसके पास पार्सल का किराया देने को पैसे आ जायेंगे तो वह उसको फलों तथा सब्जी का एक बॉक्स भेजेगी। इसके अतिरिक्त उन पत्रों में बच्चों को बुखार, खाँसी तथा बीमारियों के होने का भी जिक्र है।

पर गोल्डा ऐसी कठिनाइयों से घबड़ाने वाली स्त्री न थी। वह इन सबका मुकाबला अपनी आन्तरिक शक्ति तथा योग्यता से अच्छी तरह कर लेती थी। वह एक सुयोग्य गृहिणी और भोजन बनाने में चतुर थी। इस गरीबी की दशा में भी उसकी सफाई में अन्तर नहीं आया था। अब भी उसको गन्दी या असावधानी से धोयी हुई रकाबियाँ, टेबिल पर बेढंगे तौर से रखी हुई चीजें, खराब तरह से इस्त्री किया ब्लाउज बहुत नापसन्द था। पर इन सब बातों से बढ़कर शिकायत उसे इस बात की थी कि घर के इस जंजल ने उसको इतना अधिक फँसा लिया है कि सार्वजनिक जीवन से उसका पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद हो गया है।

गृहस्थी का संचालन या सार्वजनिक सेवा

इस प्रकार अपने पति के अनुरोध पर उसने सब प्रकार के सार्वजनिक कार्यों को छोड़कर अपना पूरा समय गृहस्थी में लगा दिया। इस बीच में उसके एक पुत्र और एक पुत्री भी हो गये। मोरिस का ख्याल था कि इस प्रकार माता बन जाने और गृहस्थी का भार ऊपर आ पड़ने पर गोल्डा सार्वजनिक जीवन से पृथक् हो जायेगी। पर उसकी यह आशा पूर्ण न हो सकी। न तो सन्तान-पालन और न गरीबी में घर की व्यवस्था के लिये रात-दिन परिश्रम करने से गोल्डा की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन हुआ। इसके सिवाय घर की आर्थिक दशा को देखते हुए भी यह आवश्यक था कि वह कोई ठिकाने का कार्य करे। इसलिये मोरिस

की इच्छानुसार अपने वैवाहिक कर्तव्यों का ध्यान करके उसने चार वर्ष घर के भीतर व्यतीत किये और इस अनुभव के आधार पर वह इसी निष्कर्ष पर पहुँची कि उसे “यहूदी राष्ट्र” के निर्माण की दृष्टि से कोई उपयोगी काम अवश्य करते रहना चाहिये।

जब उसके साथियों को पता चला कि गोल्डा पुनः सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने को प्रस्तुत है तो वे बहुत प्रसन्न हुए और शीघ्र ही उसे “स्त्रियों की श्रमजीवी सहायक समिति” की मन्त्री बना दिया गया। इस कार्य के लिये उसे प्रायः दौरे पर रहना पड़ता था और घर तथा बच्चों के देखभाल की कठिन समस्या उपस्थित होती थी। गोल्डा को अपने बच्चों से काफी प्रेम था और दूर रहने पर उसे उनकी चिन्ता लगी रहती थी पर साथ ही साथ वह अपने जीवन के उद्देश्य—जातीय उत्थान की भी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। यह एक हृदयद्रावक समस्या थी और इसका वर्णन करते हुए उसने एक बार लिखा था—

“जो माता काम पर बाहर जाती है उसका आन्तरिक संघर्ष और नैराश्य इतना अधिक होता है कि उसका दूसरा उदाहरण ढूँढ़ सकना कठिन है। ऐसी स्त्रियों में से एक श्रेणी तो उनकी होती है जो केवल आर्थिक कारणों से काम पर जाती हैं। अगर वे ऐसा न करें तो अपने बच्चों को भोजन भी न दे सकें। इसलिये उनको तथा बच्चों को इस बात का सन्तोष रहता है कि वह घर की आवश्यकता पूर्ति के लिये ही काम पर जाती हैं। पर दूसरी श्रेणी उन स्त्रियों की भी होती है जो स्वभाव से ही कुछ और कार्य भी करना चाहती हैं, जो अपने को विशाल सामाजिक जीवन से अलग नहीं कर सकतीं। वे अपने कार्य क्षेत्रों को घर के भीतर रहकर ही संकीर्ण नहीं बना सकतीं। ऐसी स्त्रियों को अवश्य ही बेचैनी और अशान्ति में रहना पड़ता है।”

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि गृहस्थी के संचालन तथा सार्वजनिक सेवा के कार्यों में जब विरोध पैदा हो जाये तो स्त्री क्या करें? भारतीय स्त्रियाँ अभी तक इस सम्बन्ध में एक ही उपदेश सुनती आई हैं कि स्त्री का एकमात्र कर्तव्य पति, पुत्र और घर की रक्षा तथा देखभाल करना है। किसी जमाने में—जबकि स्मृतियाँ और पुराण लिखे गये थे, अर्थात् डेढ़, दो हजार वर्ष पहले—यह बात ठीक मानी जा सकती थी। उस समय के कृषि-प्रधान समाज की आर्थिक व्यवस्था इसके अनुकूल थी, पर वर्तमान समय में उद्योग-धन्यों के प्रधानता वाले युग में हालात बहुत कुछ बदल गये हैं। अब सुयोग्य महिलाओं को अपनी समस्त प्रतिभा और योग्यता केवल घर के भीतर की व्यवस्था और सन्तान पालन में ही लगाते रहना उपयुक्त नहीं माना जा

सकता, विदेशों में तो यह साधारण बात हो गई है कि पत्नी भी किसी रोजगार या नौकरी द्वारा उतनी ही आमदनी कर लेती है जितनी कि पति करता है। हमारे देश में भी जब कोई व्यक्ति किसी कारणवश आर्थिक संकट में पड़ जाता है, तो उसकी पत्नी शिक्षक, नर्स अथवा अपने अनुकूल ऐसी ही नौकरी करके घर का काम चलाने लग जाती है। ऐसी अवस्था में यदि बच्चे छोटे हों तो उनको थोड़ी-बहुत असुविधा सहन करनी पड़ती है, पर आमदनी के अभाव में यदि उनको भूखा-प्यासा रहना पड़े तो उस दयनीय दशा से यह हालत ठीक ही मानी जायेगी।

गोल्डा ने इन सब बातों पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला कि देश और समाज के प्रति उत्तरदायित्व का पालन करने के लिये यदि गृहस्थी का भार कुछ अंशों में छोड़ना पड़े तो वैसा करना उचित ही है। इसमें भी माता को सदैव मानसिक चिन्ता बनी रहती है और उसके अन्तरंग में सदा एक संघर्ष होता रहता है, पर कर्तव्यपालन की दृष्टि से उसे सहन करना ही पड़ता है।

गोल्डा ने उस समय अपने मोह को नियन्त्रण में लाकर सार्वजनिक जीवन में भाग लेना आरम्भ कर दिया, तो कुछ ही वर्षों में इतना काम कर दिखाया कि पैलेस्टाइन के निवासी ही नहीं इंग्लैण्ड और अमेरिका के हजारों प्रसिद्ध पुरुष भी उसके प्रशंसक बन गये और अन्त में वह दिन आया कि “इसराइल” राष्ट्र की बागडोर उसी के हाथ में सौंपी गई। आज उसके बच्चे ऐसी माता के कारण अपने को कितना सौभाग्यशाली समझ रहे होंगे? गोल्डा का उदाहरण भारतीय नारियों के लिये अवश्य ही प्रेरणादायक है। हमारे देशवासी यूरोपियन और अमेरिकन, महिलाओं को केवल फैशन-परस्त और आरामपसन्द समझते रहते हैं, पर वहाँ लाखों की संख्या में ऐसी स्त्रियाँ मिल सकती हैं जिन्होंने देश और समाज की सेवा के निमित्त अनेक प्रकार के कष्ट सहन किये हैं। यह सभी जानते हैं कि अमेरिका में बिजली और मशीनों से घर-गृहस्थी के कार्य करने का इतना अधिक प्रचार है कि वहाँ की स्त्रियों को हाथ से बहुत थोड़ा काम करना पड़ता है, पर गोल्डा कर्तव्य की पुकार सुनकर उन सब सुविधाओं को छोड़कर स्वेच्छा से पैलेस्टाइन गई, जहाँ एक उजाड़ प्रदेश को निवास योग्य बनाने के लिये कड़ा परिश्रम करना अनिवार्य था। इसका सुफल उसके समाज को और उसे भी प्राप्त हुआ। हमारे देश में अभी तक इस प्रकार समाज-हित का ध्यान रखने वाली स्त्रियाँ इनी-गिनी निकली हैं, नहीं तो अधिकांश स्त्रियाँ ऐसी ही हैं कि यदि पुरुष देश, समाज, धर्म की सेवा करने की अभिलाषा रखता हो तो उसके मार्ग में भी अड़ंगा लगाती हैं। जबकि देश की आधी

आबादी इस प्रकार समाज कल्याण से उदासीन है, तो प्रगति और उन्नति की आशा कैसे की जा सकती है?

श्रमजीवी संगठन

महिलाओं का ‘लेबर यूनियन’ का कार्य आरम्भ करने के कुछ ही समय बाद गोल्डा का कार्य क्षेत्र बढ़ता गया और प्रधान श्रमजीवी संगठन में भी भाग लेने लगी। उसे श्रमजीवियों की प्रतिनिधि बनाकर लन्दन भेजा गया। उसके पश्चात् उसे अमेरिका में दो वर्ष रहकर वहाँ श्रमजीवी सहायक समिति में काम करने को कहा गया। इस तरह सात-आठ वर्ष में वह देश की एक प्रमुख नेता बन गई। वह अपनी बात को साफ शब्दों में कहती थी और किसी के प्रसन्न या अप्रसन्न होने की चिन्ता नहीं करती थी। इसलिये बहुत से नाजुक मामले उसी को सौंपे जाते थे। एक बार श्रमजीवियों में बेकारी फैल जाने से श्रमजीवी नेताओं का उत्तरदायित्व बढ़ गया और उन्होंने काम पर लगे हुए कर्मचारियों से अधिक चन्दा लेने का विचार किया। पर वे लोग पहले से ही कितने ही कार्यों के लिये इतना चन्दा दे रहे थे कि अधिक चन्दे के लिये कहने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ी। तब गोल्डा को यह कार्य सौंपा गया और उसने एक-एक कारखाने में जाकर मजदूरों से कहा कि इस समय संघ के सामने ऐसी स्थिति आ गई है कि वह इस कार्य के लिये कहीं से रुपया नहीं पा सकता। यहूदियों की सर्वोच्च व्यवस्थापिका सभा तो इस कार्य का महत्त्व समझती नहीं। अमेरिकन सहायकों से छोटे-छोटे मामलों के लिये अपील करना एक गलती होगी। उनसे हम बहुत बड़ी-बड़ी समस्याओं के लिये सहायता प्राप्त करते हैं। ऐसी हालत में पैलेस्टाइन के श्रमजीवियों का ही यह कर्तव्य है कि वह अपने भाइयों को भूखों मरने से बचायें। गोल्डा की बात अनेक कर्मचारियों को अनुचित तो जान पड़ी क्योंकि वे पहले ही बहुत दबाये जा चुके थे, पर उसकी स्पष्टोक्ति से उन्हें विवश होकर उसकी सलाह स्वीकार करनी पड़ी।

अंग्रेज अधिकारियों से मुलाकात •

सन् १९३६ में अरब लोगों ने फिर से उपद्रव करना और यहूदियों को मारना आरम्भ कर दिया। सन् १९३६ में इंग्लैण्ड की सरकार ने पैलेस्टाइन की स्थिति के बारे में एक “श्वेत-पत्र” प्रकाशित किया। उससे जान पड़ा कि ब्रिटिश सरकार पैलेस्टाइन का शासन यहूदियों को देने के बजाय वहाँ पर वह उनको “माइनोरिटी” (अल्पसंख्या) में ही रखना चाहती है। इससे समस्त यहूदियों में हलचल मची और संसार भर के यहूदी प्रतिनिधियों की एक कॉन्फ्रेंस जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में की गई। उसमें प्रसिद्ध यहूदी

१.१४१ मरकर भी अमर हो गये जो

राजनीतिज्ञ वेजमैन ने यह सुझाव रखा कि “ब्रिटिश सरकार ने हमको दिया वचन भंग कर दिया है, पर तब भी हमको अपना रचनात्मक कार्यक्रम जारी रखना चाहिये। हमको रंज अवश्य है पर इसमें शर्म की कोई बात नहीं। हम आत्म-रक्षा के सिवाय अन्य प्रकार से हथियारों के प्रयोग का विरोध करते हैं। हम अब भी इंग्लैण्ड के ‘श्वेत-पत्र’ में दिये गये अधिकारों से जितना बन पड़ेगा लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।”

पर कॉन्फ्रेंस की दूसरी तरफ से इसके विपरीत आवाज सुनाई दी कि “अब यहूदियों को पैलेस्टाइन में इस तरह कार्य करना चाहिये मानो वे ही शासक हैं। उनको तब तक इस तरह काम करना चाहिये जब तक वहाँ नियमानुकूल “इसराइल राष्ट्र” स्थापित न हो जाये।”

यह आवाज, पैलेस्टाइन के गर्म दल के नेता “बेन गुरियन” की थी और गोल्डा की भी यही सम्मति थी। वह पूर्णरूप से बेन गुरियन को अपना मार्गदर्शक मानती थी और उसी के दिखाये मार्ग पर चलती थी। अंग्रेज लोग यूरोप के यहूदियों को अधिक संख्या में पैलेस्टाइन में बसाने को तैयार न थे, उधर हिटलर भी जर्मनी के यहूदियों पर अत्याचार ढा रहा था। दो-तीन दिन बाद ही यूरोप में महायुद्ध की घोषणा हो गई और यूरोप तथा अमेरिका के नेता आगामी कठिनाइयों को समझ कर कुछ घण्टों के भीतर ही अपने देशों को भाग गये, पर गोल्डा तथा उसके साथी पैलेस्टाइन वाले वहाँ ठहरे रहे और उन्होंने विभिन्न देशों के युवक कार्यकर्ताओं को संगठित करके एक ऐसा संगठन बनाया जो युद्धकाल में भी विभिन्न रास्तों से उन यहूदियों को पैलेस्टाइन पहुँचा रहे थे, जो हिटलर के आतंक से अपने को बचाने के लिये इधर-उधर भाग रहे थे। उस समय यूरोप में बसने वाले यहूदियों की संख्या ७०-८० लाख के लगभग थी। इनमें से लाखों को ही हिटलर ने युद्ध आरम्भ होते ही गिरफ्तार करके असीम यंत्रणायें देकर मरवा दिया, लाखों ही युद्ध के चार-पाँच वर्ष के भीतर अन्य देशों में जर्मन सैनिकों और उनके सहकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गये। फिर भी लाखों व्यक्तियों की रक्षा पैलेस्टाइन के जातीय नेताओं के प्रयत्नों से हो सकी।

इन दिनों गोल्डा को निरन्तर अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था। वह निरन्तर गुप्त और प्रकट मीटिंग में भाग लेकर पैलेस्टाइन को अधिक संगठित और शक्तिशाली बनाने के लिये उद्योग करती रहती थी। विरोधी अरब लोगों के आक्रमणों से बचने के लिये भी सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये युवकों का एक गुप्त संगठन बनाया गया था जो छिपे तौर पर हथियार इकट्ठे करके

अवसर पड़ने पर आक्रमणकारियों का सामना करने को तैयार रहता था। सन् १९४३ में सिरकिन और रिचलिन नामक दो यहूदी सैनिक (स्वयंसेवक) अंग्रेजी सेना के हथियारों की चोरी के अभियोग में पकड़े गये। इस मुकदमे में गोल्डा को भी गवाह के रूप में बुलाया गया। उस अवसर पर उसने अंग्रेज अधिकारियों से जिस निर्भयता से बातचीत की उससे उसका प्रभाव अपने सजातियों में और भी अधिक बढ़ गया।

जब फौजी अदालत के अध्यक्ष ने उससे कहा कि “आप तो एक शान्तिप्रिय, कानून मानने वाली महिला हैं?” तो उसने कहा कि “मैं अभी तक किसी अपराध के लिये दोषी नहीं बनाई गई हूँ।” तब अध्यक्ष ने उसके भाषण का एक अंश पढ़कर सुनाया जिसमें कहा गया था, हम श्रमजीवी पैलेस्टाइन में किसी प्रकार के “फासिज्म” (अत्याचारी सैनिक शासन) के फैलने का मुकाबला करेंगे। इस देश में यहूदियों का संगठन पूर्णरूप से “श्वेत-पत्र” का विरोधी है और जो लोग उसका समर्थन करेंगे हम बराबर उनका मुकाबला करते रहेंगे। पिछले बीस वर्षों से हम अंग्रेज सरकार पर विश्वास करते आये हैं कि वह हमारे साथ न्याय करेगी, पर उसने अन्त में धोखा दिया। हम अपने युवकों को आक्रमण के लिये नहीं वरन् आत्मरक्षा के लिये हथियार चलाना सिखाते हैं। अगर कोई उनको दोषी ठहराता है तो पैलेस्टाइन के सभी यहूदी दोषी हैं। इंग्लैण्ड की सरकार यदि यह सोचती है कि वे हमारे साथ कैसा भी व्यवहार करें, हम उसे सहन करते रहेंगे, तो यह उसकी भूल है। पैलेस्टाइन में इतने जेलखाने और कैदियों को रखने के “कंसेंट्रेशन कैम्प” नहीं हैं जिसमें आत्मरक्षा के लिये प्रस्तुत समस्त यहूदियों को बन्द किया जा सके।

“गोल्डा ने अपने भाषण में कही इन बातों को अदालत के समक्ष भी स्वीकार किया और कहा कि निःसन्देह हम आत्मरक्षा के लिये हथियारों का प्रयोग करेंगे और जो यहूदी यूरोप से प्राण बचाने के लिये भाग रहे हैं और अंग्रेजी सरकार के रोकने पर भी गैरकानूनी ढंग से यहाँ आने की चेष्टा कर रहे हैं उनकी भी हम यथाशक्ति सहायता करेंगे।”

“एक दूसरे अवसर पर पैलेस्टाइन की समस्या की जाँच करने वाली ‘ऐंग्लो-अमेरिकन कमेटी’ के सदस्यों के सामने भी उसने स्पष्ट रूप से कहा कि हम पैलेस्टाइन में ‘माइनोरिटी’ (अल्पसंख्या) में रहने को तैयार नहीं हैं। मैं जानती हूँ कि इस संसार के विभिन्न देशों में यहूदियों पर जो अन्याय, अत्याचार हो रहे हैं उसका कारण उनका कोई व्यक्तिगत दोष नहीं है वरन् उनका दोष यही है कि वे सब जगह “अल्पसंख्य” हैं। इसलिये संसार में एक स्थान तो

ऐसा होना चाहिये, जहाँ वे 'अल्पसंख्य' न माने जायें और इच्छानुसार आ सकें ।”

जब गोल्डा से प्रश्न किया गया कि “वह हिब्रू भाषा की शिक्षा पर जोर क्यों देती है ? किसी ऐसी भाषा को सिखाने का प्रस्ताव क्यों नहीं करती जिसे अन्य लोग भी समझ सकें ?” तो उसने कहा, “हिब्रू हमारी मातृभाषा है । क्या हम यह नहीं कह सकते कि जब इन्टरनेशनल कॉन्फ्रेंसों में अन्य लोग विभिन्न भाषाओं में बोलते हैं तो हमको उनकी बात समझने में कठिनाई होती है । जिस प्रकार अंग्रेजी आपकी भाषा है, फ्रेंच फ्रांसीसियों की भाषा है, चाइनीज वहाँ के निवासियों की भाषा है, उसी प्रकार हमारी भाषा भी ‘हिब्रू’ है । अन्य देश वालों से तो कोई यह नहीं पूछता कि वह उस भाषा को क्यों बोलते हैं ? तब हम पर ही अपनी भाषा बोलने के कारण क्यों एतराज उठाया जाये ? वैसे अन्य देश वालों से व्यवहार करने के लिये हम अपने हाईस्कूलों में अरबी और अंग्रेजी की शिक्षा भी देते हैं ।”

इस प्रकार प्रत्येक महत्व के अवसर पर गोल्डा ने यहूदियों की जातीयता और उनकी भाषा तथा संस्कृति की रक्षा के लिये कार्य और विचारों के रूप में जो कुछ प्रयत्न किया, उससे उसकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती चली गई । दूसरी ओर अंग्रेज सरकार के अधिकारी भी उसकी स्पष्टवादिता तथा न्यायानुकूलता के कारण उसका सम्मान करते थे । यद्यपि पैलेस्टाइन में होने वाले सभी गुप्त और प्रकट कार्यों में उसका सहयोग रहता था, कितने ही कार्यों का तो वह संचालन करती ही थी, पर अपनी योग्यता और वार्तालाप के ढंग से उसने न तो किसी बात का भेद खुलने दिया, और न आन्दोलन की किसी प्रकार अप्रतिष्ठा होने दी ।

गुप्त रेडियो और उपवास आदि

एक दिन गोल्डा ने अपनी एक अमेरिकन सहयोगिनी को सूचना दी कि अंग्रेजी सरकार की “सेंसरशिप” के कारण हमारे कार्यों और आन्दोलन के समाचार पैलेस्टाइन की जनता को नहीं मिल पाते, इसलिये हमने अपना एक गुप्त रेडियो स्टेशन खोलने का निश्चय किया है, जिसका नाम ‘कोल इसराइल’ (इसराइल की आवाज) होगा । उसमें तुम्हें अंग्रेजी में ब्रॉडकास्ट करना होगा । हिब्रू और अरबी में दूसरा व्यक्ति बोलेगा । जैसे ही ब्रॉडकास्ट समाप्त होगा रेडियो की मशीन को अलग-अलग करके वहाँ छुपा दिया जायेगा और बोलने वाले भी तुरन्त ही वहाँ से बाहर चले जायेंगे । यह ब्रॉडकास्ट का कार्य प्रतिदिन किसी नये स्थान से किया जायेगा जिससे अंग्रेज अधिकारी उसका पता

लगाकर रोक न सकें । उनके पास राडार और अन्य हर तरह के वैज्ञानिक यन्त्र हैं जिनके द्वारा वे इसके स्थान को ढूँढ़ सकते हैं । वैसे ब्रॉडकास्ट होते समय वह स्थान हमारे सैनिक जासूसों द्वारा घिरा रहेगा, जो कोई घटना होने पर तुरन्त सीटी बजाकर खबर दे देंगे । वे दो-चार मिनट में ही मशीन को छिपाकर छतों पर जाकर इधर-उधर कूद जायेंगे । उनको इस कार्य के लिये प्रशिक्षित किया गया है ।

यह रेडियो का कार्य काफी समय तक चलता रहा, पर अंग्रेजी गुप्तचर उसका पता कभी न लगा सके । गोल्डा ने भी ब्रॉडकास्ट करने वाली महिला से एक बार के सिवाय फिर कभी इस सम्बन्ध में शब्द नहीं कहा क्योंकि यह निश्चय कर लिया गया था कि ऐसे गुप्तकार्यों के सम्बन्ध में कभी चर्चा ही न की जाये और न उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ की जाये, इसी उपाय से पैलेस्टाइन में ‘यहूदी-राज्य’ के संस्थापक अपनी योजनाओं को गुप्त रूप से पूरा करते हुए अन्त में लक्ष्य तक पहुँच गये ।

उन्हीं दिनों यूरोप से भागने वाले कई शरणार्थियों का एक जहाज अंग्रेजी सरकार के कहने पर इटली के बन्दरगाह पर रोक लिया गया । इस पर शरणार्थी भूख हड़ताल करने लगे । जब यह समाचार पैलेस्टाइन पहुँचा तो वहाँ भी बड़ी हलचल मची और गोल्डा ने प्रस्ताव किया कि हम लक्ष्यों को भी अपने विपदाग्रस्त भाइयों के साथ उपवास करवा चाहिये । इस उपवास में केवल प्रमुख संघों के चुने हुए प्रतिनिधि ही भाग ले सकते थे । इसका आश्चर्य यह नहीं था कि प्रसिद्ध नेताओं के उपवास करने से इंग्लैण्ड की जनता पर विशेष प्रभाव पड़ेगा, वरन् यह बात भी दृष्टिगोचर रखी गई थी कि इस महत्वपूर्ण कार्य में उन्हीं को स्थान दिया जाये जो पर्याप्त जातीय सेवा करके उसके लिये अपनी योग्यता सिद्ध कर चुके हों । एक शर्त यह भी रखी गई थी कि उपवास करने वालों का स्वास्थ्य ऐसा हो कि वे शीघ्र ही असमर्थ न हो जायें । इसलिये उनमें से प्रत्येक को डॉक्टर का सर्टीफिकेट पेश करना भी आवश्यक था ।

जिस समय की यह घटना है उसी समय गोल्डा बीमारी से उठकर अस्पताल से अपने घर आई थी । अभी उसमें काफी कमजोरी थी, इसलिये उसके डॉक्टर ने सर्टीफिकेट देने से इन्कार कर दिया । इस पर गोल्डा ने हठपूर्वक कहा कि, सर्टीफिकेट नहीं मिलेगा तो मैं घर पर ही निजी तौर पर उपवास करूँगी, क्योंकि भूख हड़ताल का प्रस्ताव मैंने ही किया है । डॉक्टर उसकी हठीली प्रकृति को जानता था, इसलिये उसने विचार किया कि घर पर उपवास करने की अपेक्षा सुयोग्य डॉक्टरों के निरीक्षण में सबके साथ

१.१४३ मरकर भी अमर हो गये जो

उपवास करना ही ठीक रहेगा । तब उसने गोल्डा को सर्टीफिकेट दे दिया ।

उपवास “ज्यूइश एजेन्सी” के जेरूसलम स्थित भवन में आरम्भ किया गया, जिससे अंग्रेज अधिकारियों पर उसका पूरा प्रभाव पड़ सके । दो दिन तक तो उपवास करने वाले एक जगह इकट्ठे होकर विचार विमर्श करते रहे पर तीसरे दिन जब वे कमजोर पड़ने लगे तो अधिकांश रात्रि में अपने कमरों में ही पड़े रहने लगे । चौथे दिन प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक हेरल्ड लास्की का तार रोम में आया कि शरणार्थियों के जहाज को छुड़ाने की व्यवस्था कर रहे हैं, उपवास बन्द कर दिया जाये । पर उपवास करने वालों ने उत्तर दिया कि जब तक इस सम्बन्ध में सरकार कोई वचन न दे उपवास का तोड़ना सम्भव नहीं । उसी दिन अमेरिका के भी कितने ही लखपती यहूदियों ने इस सम्बन्ध में सहानुभूति प्रकट करने के लिये उपवास करने की घोषणा की पर तब तक सरकार ने जहाज को छोड़ दिया और मामला समाप्त हो गया ।

सशस्त्र संघर्ष का आरम्भ

“ऐंफ्लो-अमेरिकन” कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि इस वर्ष एक लाख यहूदियों को पैलेस्टाइन में जाने दिया जाये । पहले तो इंग्लैण्ड की सरकार ने इसे मान लिया पर महीने भर बाद वह कहने लगी कि यदि इतने यहूदी भेजे गये तो अरब लोगों का उपद्रव खड़ा हो जायेगा जिसे रोकने के लिये हमें एक “डिवीजन” सेना वहाँ भेजनी पड़ेगी । इंग्लैण्ड के इस पक्षपातपूर्ण रुख को देखकर पैलेस्टाइन के आन्दोलनकारी बिगड़ गये और उन्होंने निश्चय किया कि अब हम वह कार्य कर दिखायेंगे, जिससे इंग्लैण्ड को एक डिवीजन से भी अधिक सेना इस देश में भेजनी पड़ेगी । बस उन्होंने १६ जून, १९४६ को आधी रात के समय तमाम पुलों को उड़ा दिया, अन्य देशों को जाने वालों रास्तों को काट दिया और इस प्रकार पैलेस्टाइन ने अंग्रेजी हुकूमत को कुछ घण्टों में ही अपंग कर दिया ।

अंग्रेजी सरकार ने भी इसके उत्तर में जोरों से दमन आरम्भ किया और समस्त नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को पकड़कर काँटेदार तारों से घिरे कैम्प में बन्द कर दिया । जब गिरफ्तारियाँ होने लगीं तो कुछ लोगों ने दौड़कर गोल्डा को खबर दी ताकि कहीं छुपकर वह गिरफ्तारी से बच सके, पर उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया । वह देश के लिये कष्ट सहन करने में किसी से पीछे नहीं रहना चाहती थी । पर अंग्रेज अधिकारियों ने कुछ सोचकर उसको नहीं पकड़ा । वह इससे जरा भी खुश नहीं हुई, क्योंकि जब सब नेताओं के पकड़े जाने पर उसी को “ज्यूइश एजेन्सी”

का अध्यक्ष बनाया गया और तब अंग्रेज अधिकारियों से सब प्रकार की बातचीत और समझौता करने का भार उसी पर आ पड़ा । पहले तो लोगों को सन्देह था कि वह पुराने अध्यक्ष और नेताओं की तरह विद्वान और राजनीतिक मामलों में अनुभवी नहीं है । अभी तक लोग उसे एक प्रभावशाली भाषणकर्ता के रूप में ही जानते थे, इसलिये वे सोचते थे कि शासन सम्बन्धी पेचीदा समस्याओं और विभिन्न विभागों की व्यवस्था वह ठीक तरह नहीं कर सकेगी पर गोल्डा ने इस पद पर रहकर भी बड़ा काम कर दिखाया । वह यहूदी राज्य के लिये बराबर अंग्रेज अधिकारियों से संघर्ष करती रहती थी, पर उसका व्यवहार ऐसा सदाशयतापूर्ण रहता था कि वे कभी रुष्ट नहीं होते थे । पैलेस्टाइन के हार्ड कमिश्नर मि. कर्निंगहम उससे बहुत सन्तुष्ट थे और उसके सद्भावपूर्ण व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि कितने ही अधिकारी यहूदियों की माँग के अनुकूल हो गये और सन् १९४९ में इसराइल को स्वराज्य का अधिकार दे दिया गया ।

पर सबसे अधिक कठिन समस्या “इसराइल” राष्ट्र के स्थापित होते ही आई । अरब लोगों ने घोर उपद्रव मचा दिया और आसपास के अरब शासक भी उस पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे । इसका मुकाबला करने के लिये सैन्य सामग्री खरीदना आवश्यक था और यह काम एक-दो करोड़ का नहीं, बरन् पचासों करोड़ रु. का था । तब गोल्डा कर्ज और चन्दे के रूप में धन इकट्ठा करने अमेरिका गई । यद्यपि स्वयं इसराइल के खजान्ती ने कहा था कि अमरीका से पचास-साठ लाख डालर से अधिक ऋण न मिल सकेगा पर गोल्डा ने ढाई महीने में ५ करोड़ डालर इकट्ठा करके दिखा दिया । उसी समय यूरोप में मौजूद दूतों ने टैंक, वायुयान और गोला-बारूद खरीदकर पैलेस्टाइन को खाना कर दिया और वहाँ की सेना जोरों के साथ अरबों का मुकाबला करने योग्य बन गई । उस अवसर पर इसराइल राष्ट्र के सर्वप्रथम प्रधानमंत्री बेनगुरियो ने कहा—“किसी दिन जब इसराइल राष्ट्र का इतिहास लिखा जायेगा, तो लोग जान सकेंगे कि एक ऐसी यहूदी स्त्री थी जिसने धन इकट्ठा करके दिया और उसी से राष्ट्र का स्थिर रह सकना सम्भव हुआ ।”

अरब लोगों से मार-काट आरम्भ हो जाने पर गोल्डा अरब स्त्री का वेश धारण करके जार्डन के बादशाह अब्दुल्ला के पास गई । अरबों के देश में इस प्रकार चालाकी से घुस जाना बड़ा खतरे का काम था, जिसमें कदम-कदम पर किसी की गोली का शिकार हो जाने का भय था, पर देश की खातिर वह अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार हो गई । यद्यपि शाह अब्दुल्ला ने उसके प्रस्ताव को पूरी तरह

से स्वीकार तो नहीं किया, फिर भी आक्रमण में कुछ ढील आ गई और इसराइली अपनी तैयारियाँ कर सके ।

शाह अब्दुल्ला से बातचीत करते समय गोल्डा ने जिस कौशल का परिचय दिया उससे उसकी राजनीतिज्ञता तथा निर्भीकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । सबसे पहले उसने अब्दुल्ला को उसके वायदे की याद दिलाई कि वह “इसराइल राष्ट्र” की स्थापना के लिये पहले जो वचन दे चुका है उसे अब पूरा करने चाहिये । अब्दुल्ला ने उस वायदे से इन्कार तो नहीं किया पर कहा कि “उस समय मैं समझता था कि अपना मालिक मैं स्वयं ही हूँ, पर अब परिस्थिति बदल गई है और मैं कोई कार्य अपनी मर्जी से करने को स्वतन्त्र नहीं हूँ । फिर भी अगर यहूदी स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित करने की घोषणा न करें और पैलेस्टाइन में बाहर के यहूदियों का आना बहुत समय के लिये रोक दें तो युद्ध का होना रोका जा सकता है । एक वर्ष के बाद मैं पैलेस्टाइन को जार्डन के साथ मिला दूँगा और यहूदियों को पार्लियामेण्ट में यथोचित प्रतिनिधित्व प्रदान करूँगा । मेरा व्यवहार यहूदियों के प्रति सदाशयता तथा उदारता का रहेगा । अगर यहूदी युद्ध आरम्भ कर दें और उसके फलस्वरूप उनके द्वारा अब तक की गई कृषि तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति नष्ट हो जाये तो यह बड़े खेद की बात होगी । मैं नहीं समझता कि आप लोग स्वतन्त्र राष्ट्र की घोषणा के लिये ऐसी जल्दबाजी क्यों कर रहे हैं ।”

गोल्डा ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—“जो जाति दो हजार वर्ष से अपने अधिकारों के लिये राह देखती रही है उसे जल्दबाज कैसे कहा जा सकता है ! मैं तो समझती हूँ कि यहूदी जरूरत से ज्यादा धैर्य धारण किये रहे, इसी से उन पर अन्याय किया जाता रहा ।” गोल्डा ने यह भी कहा कि अब्दुल्ला अरब लोगों को दी जाने वाली भूमि को अपने राज्य में शामिल करना चाहे तो उस सम्बन्ध में हम समझौते के लिये तैयार हैं । वैसे इस समय यहूदी कुछ महीने पहले की अपेक्षा बहुत शक्तिशाली हो गये हैं अगर उनको युद्ध में घसीटा ही गया तो वे किसी भी स्थान पर उसके लिये तैयार हो जायेंगे ।

अब्दुल्ला ने कहा कि—मैं यहूदियों की शक्ति को समझता हूँ कि वे आक्रमणकारी को हटा सकते हैं । मैं अपने पुराने वायदे को भी स्वीकार करता हूँ, पर तब से बहुत-सी नई बातें हो चुकी हैं । तब मैं अकेला कर्त्ता-धर्त्ता था पर अब मैं पाँच शासकों के गुट में से एक हूँ ।

गोल्डा ने मौका देखकर कहा कि “आप यह समझ लें कि केवल यहूदी ही आपसे मित्रता रखते हैं ।” इस पर अब्दुल्ला ने सर हिलाकर कहा कि “इस सम्बन्ध में मुझे

किसी प्रकार का सन्देह नहीं है और मैं आपकी मैत्री-भावना में विश्वास रखता हूँ । मैं हृदय से यह विश्वास करता हूँ कि भगवान ही यहूदी लोगों को फिर से पैलेस्टाइन में वापस लाया है । आप लोग “सेमेटिक नस्ल” के विशेष व्यक्ति हैं और आपके ज्ञान तथा उत्साह के द्वारा ही इस प्रदेश की वास्तविक उन्नति हो सकती है । हम सब आपस में सहयोग का भाव रखकर ही प्रगति-पथ पर बढ़ सकते हैं । मैं इन सब बातों को अच्छी तरह जानता और समझता हूँ, पर परिस्थितियाँ बहुत कठिन हैं । इस समय बिना सोचे-समझे कोई कदम उठाना खतरनाक है और इसीलिये मैं आपसे धैर्य रखने को कहता हूँ ।”

गोल्डा, अब्दुल्ला की नीतिज्ञता को अच्छी तरह समझती थी इसलिये उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में न आकर उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—“हम आपको इस विषय में भ्रम में नहीं रखना चाहते और इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि हम आपके इस प्रस्ताव पर किसी हालत में कभी विचार भी नहीं कर सकते । हमारे सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं, तो भी विजय हमारी ही होगी । सम्भवतः युद्ध के पश्चात् हम फिर मिलेंगे, जबकि “इसराइल” राष्ट्र की स्थापना हो चुकेगी ।”

इस प्रकार गोल्डा ने एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह अपने विरोधी अरब शासकों में से एक प्रमुख व्यक्ति को प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से अपने अनुकूल बना लिया । इसके परिणामस्वरूप युद्ध कुछ समय रुका रहा और इस बीच में यहूदियों ने अपनी शक्ति अधिक से अधिक बढ़ा ली । युद्ध में गोल्डा ने भी अपनी कर्त्तव्यपूर्ण शक्ति को योग्यता से निबाहा और अन्त में उसके कथनानुसार यहूदियों की ही विजय हुई ।

इसराइल की स्थापना के बाद ही गोल्डा को राजदूत बनाकर रूस भेजा गया । वहाँ के यहूदियों ने उसका ऐसे उत्साह से स्वागत किया कि यहूदियों के “सिनागोग” (धर्म मन्दिर) में उसे देखने के लिये ४० हजार व्यक्तियों की भीड़ लग गई । इसके पश्चात् जब राष्ट्र संघ में अरब प्रतिनिधियों की बातों का उत्तर देने को उसे इसराइल का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया तो वहाँ भी उसने अपना प्रभाव अच्छी तरह जमा लिया । उसी वर्ष उसे इसराइल के ‘श्रम मन्त्री’ के पद पर नियुक्त किया गया । इस पद पर सात-आठ वर्ष तक कार्य करके उसने मजदूरों के लिये सस्ते और सुविधाजनक मकान बनाये जाने की व्यवस्था की । सन् १९५६ में वह विदेश मन्त्री बना दी गई । इन आठ वर्षों में उसने प्रयत्न करके चालीस देशों से इसराइल राष्ट्र का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया । सन् १९६५

१.१४५ मरकर भी अमर हो गये जो

में आपने विश्राम लेने के विचार से नये चुनावों में भाग नहीं लिया और दो वर्ष तक अपनी पुत्री के पास एक कृषि फार्म में निवास करती रहीं। जब इसराइल के प्रधानमंत्री एशकोल का देहान्त हुआ तो मित्रों के बहुत अधिक आग्रह करने पर आप श्रमजीवी दल की तरफ से चुनाव के लिये खड़ी हुईं और १८ मार्च, १९६६ को देश की सर्वोच्च शासक चुन ली गईं।

इस प्रकार एक महिला के चुनाव में सफल होने से इसराइल में एक नये युग के आगमन की सम्भावना है। अभी तक उसकी बहुत कुछ शक्ति और आर्थिक साधन विरोधी अरब राष्ट्रों से युद्ध की तैयारी करने में खर्च हो जाते हैं। गोल्डामेयर ने इसी अगस्त (१९७०) में स्वेज नहर आदि जीते हुए स्थानों से सेना हटाकर ऐसा कदम उठाया है, जिससे शान्ति की आशा हो गई है। यद्यपि संसार की राजनीतिक गतिविधियों को देखते हुए हम दीर्घकालीन स्थायी शान्ति की आशा तो अभी नहीं कर सकते, पर श्रीमती गोल्डा मेयर के इसराइल की संचालिका होने से यह विश्वास किया जा सकता है, वे जहाँ तक सम्भव होगा अपनी तरफ से युद्धान्ति को भड़काने का कोई कार्य नहीं करेंगी और समझौते और शान्ति के लिये प्रयत्नशील रहेंगी।

वर्तमान समय में गोल्डा मेयर का एक ऐसे राष्ट्र का प्रधान संचालक नियुक्त किया जाना, जो आकार और जनसंख्या की दृष्टि से छोटा होने पर भी विश्व की राजनीति को प्रभावित कर रहा है, एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। वर्तमान समय में युद्ध से उकताया और भयभीत हुआ संसार चिरस्थायी शान्ति के लिये अनेक प्रस्तावों पर विचार विमर्श कर रहा है। उनमें से एक प्रस्ताव यह भी है कि अब शासन की बागडोर स्त्रियों के हाथ में दी जानी चाहिये। पुरुष शासनकर्त्ता बनकर बड़े अन्याय और जुल्म कर चुका, कत्लेआम की आज्ञा देकर लाखों निरपराध और निरीह व्यक्तियों के खून से भूमि को लथपथ कर चुका, धर्म के नाम पर असंख्य व्यक्तियों को प्रज्ज्वलित अग्नि में झोंक चुका। अब उसका युद्धोन्माद यहाँ तक बढ़ चुका है कि वह एटम और हाइड्रोजन बमों द्वारा समस्त संसार में एक साथ महाप्रलय का दृश्य उपस्थित करने की धमकी दे रहा है। इस स्थिति को देखकर अनेक विचारकों का ध्यान इस तरफ आकर्षित हुआ है कि यदि शासन की शक्ति स्त्रियों के हाथ में दे दी जाये तो वे राजनीति की गतिविधियों को नया मोड़ देने में समर्थ हो सकती हैं। सभी स्त्रियों में मातृहृदय होता है और वह जहाँ तक सम्भव होगा खून-खराबे का अवसर कम से कम आने देंगी।

गोल्डा मेयर ने भी शासन की बागडोर सम्भालते ही उपर्युक्त मार्ग का अनुसरण आरम्भ कर दिया है यद्यपि वह अपने राष्ट्र के सम्मान और सुरक्षा में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देना चाहती तो भी उसने अपने आरम्भ के ही भाषण में यह घोषणा कर दी है कि—“I don't know when peace will come, but I have no doubt that it will come.” (मैं नहीं जानती कि शान्ति कब तक हो सकेगी, पर इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं कि वह अवश्य आयेगी।)

लेकिन इसराइल और अरब राष्ट्रों में इस समय जैसी तनातनी हो रही है और अरबों का एक दल इस छोटे से यहूदी राष्ट्र को जैसी धमकियाँ दे रहा है, उससे यही जान पड़ता है कि गोल्डा पसन्द करे या न करे, एक बार इन दोनों पक्षों में निर्णायक संघर्ष होकर रहेगा। कुछ उग्र अरब राष्ट्रवादियों ने “अल फतह” नाम का एक संगठन बनाया है, जिसका उद्देश्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सब प्रकार के हिंसक और आतंकवादी उपायों से काम लेकर इसराइल का जड़मूल से सफाया कर देना है। उसके मुखिया यासर अराफात ने कुछ समय पूर्व एक पत्र-सम्वाददाता से बातें करते हुए कहा था—

“इस समय हमारा उद्देश्य इसराइल के साथ एक खूनी और लम्बी लड़ाई करके उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति को नष्ट-भ्रष्ट कर देना है। उस युद्ध में हमको सफलता प्राप्त करनी ही होगी।”

अन्य अरब राष्ट्र, जिसका मुखिया मिस्र है इसराइल की सत्ता को मानने से इन्कार करता रहता है और कहता है कि “हम पैलेस्टाइन की भूमि पर, जहाँ सैकड़ों वर्षों से अरब लोग निवास कर रहे हैं, विदेशियों का शासन कायम नहीं रहने देंगे।” उधर यहूदियों का कथन है कि “पैलेस्टाइन ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र निवास-गृह है। मुसलमानों ने कुछ सौ वर्ष पूर्व अपनी विशाल सैनिक शक्ति द्वारा उस पर कब्जा कर लिया। पर वास्तव में वह हमारा है और हमारा ही रहेगा।” इन दोनों प्रकार की मान्यताओं पर विचार करने और दोनों पक्षों की दृढ़ता को देखकर इस बात की सम्भावना बहुत कम जान पड़ती है कि यह समस्या अन्त में शान्तिपूर्वक हल हो सकेगी। लक्षणों से तो यही प्रतीत होता है कि कुछ ही वर्षों में यह संघर्ष भयंकर रूप में प्रकट होकर केवल इन दोनों पक्षों में ही सीमित नहीं रहेगा वरन् विश्वव्यापी संग्राम का भी कारण बन जायेगा। उस स्थिति में भी गोल्डामेयर इसराइल राष्ट्र की संरक्षिका सिद्ध होंगी, यह विश्वास किया जा सकता है।



॥ शौर्य और पराक्रम के कीर्तिस्तम्भ ॥

वीर शिरोमणि : दुर्गादास

देश, धर्म और जाति की रक्षा के लिये समय-समय पर जिन वीरों ने भारत माता की गोद में जन्म लिया और अपने पावन कर्तव्य का पालन करने में सर्वस्व के साथ जीवन तक बलिदान कर दिया, उनमें वीर दुर्गादास का बहुत ऊँचा स्थान है। इतिहास में जो तलवार के धनी योद्धा, नायक आगे दिखलाई देते हैं उनमें वह संख्या उन्हीं की है जो या तो राजा थे या राजकुमार और अधिकतर अपने ही भू-खण्ड की रक्षा स्वतन्त्रता अथवा आन-बान-शान, यश, गौरव और अभिमान के लिये मैदान में आये और अपना जौहर दिखलाकर अस्त हो गये। उनके बलिदान अथवा वीरता की निष्पक्ष विवेचना की जाये तो उनके कर्तव्य के पीछे उनका आत्म-व्यक्तित्व किसी न किसी अंश में सक्रिय रहा दिखाई पड़ेगा।

वीर दुर्गादास एक ऐसे नायक थे, जिनका सारा कर्तव्य और सम्पूर्ण जीवन परस्वार्थ, परसेवा और परोपकार एवं राष्ट्रहित की पवित्र वेदी पर बलिदान होता रहा। वे न राजा थे और न राजकुमार, न उनका कोई पैतृक राज्य था और न बाद में ही उन्होंने कोई भू-खण्ड अपने अधिकार में करके उस पर अपना राजतिलक कराया। जबकि उन्होंने अपने बाहुबल और बुद्धिबल से सम्पूर्ण मारवाड़ को स्वतन्त्र कराया, मुगलों से तमाम जागीरें छीन लीं और दिल्ली के बादशाह औरंगजेब को नीचा दिखाकर आर्य धर्म की पताका ऊँची कर दी। आगामी मुगल बादशाहों के होश इस सीमा तक ठिकाने कर दिये कि भारत में धार्मिक अथवा जातीय अत्याचार का चक्र बन्द हो गया और हिन्दू-मुसलमानों के बीच समान गौरव की स्थापना हो गई।

वीर दुर्गादास एक साधारण सेनानायक के पुत्र थे और आजीवन, बड़ी-बड़ी बिजय पाकर भी सिपाही बने रहे। न उन्होंने कभी राज्य का लोभ किया और न राजपद का। वे योद्धा होकर भी जनसेवक और नायक होकर भी अपने को नगण्य बनाये रहे। कार्य व्यस्तता और संघर्ष की आँधी में वीर दुर्गादास के जीवन में कभी कोई ऐसा समय आया हो, जब उन्होंने बैठकर विश्राम की सांस ली हो, इतिहास में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। घोड़े की पीठ ही उनका

निवास एवं विश्राम स्थान था, तलवार ही उनकी परिचारिका और कर्तव्यनिष्ठा ही उनकी तृप्ति थी। आजीवन कृपाण-पाणि रहते हुए भी वे सघनतम घमासानों के बीच भी अपने उदात्त मानवीय चरित्र की रक्षा करते रहे। जहाँ उन्होंने परपीड़क अनाचारियों को धरा-धाम से उठा-उठा कर पृथ्वी का भार हल्का किया, वहाँ किसी शरणागत, असहाय अथवा निःशस्त्र शत्रु के प्रति दया-दाक्षिण्य का व्यवहार करने में भी संकोच अथवा संकीर्णता न दिखलाई। उनका युद्ध मुगलों के विरुद्ध राजपूतों का न होकर अनाचार के विरुद्ध मानवता का संघर्ष था। राजमद के विरुद्ध जन-ज्वाला और विस्तार के विरुद्ध स्वाधीनता की अभिव्यक्ति थी। दुर्गादास वीर होकर भी, विनम्र, योद्धा होकर भी दयालु और सिंह होकर भी साधु पुरुष थे। वे विजयी होकर भी निरभिमान और समर्थ होकर भी निस्वार्थ बने रहे। जीवन में जो कुछ किया दूसरों के लिये किया और जो कुछ पाया दूसरों के हित में दे दिया। आप आदि में जिस प्रकार एक सैनिक थे, उसी प्रकार अन्त में भी एक सामान्य मनुष्य की भाँति, अर्जित, यश, वैभव और मान-सम्मान का त्यागकर तीर्थाटन पर चले गये। वीर दुर्गादास का सम्पूर्ण जीवन भारतीय चरित्र का एक उज्ज्वल उदाहरण माना जा सकता है।

दुर्गादास के पिता आशाकरण जोधपुर के महाराज जसवन्त सिंह की सेना में एक सामान्य नायक थे किन्तु अपनी वीरता और सत्यनिष्ठा के कारण महाराज जसवन्त सिंह के विशेष विश्वास पात्रों में से थे। उज्जैन की लड़ाई में आशाकरण के मारे जाने पर दुर्गादास, उनका छोटा भाई जसकरण और विधवा माता एक प्रकार से निराश्रित से हो गये। उस समय दुर्गादास की आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी और भाई बहुत छोटा था। घर में थोड़ी-सी जमीन के सिवाय कोई बड़ी जमीन-जायदाद नहीं थी।

पिता के न रहने पर कल्याणगढ़ के दूसरे राठौरों ने दुर्गादास की माता को समझाया कि वे दुर्गादास को महाराज जसवन्त सिंह के पास भेजे, या स्वयं जाकर आशाकरण के स्थान के लिये प्रार्थना करे। माता अपने पुत्र के स्वाभिमान

२.२ मरकर भी अमर हो गये जो

को जानती थी तब भी उसने एक बार कह देखने का निश्चय कर लिया, और कहा भी—“न हो तो बेटा ! महाराज के पास जाकर प्रार्थना कर देखो, शायद तुम्हें तुम्हारे पिता का स्थान मिल जाये, उस पर तुम्हारा हक भी है ।”

दुर्गादास ने तुरन्त उत्तर दिया—“न माँजी, मैं महाराज के पास याचना करने न जाऊँगा । किसी से याचना करना मैं पुरुष के लिये लज्जा की बात मानता हूँ । जहाँ तक पिता के स्थान पर मेरे हक का प्रश्न है, उस पर मैं अपना हक नहीं मानता । पिता ने अपने गुणों से अपना स्थान बनाया । समय आने पर, अपने गुणों से, यदि वे मुझ में होंगे, तो मैं अपना स्थान बना लूँगा । पिता के नाम पर ही जीवन और जीविका चलाने वालों को मैं अधिक श्रेय नहीं देता । वैसे मेरी इच्छा जरूर है कि महाराज की सेवा में जाकर पिता के नाम को आगे बढ़ाऊँ, फिर भी मैं उनसे याचना करने नहीं जाऊँगा ।”

माता ने कहा—“तुझे यदि जाने में संकोच है तो मैं महाराज के पास जाकर निवेदन करूँ ।” दुर्गादास ने मना करते हुए कहा—यह तो और भी लज्जा की बात होगी । जिसका बेटा समर्थ हो और वह माँ किसी के पास जीविका की याचना करने जाये तो यह उस बेटे के लिये डूब मरने की बात है । तू चिन्ता क्यों करती है ? जितनी जमीन अपने पास है, वही बहुत है । जमकर खेती करूँगा, पसीना बहाऊँगा तो अपनी जमीन सोना उगलने लगेगी । कहीं किसी के पास प्रार्थना लेकर जाने की क्या जरूरत ? महाराज को मेरी सेवाओं की आवश्यकता होगी तो स्वयं संदेश भेजेंगे । माता, बेटे की बात सुनकर सन्तुष्ट हो गई ।

लेकिन तलवार के धनी दुर्गादास को हल उठाने का अवसर न आया । महाराज जसवन्त सिंह ने उन्हें अपने पास बुला लिया और अपने पुत्र के समान ही प्यार से रखने लगे । इस प्रकार जब महाराज जसवन्त सिंह ने उनके पिता की सेवाओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की तो वीर दुर्गादास ने भी महाराज की कृतज्ञता के प्रति आभार रूप में सर्वस्व तक बलिदान कर पात्रता प्रमाणित कर देने का संकल्प कर लिया । यह गुणों के प्रति गुणी की विनम्रता थी ।

महाराज जसवन्त सिंह जोधपुर के राजा ही न थे मुगल सम्राट औरंगजेब के प्रधान सेनापति भी थे । जिसे उन्होंने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से निर्भय कर रखा था । महाराज जसवन्त सिंह ने पद, प्रतिष्ठा अथवा रक्षा के लोभ से औरंगजेब का सेनापतित्व स्वीकार नहीं किया था, बल्कि इस धारणा में उनका मन्तव्य यह था कि वे उस नाते दरबार में रहकर जहाँ हिन्दुओं के हित की देख-रेख कर सकेंगे, वहीं औरंगजेब की अत्याचारी मनोवृत्ति पर

नियन्त्रण भी रख सकेंगे । साथ ही उसको हिन्दू राजाओं से युद्ध के स्थान पर सन्धिपूर्वक रखने का प्रयत्न कर सकेंगे । उन्होंने ऐसा किया भी । महाराज शिवाजी से युद्ध के लिये भेजे जाने पर भी उन्होंने अपने नीति कौशल से दिल्ली और पूना के बीच सन्धि का ही सम्पादन किया । अपनी इस गम्भीर राजनीति के कारण महाराज जसवन्त सिंह न केवल मारवाड़ के ही बल्कि सम्पूर्ण हिन्दू जाति के आशा-केन्द्र माने जाते थे ।

किन्तु अनाचारी को सदाचार की नीति, अनीति जैसी ही लगती है । वह इसलिये कि आसन्न विनाश के कारण उसकी बुद्धि विपरीत हो जाती है । महाराज जसवन्त सिंह, औरंगजेब को उसके प्रपितामह अकबर की नीति पर लाकर उसका हित साधन करना चाहते थे किन्तु अभागा औरंगजेब विद्वेष की भूमि पर मुगल साम्राज्य के बीज बोने पर तुला था—और आखिर अपनी अनुचित धर्मान्धता के वशीभूत उसने अपने पर वह कलंक ले ही लिया । औरंगजेब के कुकृत्यों के फलस्वरूप बाबर का स्थापित किया हुआ और अकबर तथा जहाँगीर का पोषित किया हुआ मुगल साम्राज्य एक पीढ़ी भी आगे ठीक से न चल सका और जल्दी ही छिन्न-भिन्न होकर इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाया छोड़कर सदा सर्वदा के लिये समाप्त हो गया । एक ही कुपुत्र भूत, भविष्यत् की वंश परम्परा को किस प्रकार डुबा देता है औरंगजेब इसका एक अच्छा खासा नमूना है ।

औरंगजेब को महाराज जसवन्त सिंह सद्यः न थे किन्तु उनका लोहा इतना गुरुत्तर, प्रखर तथा गौरवपूर्ण था कि विवश होकर उसे मान्यता देनी ही पड़ती थी । न तो वह, और न उसका कोई दूसरा सरदार, उनसे सीधी टक्कर लेने का साहस कर पाता था । कायर की जब वीर से विसाती नहीं तब वह गर्हित कुटिलता पर उतर आता है । इसीलिये तो साहसी शत्रु की अपेक्षा कायर शत्रु से अधिक सतर्क एवं सावधान रहने की नीति का निर्देश दिया गया है ।

किन्तु वीर तो स्वभाव से ही भोला और विश्वासी होता है । महाराज जसवन्त सिंह यह न समझ सके कि औरंगजेब अपने उस हितैषी को भी मिटा देना चाहता है, इसीलिये वे उसकी इच्छानुसार बड़े-बड़े भयानक और दुर्गम युद्धों में भी जाते और ईमानदारी से लड़ते रहे । औरंगजेब ने उन्हें इतने युद्धों में उलझाये रखा कि उनकी सेना के साथ उनका सारा शरीर ही जख्मी होकर जर्जर हो गया किन्तु औरंगजेब ने अपना कुटिल क्रम बन्द न किया । उन्हें दक्षिण की अशान्त स्थिति में नियुक्त किया । फिर लपटों से भरे लाहौर की ओर भेजा और जब देखा कि महाराज जसवन्त

सिंह ने दोनों स्थानों पर सफलता पा ली तब काबुल के दुर्गम युद्ध पर भेज दिया ।

इस बार महाराज जसवन्त सिंह कुछ सोच कर अपने बड़े पुत्र पृथ्वीसिंह को जोधपुर की गद्दी सौंप गये थे । काबुल के पठानों के साथ महाराज जसवन्त सिंह का बहुत दिनों तक बड़ा भयानक संग्राम चला यद्यपि इस युद्ध में विजय महाराज जसवन्त सिंह की ही हुई तथापि यह विजय बहुत महँगी पड़ी । लगभग सारी सेना तो मारी ही गई साथ ही उनके दो वीर पुत्र भी खेल गये । आहत महाराज जसवन्त सिंह को यह आघात गहरा बैठा और वे उसे सँभालने के लिये पेशावर में रुक कर विश्राम करने लगे ।

कुटिल औरंगजेब ने इस विषमता का पूरा-पूरा लाभ उठाया और अपने षड्यन्त्र को आगे बढ़ाया । उसने पृथ्वीसिंह को अजमेर का विद्रोह दबाने के लिये भेज दिया । पृथ्वीसिंह ने पिता की आज्ञा का परिचय दिया और विद्रोह को दबाकर धूम-धाम से वापिस आ गया । औरंगजेब का मन्तव्य पूरा न हुआ । उसे आशा थी कि अनुभवहीन पृथ्वीसिंह अजमेर के युद्ध में अवश्य मारा जायेगा किन्तु आशा के विपरीत परिणाम देखकर उसका हृदय भय से भर उठा । वह सोचने लगा कि वह एक सिंह को तो जैसे-तैसे जर्जर कर निर्बल कर पाया था किन्तु यह दूसरा तरुण सिंह तैयार हो गया है । ऐसा लगता है कि न तो दरबार ही इन सिंहों की दहाड़ से खाली हो पायेगा और न जोधपुर का ही राज्य हाथ लगेगा । दो उत्तराधिकारी तो काबुल में मारे ही गये केवल एक यही बचा है । इसे भी किसी प्रकार यदि समाप्त किया जा सके तो जसवन्त सिंह के साथ उनके वंश का ही कंटक कट जायेगा । बस फिर तो पौ-बारह ही है ।

लोभी और दुष्ट-इन दो के लिये संसार में कोई भी तो घात अकरणीय नहीं होती । औरंगजेब ने षड्यन्त्र को पाप की सीमा तक बढ़ा दिया । उसने विजय के उपलक्ष्य में खिल्लत देने के बहाने पृथ्वीसिंह को बुलाया और विष बुझे कपड़े पहनाकर आदरपूर्वक विदा कर दिया । कुमार पृथ्वीसिंह दरबार से निवास स्थान तक भी न जा सका कि रास्ते में ही कपड़ों में लगे घातक विष ने अपना काम कर डाला । जसवन्त सिंह का दीप्तिमान अन्तिम दीपक भी अस्त हो गया और जोधपुर पर औरंगजेब ने अधिकार कर लिया ।

महाराज जसवन्त सिंह को सूचना मिली तो उनका आहत हृदय टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया । अब वे कुछ भी कर सकने की स्थिति में न थे । औरंगजेब के इस विश्वासघात को ईश्वर पर छोड़कर उन्होंने अपने राजपूत

सरदारों को बुलाया और एक संदेश देने से पूर्व एक छोटा-सा उपदेश दिया—“दुष्ट की भलाई और अनाचारी का संग करने वाले सज्जन पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता ।” फिर वे गम्भीर होकर बोले—

“भाइयों ! मैंने जो कुछ औरंगजेब के साथ किया वह मेरे साथ है और उसने जो कुछ मेरे साथ किया वह उसके साथ है । इसका न्याय तो वह परमात्मा करेगा । उसी की इच्छा समझकर मैं इन सब बातों पर संतोष किये लेता हूँ किन्तु आप लोगों से जो कुछ कहना है वह यह कि अब मेरी कर्मलीला समाप्त हो गई है । मारवाड़ मुगलों के आधीन हो गया है । जोधपुर की गद्दी पर भी औरंगजेब ने अधिकार कर लिया है । गद्दी का उत्तराधिकारी भी अब कोई शेष नहीं बचा । तब भी मैं आप लोगों को अधिकार देता हूँ कि जो वीर पुरुष मातृभूमि को स्वाधीन कराने के लिये आगे बढ़ें, आप सब लोग तन, मन, धन और जन से उसकी सहायता करें, और उसी को मेरा उत्तराधिकारी मानकर जोधपुर की गद्दी पर बिठायें जो उसे स्वतन्त्र कराये । वैसे मेरी भाटी और हाड़ी दो रानियाँ गर्भवती हैं यदि उनमें से किसी को कुमार हो तब तो उत्तराधिकारी की समस्या ही न रह जायेगी । आप सब लोग उसका पालन करें और रक्षा करते हुए जब वह योग्य और जोधपुर स्वतन्त्र हो जाये तब उसे गद्दी पर बिठायें ।”

“अब मेरी सारी शक्तियाँ प्रशमित हो गई हैं । जब तक शरीर ने साथ दिया मातृभूमि की सेवा में जो कुछ कर सकता था किया किन्तु अब कुछ भी कर सकने में असमर्थ हूँ । तथापि मैंने मारवाड़ की स्वतन्त्रता का जो दीप जलाये रखा, आशा है आप लोग उसे जलाये रखेंगे । साहस, बलिदान और त्याग में बड़ी शक्ति होती है । उसके आधार पर संसार का हर काम सम्भव बनाया जा सकता है । धरती वीरों और बलिदानी पुरुषों से रिक्त नहीं होती । आप लोगों में से या मातृभूमि के किसी कोने पर से कोई न कोई ऐसा वीर पुरुष जरूर उठेगा जो मारवाड़ को स्वाधीन करने में अपना सर्वस्व लगा देगा । इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है । अपने कर्तव्य से विमुक्त न होना, ऊँचे आचरण और आदर्श को नीचा न होने देना । संगठित और सम्मिलित शक्ति से शत्रु का मुकाबला करना । स्वार्थ, लोभ अथवा स्पर्धा के गड्ढों से बचे रहना । मेरा आशीर्वाद है तुम्हारे प्रयत्न, सफल होंगे । ईश्वर तुम्हारे साथ है ।”

इसके बाद महाराज जसवन्त सिंह ने सरदारों को एक लोहे की बन्द पेटी सौंपी और यह निर्देश करके सदा को आँखें बन्द कर लीं कि—“इस पेटी की रक्षा करना, कभी खोलकर यह देखने की जिज्ञासा मत करना कि इसमें क्या

२.४ मरकर भी अमर हो गये जो

है ? जिस समय जोधपुर स्वतन्त्र हो जाये और उसके उत्तराधिकारी का राजतिलक हो उस समय ही इसको खोलना और जो उचित हो वह करना ।”

महाराज जसवन्त सिंह की इस करुण कथा की परिसमाप्ति से दुर्गादास की वीरगाथा का प्रारम्भ होता है । दुर्गादास ने जब से होश सँभाला तब से वे मुगलों के अन्यायपूर्ण अत्याचार को देखते आ रहे थे । महाराज जसवन्त सिंह के पास आने पर तो वे उसका पग-पग पर अनुभव भी करते आ रहे थे । जो कुछ सुधार और न्याय के लिये प्रयत्न चल रहे थे उसमें वे साथ देते आ रहे थे । किन्तु अब जब उन्होंने कृतघ्न औरंगजेब के विश्वासघात को और उसके परिणामस्वरूप मारवाड़ की स्वाधीनता और महाराज जसवन्त सिंह का कारुणिक अन्त देखा तो उनके हृदय की भावनाओं में एक क्रान्ति जाग उठी । उन्होंने सोचा कि इस प्रकार के सहज प्रयत्नों से न्याय तथा स्वाधीनता की आशा नहीं की जा सकती । उसके लिये सम्पूर्ण शक्ति, साहस और संगठन के साथ अभियान चलाना होगा । अन्याय के विरुद्ध जमकर लोहा लेना होगा और वह हर बलिदान देना होगा, सफलता के लिये जिसकी अपेक्षा है । मैं अन्तरस्थ ब्रह्म की साक्षी में अपनी आत्मा की प्रेरणा से यह महनीय उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि देश, धर्म और जाति के मंगल और भारतवर्ष के पवित्र वातावरण में परिव्याप्त अन्याय और अत्याचार को मिटाने में अपना सर्वस्व बलिदान कर दूँगा । आज से हमारा घर कर्मभूमि होगी और हमारे कर्म ही हमारा जीवन होगा ।” सम्पूर्ण मन और आत्मा से पुण्य-प्रतिज्ञा करते ही दुर्गादास ने अनुभव किया कि उनके अन्तःकरण में प्रेरक देवत्व की स्थापना हो गई है और वे संसार के हर माया, मोह, लोभ, प्रलोभन, सुख-दुःख से रहित होकर जीवन मुक्त हो गये हैं । उनके मुखमण्डल पर एक अनिबर्चनीय दीप्ति आ गई और उनके बाहु-वीर विभूतियों से भर कर अन्याय तथा अत्याचार का उन्मूलन कर देने के लिये फड़क उठे । उन्होंने आगे बढ़कर बलिदान पथ पर सर्वांग स्यान् अंगीकार किया और दूसरों ने सम, समान और सहर्ष भाव से उनका अनुगमन ।

समय पाकर भाटी और हाड़ी रानी के पुत्र उत्पन्न हुए । छोटे का नाम दलथम्भन और बड़े का नाम अजीत सिंह रखा गया । यह समाचार औरंगजेब को मिला तो उस स्वार्थी का हृदय जल उठा । उसने सोचा कि अब तो जोधपुर की गद्दी के दो-दो वारिस हो गये हैं, जोधपुर उन्हें सौंपना होगा और यदि ऐसा न किया तो इस प्रश्न पर पूरे भारत के राजपूत व राजपूतराजे एक मंच हो जायेंगे और तब उनको केवल दबाना ही कठिन नहीं हो जायेगा बल्कि

इस बहाने वे सब संगठित होकर अजेय शक्ति बनकर सत्तनत के लिये खतरा पैदा कर देंगे । हिन्दुओं में फूट पड़ी ही रहनी चाहिये, इस बल पर तो मुगलिया तख्त और इस्लामी परचम हिन्दुस्तान में कायम है । यदि किसी वजह अथवा बहाने से हिन्दुओं की फूट दूर हो गई तो फिर यह अपनी जमीन का चप्पा-चप्पा आजाद करा लेंगे ।

इस दूरदर्शिता से सोचने के बाद उसने उन दोनों राजकुमारों को दिल्ली बुला भेजा । उसने कहलाया कि महाराज जसवन्त सिंह हमारे बफादार दोस्तों में थे । खुदा के फज़ल से उनके खानदान का बुझा चिराग फिर जल उठा है, इसलिये उनके इन बेटों की परवरिश और हिफाजत करना हम अपना फर्ज समझते हैं । मेरा ख्याल है कि दोनों बच्चों की देख-रेख पेशावर के बजाय दिल्ली में बहुत अच्छी तरह हो सकती है ।

औरंगजेब की इस सहानुभूति में कौन-सा घातक मन्तव्य छिपा हुआ है दुर्गादास इससे अनभिज्ञ न थे । औरंगजेब के स्वभाव के विषय में धोखा खाना अब दुर्गादास के लिये सम्भव न था । सन्देश पाते ही उन्होंने समझ लिया कि बादशाह बच्चों को अपने पास बुलाकर और अक्सर पाकर उन्हें नष्ट कर देने के विचार में है तथापि उस समय स्थिति ऐसी नहीं थी कि औरंगजेब की इस कुटिल सहानुभूति की अवहेलना की जा सकती । दुर्गादास ने दूसरे साधियों के साथ परामर्श करके यह मत स्थिर किया कि बच्चों को दिल्ली ले जाकर रखा जाये और हर समय सतर्कतापूर्वक उनकी रक्षा में तत्पर रहा जाये । खतरा उत्पन्न होते ही जान पर खेलकर उन्हें दिल्ली से बाहर निकाल कर कहीं छिपा दिया जाये, जैसे पहले उदयपुर, मेवाड़ के उत्तराधिकारी उदयसिंह की रक्षा की गई थी ।

वीर दुर्गादास रानियों, राजकुमारों और विश्वस्त साथियों को लेकर दिल्ली की ओर चल दिये । पेशावर और पंजाब की भयानक सर्दी और यात्रा की असुविधा से बड़ा राजकुमार दलथम्भनसिंह ठण्ड खा गया और बहुत कोशिश के बाद भी बचाया न जा सका । शेष लोग दिल्ली पहुँचे और रूपसिंह उदाबत नाम के एक राजपूत सरदार के आश्रय में ठहर गये । दुर्गादास सारे समाचार लेकर औरंगजेब के पास गये ।

बादशाह ने समाचार सुने और फिर गहरी सहानुभूति के साथ बोला ! भाई दुर्गादास ! तुम जानते ही हो कि जसवन्त सिंह मरहूम का बड़ा बच्चा रास्ते में ठण्ड खाकर मर गया । अगर मैं तुम्हारी मुसौदी और बफादारी को न जानता होता—तो शायद तुम पर सापरवाही का इत्नाम आता और तुम्हें सजा का मुक्तहक होना पड़ता । लेकिन

नहीं, तुम एक अच्छे और नेक आदमी हो, तुमने अपना फर्ज पूरी तरह अदा किया है। दलथम्भन खुदा की मर्जी से कुदरत का शिकार बन गया है। उसके लिये तुम्हें जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता है। तुमने, हिफाजत और रास्ते की सही-सलामती के लिये जो कुछ कर सकते थे किया। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ और तुम्हारे लिये न सिर्फ एक बड़ा इनाम ही अदा करूँगा, बल्कि कुछ दिन ठहर कर जागीर भी बख्खूँगा।”

इस मोहक भूमिका के बाद औरंगजेब अपने असली मतलब पर आया और बोला—“ठाकुर! अब ऐसा करो—अजीत सिंह को मेरे पास छोड़ जाओ। मैं महाराजा जसवंत सिंह के इकलौते नूर को अपनी आँखों के सामने रख कर शाही महल में उसकी परवरिश करना चाहता हूँ। वह हमारे शहजादों के साथ खेल-खाकर बड़ा होगा, उन्हीं के साथ सल्तनत का कारोबार और सियासत के दौब-पेच सीखेगा। जब बालिग हो जायेगा तो उसे जोधपुर की गद्दी पर नशीन करा दूँगे। इस तरह मैं अपने मरहूम दोस्त के लिये अपने फर्ज को पूरा कर सकूँगा और तुम नाहक जहमत से बचकर आजादी से अपना काम-काज देख सकोगे।”

दुर्गादास बादशाह का कथन सुनता रहा और मन ही मन कहता रहा—रे मूर्ख आततायी! मैं तेरी इस मधुर सहानुभूति में बसे विष को अच्छी तरह समझता हूँ। शायद तू मुझे अपने स्तर का ही व्यक्ति समझ रहा है जो इनाम और जागीर का लालच दिखा कर कर्तव्य-च्युत करने की आशा कर रहा है। लेकिन याद रख मैं आर्य वीर हूँ—संसार का कोई भी प्रलोभन, कोई भी भय और कोई भी परिस्थिति मुझे कर्तव्य भ्रष्ट नहीं कर सकती। जब तक शरीर में एक श्वास और रक्त की एक बूँद बनी रहेगी राजकुमार को तेरी हिंसेलु छाया में न जाने दूँगा। और फिर प्रकट में कहा—

“बादशाह सलामत का ख्याल बड़ा नेक और गरीब परवर है, लेकिन मैं यहाँ पर इसी वक्त अपनी तरफ से कोई जबाब नहीं दे सकता। मुझे इसके वावत रानियों से पूछना होगा कुछ मोहलत दी जाये।” औरंगजेब ने तीसरे दिन जबाब के लिये कहकर दुर्गादास को विदा कर दिया।

“दुर्गादास निवास पर वापस आये और रानियों समेत सभी साधियों को पूरी बात बता दी। औरंगजेब का अनुरोध सुनकर राजपूतों के हाथ तलवार पर पहुँच गये लेकिन दुर्गादास ने समझा कर कहा कि यह समय उत्तेजना अथवा संघर्ष का नहीं है। हम सब राज-परिवार के साथ उस अजगर के मुँह में बैठे हैं। इस समय तो शान्ति और नीति से ही काम लेकर काम बनाना होगा। कल तक का समय है। किसी तरह राजकुमार को दिल्ली से बाहर निकाल

कर सुरक्षित तथा गुप्त स्थान पर पहुँचाने का प्रबन्ध किया जाये और उसके स्थान पर कोई दूसरा बच्चा लाकर रखा जाये। बाद में मैं परसों जाकर बादशाह से सब बात कर लूँगा।”

परस्पर परामर्श के बाद आनन्ददास खेची नाम का एक बुद्धिमान सरदार दूसरे दिन पौ फटने से पहले एक सपेरे को ले आया। सपेरे के साथ उसका अपना बच्चा था जो कि अजीत सिंह के बराबर ही होगा। सपेरे ने अपना बच्चा रानी को दे दिया और राजकुमार को सौँप वाली पिटारी में छिपा कर आनन्ददास खेची के साथ चल दिया। चलते समय दुर्गादास ने सपेरे को धन्यवाद दिया और कहा—आशा है आप यह बलिदान खुशी-खुशी कर रहे होंगे और कभी भी यह रहस्य अपनी जुवान पर नहीं लायेंगे। सपेरे ने कहा—ठाकुर साहब, देश-धर्म और राजवंश की रक्षा में यह बलिदान तो क्या इससे भी बड़ा कोई बलिदान होता तो भी मैं खुशी-खुशी कर देता। मैं राजकुमार को यथा-स्थान पहुँचाकर दिल्ली से दूर, बहुत दूर किसी ऐसे स्थान पर चला जाऊँगा जहाँ न तो इस बात की कहीं चर्चा होगी और न कोई मुझे पहचान ही सकेगा।

दुर्गादास सपेरे की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और मोहरों का एक तोड़ा निकालकर सपेरे को देने लगे। सपेरा थोड़ी देर तो उनका मुँह देखता रहा फिर ग्लानिपूर्वक बोला—“राजा साहब! क्या आप मेरी गरीबी देखकर मेरे बलिदान की कीमत देना चाहते हैं। जरा सोचिये तो कि क्या बेटे की कीमत अशरफियों से चुकाई जा सकती है? शायद आपके अभी बेटा है नहीं, इसीलिये यह बात नहीं समझ पा रहे हैं। मैंने बेटे को धन के लालच में खतरे में नहीं डाला। मैं तो उसके मूल्य पर ठीक उसी प्रकार राजकुमार को बचाना चाहता हूँ जिस प्रकार दाई पन्ना ने अपने बेटे का बलिदान देकर मेवाड़ के उत्तराधिकारी की जान बचाई थी। यदि तोड़ा दिखला कर आपने मेरी भावना का अपमान न किया होता तो शायद मुझे दुःख न होता!” सपेरे की बात सुनकर वीर दुर्गादास की आँखें लज्जा से नीची हो गई। उन्होंने क्षमा माँगते हुए कहा—बेशक कुछ जल्दी और परेशानी में मुझसे यह भूल हो गई है। मैं बहुत लज्जित हूँ, आशा है आप मेरी यह गलती क्षमा कर देंगे। कहते-कहते आदर्श वीर दुर्गादास की आँखें गीली हो गई और आत्म-प्लानि से उनका मुख मुरझा गया। सपेरे ने उनके हृदय की वेदना अनुभव की और हाथ जोड़कर बोला—नहीं मालिक, इसमें माफी की क्या बात? हम सब आपकी रियाया सेवक हैं। अच्छा, अब आज्ञा करिये! देर हो रही है।

२.६ मरकर भी अमर हो गये जो

सपेरा खुशी-खुशी विदा होकर आनन्ददास खेची के साथ चल दिया और सबेरा होते ही दिल्ली की सीमा से बहुत दूर निकल गया। वहाँ पर एक सुरक्षित स्थान पर आनन्ददास ने सोते हुए राजकुमार को पिटारी से उठाकर गोद में ले लिया और सपेरे को छुट्टी दे दी। अनन्तर आनन्ददास खेची आबू की पहाड़ियों के रास्ते कई दिन की यात्रा और कठिनाइयों को पार करता हुआ मारवाड़ के भीतरी भाग में बसे डुगवा नामक गाँव में पहुँचा और वहाँ अपने एक मित्र जयदेव के यहाँ राजकुमार को रखकर स्वयं भी उसकी देख-रेख और पालन-पोषण के लिये रहने लगा।

इधर परसों आया और दुर्गादास उत्तर देने के लिये औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए। उन्होंने बादशाह से कहा—“जहाँपनाह! आपका विचार हम सबको मंजूर है लेकिन रानी का कहना है कि बच्चा अभी दूध पी रहा है। अभी उसे अकेले नहीं छोड़ा जा सकता है और मैं उसको लेकर मुसलमानी हरम में नहीं रह सकती। यह हमारे पतिव्रत और हिन्दू धर्म दोनों के विरुद्ध है। एक साल तक, जब तक कि बच्चे को माँ का दूध जरूरी है मैं उसे लेकर यहीं रहूँगी, और जब उसका दूध छूट जायेगा तो उसके हित के लिये बादशाह को सौंप दूँगी।” यद्यपि औरंगजेब को यह प्रस्ताव जरा भी पसन्द नहीं आया। लेकिन एक तो प्रस्ताव स्वयं उचित था, दूसरे दरबार के खास-खास आदमियों के समर्थन कर देने से वह अपना जी मार कर रह गया और स्वीकृति देकर दुर्गादास को विदा कर दिया। यह पशुता की बुद्धिमत्ता पर विजय थी। दुर्गादास खुशी-खुशी घर आये और जब सबको दरबार की घटना सुनाई तो सभी उनकी प्रशंसा करते हुए यह आस्था व्यक्त करने लगे कि वीर दुर्गादास के नेतृत्व में अवश्य ही मारवाड़ स्वतन्त्र होगा और अनाचार पर मनुष्यता की जीत होगी।

तथापि दुर्गादास ने सबको समझाया कि निश्चित रहने की जरूरत नहीं है। औरंगजेब किसी समय भी अपना फन फिर मार सकता है। हर समय, उसकी हर बात और कार्यवाही को ध्यान से देखते हुए सतर्क तथा सावधान रहने की जरूरत है। अपने कर्तव्यों तथा सावधानी में प्रमाद करने वाले बड़े-बड़े धीर-वीर और बुद्धिमान व्यक्ति भी शत्रु के चंगुल में फँस जाते हैं। इसलिये हम सबको प्रबुद्ध एवं सन्नद्ध रहकर आते और जाते हुए समय का अध्ययन करते रहना चाहिये। सभी साथी और भी अधिक सतर्क और सावधान हो गये।

“भविष्य के गर्भ में पल रहे संघर्ष के लिये” दुर्गादास ने सोचा, “अभी एक वर्ष का समय है। इस अवधि के

बाद जब औरंगजेब राजकुमार को माँगेगा तभी संघर्ष का सूत्रपात हो जायेगा।” उन्होंने आगे विचार किया—“इस एक वर्ष के मूल्यवान समय को यों ही प्रमाद अथवा प्रतीक्षा में बिता देना बुद्धिमानी न होगी। इसका एक-एक क्षण भविष्य की तैयारी करने में ही लगाया जाना चाहिये। जो लोग वर्तमान में ही भविष्य की तैयारी नहीं करते वे अदूरदर्शी होते हैं और एक तरह से जीवन-पथ पर असफलता के बीज बोने जैसी भूल करते हैं।”

दुर्गादास ने विचार निश्चित किया और जन-जागरण तथा संगठन के काम में लग गये। वे जब-तब बाहर किसी काम को लेकर निकल जाते और गाँव-गाँव घूम कर ऐसे लोगों की खोज करते जिनके हृदयों में अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध शिखा जल रही होती। ऐसे लोगों को तलाश करते जो देश-धर्म के लिये कोई भी बलिदान कर सकने का साहस रखते थे। वे ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियों से मिलते और उनसे विचार-विमर्श करते थे जो क्षेत्रों में अपना प्रभाव रखते थे, उसका जनहित में उपभोग भी करना चाहते थे किन्तु कोई पथ अथवा दिशा नहीं पा रहे थे। दुर्गादास ने गाँव-गाँव और घर-घर की यात्रा कर ऐसे लोगों को जगाया जो देश, धर्म की महती सेवा कर सकते थे किन्तु अविचार एवं अवज्ञा में पड़े संकीर्ण व्यक्तित्व की परिधि में समय तथा शक्ति को नष्ट कर रहे थे।

वीर दुर्गादास ने ऐसे हजारों नौजवानों को खोज निकाला जो सही नेतृत्व के अभाव में उच्छ्वलतापूर्वक देश-धर्म के नाम पर प्राण दे देने के लिये कम्मर कस कर तैयार बैठे थे। अपने भ्रमण काल में दुर्गादास ने देखा कि देश का जनमत वर्तमान अव्यवस्था, अशान्ति, असुरक्षा और अत्याचार के विरुद्ध आकण्ठ भरा बैठा है, किन्तु कर्तव्याकर्तव्य के भ्रम में फँसा, अन्दर ही अन्दर दहक-दहक कर बुझ रहा है। उन्होंने उस शक्ति को आश्वासन दिया और विश्वास देकर विश्वास का विनिमय किया कि वह समय जल्दी ही आ रहा है जब उन्हें कर्तव्य पथ मिलेगा और तब वे उसके पालन में सर्वस्व देकर भी सन्तुष्ट न होंगे। वे राजाओं, राजकुमारों, सामन्तों, सरदारों, जमीदारों और जागीरदारों से भी मिले, और उन्हें जीवन का वह प्रकाश दिया जिसकी प्रेरणा मनुष्य को निकृष्ट वासनाओं से उछाल कर ऊपर उठा देती है। उन्होंने समाज के उस वर्ग में भी आशापूर्ण नव-जीवन का संचार किया, भय और आतंक से जिसका साहस मर चुका था और निराश होकर जो अन्याय और अत्याचार के प्रति भाव्यवादी बन गया था। उन्होंने आबाल, वृद्ध, नर-नारी में, यथासम्भव, साहस, शौर्य, संगठन, आशा और कर्तव्य-भावना का संचार करने में किसी भी उपाय का

अनुपयोग नहीं किया। इस संगठन और प्रचार कार्य में उन्होंने दिन और रात, भोजन और भूख, श्रम और विश्राम, वीहड़, वन, पर्वत, नदी, नाले अथवा मरुस्थल किसी भी कठिनाई की परवाह नहीं की। इस देश-कार्य के लिये उन्होंने बड़ी लम्बी-लम्बी यात्रायें कीं, प्राणों का संकट उठाया। मान, सम्मान, और अभिमान को तिलांजलि दे दी और बलात् किसी से अनुगमन भी नहीं कराया, उनकी इस निःस्वार्थ एवं निरुक्त सेवा-काल में उनका घोड़ा और उनकी तलवार ही साथी और सम्बल बनी रही तथापि क्रिया की प्रतिक्रिया कर्तव्यशीलों पर हुए बिना न रही। दल के दल वीर स्वयं-सेवक मारवाड़ और राजस्थान के कोने-कोने में निकल गये और उन्होंने वीर दुर्गादास का संदेश तथा उद्देश्य आत्म-धर्म के समान जन-जन के हृदय में भर डाला। पुण्य परिवर्तन की एक जोरदार तैयारी हो गई जिसके परिणामस्वरूप आगे होने वाले संघर्ष में सफलता-दर-सफलता की परम्परा ही लगती चली गई। समय रहते पहले से तैयारी कर लेने पर निर्धारित योजनाओं में सौभाग्य का समावेश होना स्वाभाविक ही होता है। असफलता तो उन अदूरदर्शिता की दातव्यता होती है जो तैयारी के समय आलस्य एवं उपेक्षा में पड़े सपने देखा करते हैं और कर्तव्यकाल में व्यस्तता, व्यग्रता, त्वरा और अव्यवस्था के शिकार बनकर शक्ति तथा संतुलन को जीर्ण-शीर्ण करते रहने पर विवश होते हैं।

दिन-दिन करके औरंगजेब ने वर्ष काटा और तत्काल राजकुमार को लेकर दुर्गादास के आने की प्रतीक्षा करने लगा। इधर दुर्गादास ने अपने सारे साथियों को इकट्ठा किया और कहा—“आज वर्ष व्यतीत हो गया। औरंगजेब राजकुमार को तलब करेगा लेकिन मेरा दृढ़ निश्चय है कि राजकुमार के स्थान पर पले इस बच्चे को भी बादशाह को सौंपना नहीं है। इस स्थिति में संघर्ष का सूत्रपात होना निश्चित है। अब आप लोगों में से जिनको प्राणों से मोह हो वे लोग प्रसन्नतापूर्वक कहीं जा सकते हैं। औरंगजेब की शक्ति बहुत है और हम गिने-चुने दो-ढाई सौ आदमी ही हैं। इस स्थिति में जरा भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि हममें से कोई ऐसा भी बच जाये जो इसका समाचार लेकर अपने समर्थकों के पास जा सके। इसलिये मैं खुशी से अनुमति देता हूँ जो इस आसन्न संघर्ष से अपनी रक्षा करना चाहते हों, जा सकते हैं।”

दुर्गादास का कथन सुनकर सभी एक स्वर में कह उठे—“हमें मृत्यु का भय नहीं है। हम सब एक अबोध बच्चे की रक्षा में अपने जीवन की आहुति दे देंगे। पापी औरंगजेब पालने के बहाने बच्चे को लेकर राजकुमार अजीत सिंह के घोड़े में मरवा डालेगा। हम जीते जी उस भेड़िये

के मुँह में इस छौने को नहीं जाने देंगे।” वीर दुर्गादास ने हर-हर महादेव की गूँज के साथ सभी वीरों का अभिनन्दन किया और कहा—“यदि ऐसा एक मत और एक उद्देश्य है और बलिदान की ऐसी तीव्र भावना है, कर्तव्य के प्रति इतनी दृढ़ निष्ठा है तो निश्चय ही मैदान अपने हाथ रहेगा, हम अपने मन्तव्य में अवश्य सफल होंगे। हाँ, महारानियों की कुछ चिन्ता जरूर है।”

हाड़ी और भाटी दोनों रानियाँ बोल उठीं—“दुर्गादास ! यह मत भूलो कि हम वीर बालायें हैं। जहाँ एक ओर हमारी सुकुमारिता सुख और सम्पत्ति में भी थक उठती है, वहाँ दूसरी ओर हमारी दृढ़ता पत्थरों से भी लोहा लेने में नहीं हिचकती। इस सुकुमार छौने, हमारे प्यारे पूत की रक्षा का प्रबन्ध कर दो, और फिर एक-एक तलवार हमें देकर निश्चिन्त हो जाओ। हम तुम्हारे योद्धाओं में चार भुजाओं की वृद्धि कर देंगी।” दुर्गादास का हृदय करुणा और कृतज्ञता से सरावोर होकर आँखों में छलक पड़ा और योद्धाओं के मुख से अनायास ही रानियों का जयकार गूँज उठा। हवेली का वायुमण्डल बलिदान की भावना से भरकर स्थिर हो गया।

रूपसिंह उदावत ने बच्चे को लिया और सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के लिये न जाने हवेली के किस रास्ते गायब हो गया। दुर्गादास और उसके सहयोगी मोर्चों की रूपरेखा बनाते हुए रूपसिंह की प्रतीक्षा करने लगे। सभी किसी समय भी युद्ध के लिये तैयार बैठे थे।

कुछ देर बाद रूपसिंह उदावत वापस आया और समाचार दिया कि, “बच्चे को ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया गया है जहाँ शत्रुओं के देवता भी उसका पता नहीं लगा सकते और जल्दी ही वहाँ से वह अपने पिता के पास पहुँच जायेगा। अब बादशाह सलामत ले लें अजीत सिंह को।” इस समाचार की झलक अभी किसी के चेहरे से जा न पाई थी कि हवेली के बाहर से आदमियों का कोलाहल, हथियारों की झनझनाहट और शहर कोतवाल फौलाद खाँ का कर्कश स्वर सुनाई पड़ा—“दुर्गादास, अजीत सिंह को लेकर फौरन मेरे साथ चलो। बादशाह सलामत ने अभी याद फरमाया है।”

वीर दुर्गादास हँसते हुए उठे और सरदारों से यह कहते हुए बाहर की ओर चल दिये—“बहादुरो सँभल जाओ। चण्डी शृंगार कर चुकी है, अब ताण्डव होने वाला है। एक साथ ही दो-ढाई सौ तलवारें म्यान से बाहर निकल कर चमक उठीं।

वीर बाहर, सिंह द्वार पर आया और देखकर बोला—“ओ हो ! कोतवाल साहब ! इतने ढेर आदमी हथियार

२.८ मरकर भी अमर हो गये जो

लेकर मुझे लेने आये । कितने होंगे ?” कोतवाल फौलाद खाँ ने बड़े गर्व से कहा—“दो हजार ।”

‘दो हजार’, दुर्गादास ने संख्या दोहराई और कहा—“फौलाद खाँ ! यह तो लड़ाई की चुनौती जैसी बात है—अब न मैं जाऊँगा और न राजकुमार अजीत सिंह । जाकर अपने बादशाह से कह दो ।”

फौलाद खाँ चीखा—“हमला करो ।” दो हजार मुगल सिपाही द्वार में उबल पड़े और दो राजपूतनी और ढाई सौ राजपूत उन पर व्याघ्र वेग से टूट पड़े । घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया । दोपहर आई, दिन ढला और शाम हो गई । एक घड़ी रात होने पर लड़ाई रुकी । आठ सौ मुगलों को मारकर दोनों रानियाँ और सारे राजपूत गिर गये थे । फौलाद खाँ ने हवेली का कोना-कोना छान मारा पर अजीत सिंह का पता न मिला । वह अपनी इस भयंकर हानि और असफलता से घबराकर बादशाह को समाचार देने के लिये भाग खड़ा हुआ । बचे हुए घायल मुगलों ने उसका पीछा किया ।

आधी रात के समय जब ज्योत्सना की शीतलता से परिपूर्ण वायु चलने लगी तब घायल पड़े दुर्गादास की चेतना लौटी । वे अपने को सँभाल कर उठ खड़े हुए और वहाँ पड़े राजपूत सरदारों को टटोल-टटोल कर यह देखने लगे कि क्या उनकी तरह कोई और भी आहत शरीर में प्राणों को रोके हुए है ? दुर्गादास के आशापूर्ण व्यवहार से उन ढाई सौ आहतों में से मोहकम सिंह, भोजराज, रूपसिंह, महासिंह और दूधोजी नामक पाँच राजपूतों ने आँखें खोल दीं । वीर दुर्गादास ने सबको सहारा देकर उठाया और कहा—“ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद है जो आप लोग फिर से चैतन्य हो गये । मेरे कारण आप सबको हताहत होना पड़ा है । इसका मुझे बड़ा दुःख है ।”

राजपूत सरदारों ने कहा—“दुर्गादास ऐसा मत कहो । हमारी इस सेवा और इस रक्तदान में तुम्हारी प्रेरणा तथा प्रकाश अवश्य है किन्तु इसका मुख्य कारण हमारी अपनी भावना है, हमारा देश-प्रेम और धर्म के लिये उत्सर्ग हो जाने का उत्साह है । हमारे रक्तपात के लिये अपने को उत्तरदायी मानकर दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है । अब आगे का कार्यक्रम निश्चित करो और बताओ कि किस दिशा में क्या करना है ? शरीर में जब तक एक बूँद रक्त और प्राण-रक्षिणी एक भी श्वास बनी रहेगी हम अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोहा लेते रहेंगे ।

इसके पहले कि दुर्गादास कुछ कहते, वयोवृद्ध दूधोजी ने कहा—“अब रात ढलने वाली है । समय बहुत कम रह गया है । आप सब लोग तुरन्त दिल्ली से दूर चले जायें ।

सुरक्षित स्थानों पर रहकर अपने घाव ठीक करिये और संगठन तथा सद्भावना को आगे बढ़ाइये किन्तु मेरी चिन्ता जरा भी न करें । मुझे मरान्तक घाव प्राप्त हुए हैं । मेरा जीव जल्दी ही शरीरान्तर के लिये चल देगा । निश्चय ही इस जीवन की मेरी देश-सेवाओं की इतिश्री हो गई है । अब जल्दी ही भगवान से दूसरा ऋण लेकर भगवत् धर्म की सेवा के लिये इसी भूमि, इसी धराधाम और इसी भारतवर्ष में आ जाऊँगा लेकिन आप लोग जल्दी निकल जायें । क्योंकि लाशों का प्रबन्ध करने के लिये औरंगजेब के सिपाही आते ही होंगे ।” कहते-कहते दूधोजी ने सबको राम-राम, जुहार की और उसी पवित्र भूमि पर लेटकर अनन्त यात्रा की ओर प्रस्थान कर दिया । जीवित राजपूतों की अश्रुमाला ने उस वृद्ध बलिदानी को श्रद्धांजलि देकर अपना कर्तव्य निश्चित किया ।

दो राजपूत सरदारों ने बैकुण्ठगामिनी रानियों के रक्तोचित शरीर निर्माल्य माला की भाँति आदरपूर्वक उठाकर माथे से लगाये और कन्धों पर धारण कर चलने को उद्यत हुए । युद्ध में पकड़ी हुई तलवारें रानियों की मुट्ठी में अब तक जकड़ी हुई थीं । एक सरदार उनको छुड़ाने का प्रयत्न करने लगा—वीर दुर्गादास ने निषेध करते हुए कहा—“रहने दो ठाकुर ! देवियों का दाह इस शृंगार के साथ ही शोभा देगा ।” अनन्तर सबने रणस्थली को नमस्कार किया और अभीष्ट दिशा की ओर पुरुषार्थ की भाँति वेगपूर्वक अग्रसर हो चले ।

प्रभात होते ही मुगलों ने हवेली में आकर अपने अनुरूप, जो कुछ करना था किया किन्तु घायल राजपूत सरदार मार्ग की प्रत्येक कठिनाई को सहते हुए उत्साहपूर्वक चलते ही रहे और अन्त में उन्होंने आबू की पहाड़ियों में ही जाकर अपनी प्रगति को पड़ाव दिया । वहीं उन्होंने रानियों के शरीर अग्निदेव को भेंट किये और बिना विलम्ब किये दुगवा ग्राम की ओर चल दिये । वहाँ पहुँचने पर आनन्ददास खेची और जयदेव ने उनका स्वागत-सत्कार किया । सभी ने यथाविधि पलते राजकुमार अजीत सिंह को देखा और एक-दूसरे से विदा लेकर अपने घरों की ओर स्वास्थ्य तथा संगठन के लिये चल पड़े ।

दुर्गादास अपने गाँव कल्याणगढ़ पहुँचे, अपनी माता की चरण-रज लेकर छोटे भाई जसकरण और पुत्र तेजकरण से मिले । सबको दिल्ली के संघर्ष, अपनी स्थिति और उनके कर्तव्य के साथ देश की परिस्थिति से अवगत कराया । फिर एक दिन विश्राम लेकर भाई और बेटे को आस-फस, जन-जागरण, संगठन तथा तैयारी के कर्त्तव्य पर लगाकर स्वयं घोड़े पर सवार होकर आवागढ़ कोट में शोनिंगजी

चम्पावत से मिलने के लिये चल दिये, जिन्हें उन्होंने महाराज जसवंत सिंह की दी हुई पेटी सौंपकर पेशावर से दिल्ली चलते समय घर भेज दिया था ।

देश में चारों ओर मुगलों का अत्याचार तथा आतंक छाया हुआ था । जिधर देखो उधर ही मुगल सैनिक हिन्दुओं को मारते और लूटते घूम रहे थे । मार्गों, घाटों और नाकों पर मुगलों की चौकियाँ बनी हुई थीं । कहीं पर भी किसी समय प्राणों का संकट आ सकता था किन्तु वीर दुर्गादास जंगलों, पर्वतों, नदी, नालों और औघट-घाट पार करते हुए अपना घोड़ा दाबे, हाथ में तलवार लिये चौकन्ने और चौकस बने चले जा रहे थे । देश और धर्म की रक्षा का भाव उनमें उत्साह और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का साहस स्फूर्ति बनकर उनकी नस-नस में बिजली के समान दौड़ रहा था । उन्हें अपने लक्ष्य के सामने न तो मार्ग की कठिनाइयाँ भारी लग रहीं थीं और न शत्रु का भय उन्हें रोमांचित करता था । एकनिष्ठ भाव से वे अवागढ़ कोट की ओर बढ़े चला जा रहे थे ।

आधी रात गये वे गन्तव्य पर पहुँचकर शोनिंग जी चम्पावत से मिले । देखते ही चम्पावत बोल उठे— “दुर्गादास ! तुम देश के लिये बहुत मूल्यवान हो, मारवाड़ की स्वतंत्रता के एक मात्र आशा केन्द्र हो । तुम्हें ऐसा साहस नहीं करना चाहिये जिससे प्राणों पर आ बने । मार्गों पर, स्थान-स्थान पर शत्रुओं की चौकियाँ बनी हैं । मुगल सिपाही भूखे भेड़ियों की तरह देश-भक्त राजपूतों की तलाश में चारों ओर घूम रहे हैं । मेरे लिये कोई संदेश था तो किसी दूसरे के हाथ भेज सकते थे । अपने को इस प्रकार खतरे में डालना ठीक नहीं था । तुमने आकर दर्शन दिये यह तो मेरा सौभाग्य है तब भी तुम्हारा इस प्रकार अकेले आना मुझे अच्छा नहीं लगा । तुम्हें रास्ते में कुछ हो जाता तो स्वतन्त्रता की यह शिक्षा निराधार हो जाती । ”

वीर दुर्गादास ने इस सहानुभूति और चिन्ता के लिये धन्यवाद देकर कहा— “भाई चम्पावत जी ! मैं अपनी ही तरह देश के लिये एक-एक राजपूत को मूल्यवान् समझता हूँ । अपना महत्त्व बढ़ाकर घर में बैठे रहना और दूसरों को संकटपूर्ण कर्त्तव्य सौंपते रहना मैं एक कायरतापूर्ण नेतृत्व मानता हूँ । जब देश, धर्म की पुकार पर सिर से कफन ही बाँध लिया और जीवन की मोह रंज को काट दिया है तब कर्त्तव्य पथ पर संकट की चिन्ता क्या करना ? इस समय घर-बाहर सब जगह ही संकट ही संकट छाया हुआ है । इस समय रक्षा की सम्भावना घर में नहीं, बलि पथ पर प्रतिक्षण प्रस्तुत रहने में है । अपना महत्त्व मानकर अपने

को छिपाते फिरने का अर्थ है, कायरता, अकर्मण्यता और अयोग्यता को जीवन में अवसर देना । छिप-छिप कर रहने से कैसे तो देश की दशा का परिचय मिलेगा, कैसे उसकी सेवा करने का अवसर और कैसे संगठन के साथ शत्रुओं को यह बतलाने का संयोग मिलेगा कि अब अपना अत्याचार बन्द कर दो, वीरों का सोया साहस और शान्ति की प्रतीक्षा में साधुवाद में पड़ा उनका शौर्य उदीप्त हो उठा है और अब वह तभी विश्राम लेगा जब मारवाड़ स्वतन्त्र हो जायेगा और भारत पर छाये अन्याय और आतंक के बादल नष्ट हो जायेंगे । ”

दुर्गादास की इस वीर घोषणा से शोनिंग जी का मन-मयूर नाच उठा—वे बोले, “धन्य है वीर ! तुम्हें पाकर आज भारतीय वीरों की परम्परा कृतार्थ हो गई । यह बात ठीक है कि आज घर बैठकर शान्तिवाद की उपासना करते रहने से काम न चलेगा । धरती बलिदान माँग रही है । मैदान में ही निकलना होगा, शत्रु से लोहा लेने के सिवाय उपस्थित अपमान और लज्जाजनक परिस्थितियों से निस्तार पाना कठिन है । तुम्हारे दिल्ली से चले आने और राजकुमार अजीत सिंह के न मिलने पर औरंगजेब ने गाँव-गाँव राजपूत सरदारों को मारने और गिरफ्तार करने का आदेश जारी कर दिया है । आवागढ़ कोट पर कई बार बिजली टूट चुकी है । अभी और भी टूटेगी । मेरे जीवन का कोई ठीक नहीं । अपनी धरोहर वह पेटी ले लो और कल्याणगढ़ आज ही लौट जाओ । जिससे मैं जीवन से प्राणों का महत्त्व निकालकर संगठन और संघर्ष में लग जाऊँ ।

दुर्गादास पेटी लेकर जब कल्याणगढ़ की ओर सरपट घोड़ा भगाये चले जा रहे थे तभी रास्ते में उन्होंने देखा कि मुगलों का एक दल एक अकेले राजपूत पर टूट रहा है । पहले तो उन्होंने सोचा कि यह मूल्यवान धरोहर लेकर रास्ता बचा जाये और संघर्ष में पड़कर खतरा मोल न ले । आगे के बड़े संघर्ष के लिये जाकर तैयारी करें किन्तु तत्काल ही उनकी अन्तरात्मा बोल उठी— “छि: दुर्गादास ! विपत्ति में पड़े व्यक्ति की उपेक्षा कर तुम आगे की सोच रहे हो । जो प्रस्तुत छोटे से संघर्ष से कटकर निकल सकता है वह कैसे यह आशा कर सकता है कि वह बड़े संघर्ष के उपस्थित होने पर कोई दूसरा बहाना न निकाल लेगा ? आगे जाकर यदि तुम घोड़े से गिरकर या शत्रुओं से घिर कर भविष्य के लिये शेष न रहो तो क्या इस समय के इस पुण्य-परमार्थ से भी वंचित न रह जाओगे । संदिग्ध भविष्य का क्या भरोसा और क्या भरोसा इस अनिश्चित जीवन का ? आगे बढ़ो और इस आपत्तिग्रस्त व्यक्ति की रक्षा का पुण्य प्राप्त करो । ”

२.१० मरकर भी अमर हो गये जो

विचार के साथ ही दुर्गादास की तलवार म्यान से बाहर आ गई। उन्होंने ललकारा—कायरों! सँभल जाओ, एक अकेले पर तुम झुण्ड के झुण्ड जंगली कुत्तों की तरह क्या टूट रहे हो?” आवाज सुनकर मुगलों का ध्यान उधर गया। युद्धरत राजपूत का साहस बढ़ा और उसने एक आन में ही अनेकों का सफाया कर दिया। किन्तु अब तक वह पूरी तरह से घायल और अशक्त हो गया था, गिर पड़ा। दुर्गादास की तलवार चमकी और उन्होंने जल्दी ही उन आततायियों का जंगल साफ कर दिया। केवल एक यह चिल्लाता हुआ भाग गया। दौड़ो-दौड़ो, दुर्गादास है, मदद करो। उसने कटालिया के सरदार और उसके पचासों सिपाहियों को मार डाला है।”

अंधेरा हो चला था तब भी दुर्गादास ने पहचान लिया कि घायल पड़ा राजपूत महासिंह है। उन्होंने जल्दी से उसे घोड़े पर लिया और पवन वेग से चल पड़ा। घर पहुँचने पर जब माँ ने उन्हें रक्त से नहाया देखा तो आँसू रोककर कहा, क्या रास्ते में मुगलों से टक्कर हो गई? दुर्गादास हँसे और बोले—यह तो अब कदम-कदम पर ही होना है माँ! इस पर कहाँ तक ध्यान दिया जायेगा?

अभी महासिंह को होश में ही कर पाया था कि सैकड़ों मुगलों ने आकर घर घेर लिया। माँ ने जबरदस्ती सबको एक अंधेरे कुएँ में छिपाकर दरवाजा खोला और बाहर आकर कहा—“क्या है तुम सब किसलिये यहाँ आये हो?” मुगलों के सरदार शमशेर खाँ ने कहा—“बुढ़िया तेरा बेटा दुर्गादास कहाँ है? मैं उसे गिरफ्तार करने आया हूँ, वह बागी और कातिल है।” माँ ने दृढ़तापूर्वक कहा—“तुझे उसका पता नहीं मिलेगा, चला जा यहाँ से। बड़ा आया मेरे बेटे को हत्यारा बतलाने वाला।”

शमशेर खाँ ने दाँत पीस कर कहा—“बुढ़िया सीधी तरह उसका पता बतला दे नहीं तो अभी मौत के मुँह में चली जायेगी।” “सिंहनी को मौत का भय दिखलाता है कायर—नाथू, मेरी बरछी तो ला”—माता ने नौकर को आवाज दी। इससे पहले नाथू बरछी माता के हाथ में दे पाता, शमशेर खाँ ने वार कर दिया। माता का स्वाभिमानी शीश कटकर भूमि पर गिर गया। नाथू बरछी लेकर झपटा कि दस-बारह सिपाहियों ने उस पर एक साथ हमला करके उसका अन्त कर दिया। शमशेर खाँ यों ही मकान में इधर-उधर झाँककर यह सोचता हुआ चल दिया कि यदि दुर्गादास घर में होता तो वह माँ के मारे जाने पर छिपा नहीं बैठा रहता। राजपूत इतना बुजदिल नहीं होता।

दुर्गादास अपने साथियों के साथ अन्धे कुएँ में यह सोचते बैठे रहे कि मुगल माँ से पूछताछ करके और ज्यादा

से ज्यादा घर देखकर चले जायेंगे। उन्हें स्वप्न में भी यह शंका न थी कि बहादुरी का दावा रखने वाले मुगल सरदार किसी वृद्ध माता पर भी हाथ उठा सकते हैं किन्तु आर्य और अनार्य, वीर और बर्बर के आदर्शों में अन्तर होता है—यदि यह बात दुर्गादास समझ सके होते तो माँ को मरने के लिये अकेला छोड़कर कुएँ में न बैठे रहते। असाधु से यह साधु आदर्शों का आरोप करना भारी भूल है। यही भूल दुर्गादास से हुई और माता मारी गई।

कोलाहल शान्त हो जाने पर जब बहुत देर तक सन्नाटा छाया रहा तब दुर्गादास ने समझ लिया कि मुगल चले गये हैं किन्तु माता या नाथू ने अभी तक आवाज क्यों नहीं दी? दुर्गादास आशंका से सिहर उठे। वे जैसे-तैसे कुएँ के गड़बों और कगारों का सहारा लेकर बाहर निकले, जल्दी-जल्दी सबको निकाला और आकर देखा। माँजी और नाथू दोनों मरे पड़े हैं। दुर्गादास पर बिजली टूट पड़ी, उन्हें अपनी समझ पर अपार दुःख हुआ। तभी नाथू ने अस्फुट स्वर में कहा—“मालिक—शमशेर खाँ—कटालिया का सरदार।” बस उसके बाद उसकी न तो आवाज निकली और न कोई श्वास लौटी। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। वीर दुर्गादास ने आँसू रोककर प्रतिज्ञा की—जब तक शमशेर खाँ को यमपुर न पहुँचा दूँगा—अन्न-पानी ग्रहण न करूँगा। जो मेरी बूढ़ी माता को मार सकता है। वह न जाने कितनी अबलाओं को और भी मार सकता है। शमशेर खाँ तुझे इस संसार में जीने का कोई अधिकार नहीं है।”

दुर्गादास ने माता और नाथू का दाह संस्कार किया और भाई तथा बेटे को लेकर कटालिया की ओर चल पड़े। रास्ते में जब वे पटेलों की बस्ती में पहुँचे तो वहाँ के राजपूतों को ललकारा, कल्याणगढ़ की घटना बतलाई और देश की लाज के लिये कटिबद्ध होने के लिये प्रेरित किया। लगभग सौ-सवासौ राजपूत उनके साथ मरने-मारने को चल दिये। दुर्गादास, कटालिया पहुँचे। रात हो चुकी थी पर वे सीधे गढ़ी पर गये। कुल्हाड़ी के वार से द्वार तोड़ डाला और भीतर घुस गये। अन्य राजपूत गढ़ी पर खड़े हो गये। दुर्गादास घायल सिंह की तरह शमशेर खाँ के कमरे में गये। वह सो रहा था। उन्होंने उसे आवाज दी, “सरदार शमशेर खाँ उठो! तुम्हारी मौत आई है।” आवाज सुनकर शमशेर खाँ हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ और भौचक्का-सा दुर्गादास की ओर देखने लगा। दुर्गादास ने फिर कहा—“पहचाना शमशेर खाँ! मैं वही दुर्गादास हूँ जिसकी तुम्हें तलाश थी और जिसकी निरपराध माता को तुम तलवार से मार आये हो। अब अपनी वही तलवार निकाल लो? राजपूत निहत्थे अथवा असावधान शत्रु पर

वार नहीं करते। केवल कुछ क्षणों का समय है। तलवार ले लो। नहीं तो फिर तुम्हारे निहत्थे मारे जाने की जिम्मेदारी हम पर नहीं होगी? हम ज्यादा समय नहीं दे सकते। धरती तुम्हारे बोझ से भारी हो रही है।” लेकिन शमशेर खाँ खड़ा-खड़ा खोया-सा देखता ही रहा। मौत को सम्मुख देखकर कायर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया था। दुर्गादास बोले—“मैंने चाहा था कि तू बहादुर की मौत मरे? लेकिन, तेरा पाप तुझे कुत्ते की मौत मरने को मजबूर कर रहा है।” कथन के साथ ही वीर दुर्गादास की तलवार चमकी, और शमशेर खाँ का सिर, उसकी मखमली मसनद पर, रंग-भरे लोटे की तरह लुढ़क गया। वीर की प्रतिज्ञा पूरी हुई।

शमशेर खाँ की मृत्यु ने जहाँ दुर्गादास की वीरता की धाक चारों ओर फैला दी वहाँ औरंगजेब की नींद हराम कर दी। उसने राज्य-भर में दुर्गादास को जिन्दा या मुर्दा पकड़कर लाने की घोषणा करा दी। दुर्गादास अरावली की पहाड़ियों में अपने साथियों के साथ चले गये। वे वहाँ अगली योजनाओं पर विचार करते थे। कन्द-मूल-फलों पर गुजर करते थे, पहाड़ी रास्तों तथा गुफा, कन्दराओं की खोज की। इधर मुगलों के एक बड़े दल ने अरावली के चारों ओर घेरा डालकर निकलने के सारे रास्ते बन्द कर दिये।

कुछ ही समय बाद राजपूतों के साथ दुर्गादास के सम्मुख भोजन की समस्या खड़ी हो गई। फल-फूलों का भी अभाव हो गया। बाहर जाने के रास्ते बन्द थे, कोई सहायता आने की सम्भावना नहीं थी। राजपूत सरदार भूखों मरने लगे। दुर्गादास के दुःख का ठिकाना न रहा। उन्हें निराशा के विचार घेरने लगे। एक दिन उन्होंने सारे साथियों को इकट्ठा किया और कहा—

“भाइयो! अब हम पर ठीक वही संकट आ गया है, जो कभी मेवाड़ की स्वतन्त्रता में महाराणा प्रताप पर आया था। अब हम सबको भी उन्हीं की तरह घास की रोटियाँ खा-खा कर अपने मारवाड़ की स्वतन्त्रता के लिये प्राण दे देने होंगे। परिस्थितियाँ यह सोचने पर विवश करती हैं कि बाहर से कोई सहायता न मिल सकेगी। हो सकता है कि अरावली पर मुगल सेना का आक्रमण हो और तब हम इने-गिने लोगों को उनसे लड़कर बलिदान हो जाना पड़े। ऐसी दशा में मेरी बुद्धि काम नहीं देती कि क्या उपाय किया जाये? ऐसा लगता है कि देश में संगठन और स्वतन्त्रता का सारा प्रचार तथा प्रयत्न व्यर्थ चला गया। राजपूत फिर मोह-निद्रा में निमग्न हो गये हैं। अब आप लोग जैसा ठीक समझें करने के लिये स्वतन्त्र हैं।”

दुर्गादास की निराशा देखकर रामसिंह उदावत ने कहा—“वीर! इस प्रकार की निराशा ठीक नहीं। जनहित के बड़े-बड़े कामों में कभी-कभी निराशाजनक परिस्थितियाँ आ जाती हैं, लेकिन पुरुषार्थी व्यक्ति उनसे प्रभावित नहीं होते। वे साहसपूर्वक धैर्य रख कर प्रयत्न तथा प्रतीक्षा करते और अन्त में मार्ग पा लिया करते हैं। देश में संगठन तथा स्वतन्त्रता की रक्षा का किया गया प्रयत्न तथा प्रचार कभी निष्फल नहीं जा सकता? मुझे विश्वास है कि जल्दी ही कोई मार्ग निकलेगा और हम सब लोग पुनः उस पर चल कर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

रूपसिंह उदावत अभी निराशापूर्ण वातावरण में आशा एवं उत्साह का संचार कर ही रहा था कि तब तक लगभग सौ आदमियों के साथ एक अर्थी अरावली की पहाड़ियों पर चढ़ती दिखलाई दी। सभी लोग उसकी तरफ बढ़ गये। पास पहुँचने पर लोगों ने अर्थी उतारी और सभी ने दुर्गादास और उनके साथियों को राम-जुहार कर अर्थी खोल डाली। सबके हर्ष और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अर्थी पर मुरदे के स्थान पर एक राजपूत सरदार गम्भीर सिंह था और उसके साथ आये लोग राजपूत सिपाही? उन्होंने बतलाया कि शमशेर खाँ के मारे जाने पर कैसे सब तरफ लोगों को हर्ष एवं उत्साह की प्राप्ति हुई और कैसे तमाम राजपूत कटालिया आपकी सहायता के लिये गये किन्तु जब पता चला कि आप अरावली की पहाड़ियों में चले गये हैं तो हम लोगों ने यह तरकीब निकाली और घेरा डाले पड़े मुगलों को मुर्दे का विश्वास दिलाकर आपकी तलाश में यहाँ आ गये। आप सब लोग सौभाग्य से मिल गये। अब चलिये स्थान-स्थान पर राजपूतों के दल के दल आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अत्याचारियों से खुला युद्ध छेड़ दिया जाये।” तत्क्षण ही सारी निराशा उत्साहपूर्ण वीर भावना में बदल गई। सभी अपने-अपने हथियार सँभालकर हर-हर महादेव के घोष के साथ अरावली से उतरे और मुगलों को मार-काटकर राजपूत सेना में आ गये।

वीर दुर्गादास ने अरावली की तलहटी में जमा राजपूत सेना का यथावत् संगठन किया और उत्साहपूर्ण भाषण के पश्चात् कहा—“अब इस प्रकार विश्रुंखलित रूप से युद्ध करने से काम न चलेगा अब तो कोई न कोई दुर्ग जीतकर अपना स्थायी स्थान बनाना होगा और तब वहाँ से आगे की योजनाओं पर चलना होगा? सभी ने उनसे सहमत होकर पास के सोजीतगढ़ पर अधिकार कर लेने का परामर्श दिया। बस फिर क्या था एक संगठित सेना के साथ राजपूत वीर सोजीतगढ़ पर चढ़ गये और वहाँ के बर्बर मुगलों को परास्त कर गद्दी पर राजपूतों का जयध्वज फहरा दिया।

२.१२ मरकर भी अमर हो गये जो

सोजीतगढ़ की विजय ने राजपूतों में वीरता, बलिदान तथा विजय के विश्वास का ज्वार भर दिया। चारों ओर से राजपूत सरदार, जागीरदार और रजवाड़े अपनी-अपनी सेनायें ले-लेकर आने और सोजीतगढ़ में एकत्र होने लगे। जोधपुर पर चढ़ाई की योजना बनी। तभी गम्भीरसिंह ने परामर्श दिया कि—“सोजीत के राजपूत परिवारों की स्त्रियाँ और बच्चे किसी सुरक्षित स्थान पर भेज दिये जायें। क्योंकि अब सोजीतगढ़ हम लोगों का मुख्य गढ़ ही नहीं शक्ति और संगठन का केन्द्र बनेगा। इस पर किसी समय भी मुगलों का आक्रमण हो सकता है।”

बात उपयुक्त थी। सब की समझ में आ गई। वीर दुर्गादास अपने कुछ साथियों के साथ परिवार की महिलाओं को लेकर वाली की ओर इस मन्तव्य से स्वयं चल दिये कि उन क्षेत्रों के राजपूतों को स्थिति से परिचित कराकर युद्ध का निमन्त्रण भी देते आयेँगे। उधर दुर्गादास ने प्रस्थान किया और इधर देसुरी के राजपूत सोजीतगढ़ की विजय और स्वातन्त्र्य सेना में सम्मिलित होने के लिये उत्सव और उल्लास मनाने लगे। किन्तु वहाँ के शासक इनायत खाँ ने सारे मुख्य-मुख्य राजपूतों को बन्दी बनाकर मौत के घाट उतरवा दिया। देसुरी में अन्याय और अत्याचार का आतंक छा गया। दुर्गादास को वाली में यह समाचार मिला तो वह वहीं से अपने साथियों और उद्यत राजपूतों की एक टुकड़ी लेकर देसुरी की ओर चल दिये। देसुरी पहुँचने पर रात हो गई थी किन्तु वीर दुर्गादास ने विश्राम करना अपने लक्ष्य के प्रति विश्वासघात समझा और उन्हीं पैरों देसुरी के किले पर आक्रमण कर दिया। इनायत खाँ को यमपुरी भेजकर किले पर विजय का झण्डा फहरा दिया। देसुरी के सारे राजपूत दुर्गादास के अनुगामी हो गये।

वीर दुर्गादास देसुरी का प्रबन्ध एक सरदार को सौंपकर और रक्षा के लिये दो हजार सेना रखकर बाकी सोलह-सत्रह हजार सेना लेकर सोजीतगढ़ आकर जोधपुर पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे। जोधपुर पर इस समय औरंगजेब की पूरी ताकत लगी हुई थी। उसके देखते हुए राजपूतों की यह सेना कम थी। तब भी वीर दुर्गादास न्याय, सत्य तथा विजय के अखण्ड विश्वास के साथ जोधपुर की ओर कूच करने को उद्यत हो गये।

जोधपुर की ओर कूच होने ही वाला था, कि तब तक महाराज उदयपुर की तीस-चालीस हजार सेना राजकुमार जयसिंह के साथ आकर उपस्थित हो गई। जयसिंह ने दुर्गादास से मिलकर बताया कि “आपके इस देश-सेवा के कार्यों में अभूतपूर्व बलिदान देखकर सारे राजपूत रजवाड़े जाग उठे हैं। सभी आपके नेतृत्व में देश की स्वतन्त्रता के

लिये बलिदान में भाग लेने को उत्सुक हो गये हैं। मुझे तुम्हारे जोधपुर अभियान का समाचार मिला और मैं तत्काल सेना लेकर उदयपुर से चल पड़ा। यथा शीघ्र जोधपुर पर घावा बोल ही देना चाहिये।”

हर-हर महादेव की ध्वनि के साथ कूच का डंका बजा और पचास हजार की राजपूत-वाहिनी जोधपुर की ओर चल पड़ी। दुर्गादास ने सारी सेना पाँच भागों में बाँटकर उनका नायक जयसिंह, मानसिंह, करणसिंह, जलकरण और केसरीसिंह को बनाकर स्वयं प्रधान सेनापतित्व ग्रहण किया, एक दिन और एक रात की यात्रा के बाद राजपूत सेना जोधपुर की सीमा पर पहुँच कर रुक गई। चारों ओर से जोधपुर को घेर कर मोर्चाबन्दी कर दी गई और दूसरे दिन सबेरे ही लड़ाई का डंका बजा दिया गया।

घमासान संग्राम शुरू हो गया। एक ओर अन्याय और अत्याचार की भावना थी और दूसरी ओर स्वतन्त्रता, देश-प्रेम तथा कर्तव्य का उत्साह था। विजय सत्य की ही होती है फिर चाहे उसके पक्ष में कम लोग ही क्यों न हों। कई दिन तक अविराम युद्ध होता रहा। अन्त में मुगलों के सेनापति दिलावर खाँ ने हथियार डाल दिये और कूटनीति से काम लिया। उसने वीर दुर्गादास के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजते हुए कहलवाया कि अब लड़ाई बन्द करा दी जाये। मैंने बादशाह के पास सन्धि की स्वीकृति के लिये प्रार्थना भेजी है। आशा है मंजूर हो जायेगी। फिर भी यदि तीन दिन तक कोई उत्तर न आया तो मैं जोधपुर आपके हवाले कर दूँगा।

दुर्गादास ने बात मानकर लड़ाई बन्द करा दी और थके तथा घायल राजपूत विश्राम तथा मरहम-पट्टी करने लगे। इधर दुर्गादास ने सरदारों को एकत्र कर संधि-प्रस्ताव पर विचार करना प्रारम्भ किया। सभी लोग विचार करते-करते इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अन्यायी शत्रु पर विश्वास न किया जाये। हो सकता है कि उसने सन्धि की प्रार्थना के बजाय बादशाह के पास सहायता के लिये सन्देश भेजा हो। ऐसी दशा में यदि असावधान रहा गया तो धोखा हो सकता है और जीत, हार में बदल सकती है। अच्छा हो, कि दिल्ली से जोधपुर के सारे मार्गों और नाकों पर फौज लगा दी जाये जिससे यदि दिलावर खाँ ने छलपूर्वक हमको युद्ध से विरत कर कुमुक मैगाई हो तो उसे रास्ते में ही रोककर जोधपुर पर अपना कब्जा कर लिया जाये। सलाह सबको पसन्द आई और दिल्ली, जोधपुर के रास्ते रोककर राजपूत सेना पहाड़ियों में छिपा दी गई।

अनुमान ठीक निकला। दिल्ली से सत्तर हजार सेना तीन भ्रमों में जोधपुर की ओर आ रही थी। अगली

टुकड़ी का सेनापति सरदार मुहम्मद खॉं था, दूसरी का तहब्बर खॉं और तीसरी टुकड़ी शहजादा अकबर शाह के साथ आ रही थी। कुछ ही देर बाद मुहम्मद खॉं का दल बादशाही झण्डा लहराता हुआ आ पहुँचा। राजपूतों ने अवसर पाते ही आक्रमण कर दिया।

युद्ध प्रारम्भ होते ही राजपूतों की तलवारें बिजली बनकर चमकने लगीं। भयानक मार से अन्याय का साथ देने लिये आई हुई मुगल सेना भाग खड़ी हुई। मुहम्मद खॉं, दुर्गादास की तलवार का आखेट बना। राजपूतों ने मुगल सेना को घेरकर अभी बन्दी ही बनाया था कि तहब्बर खॉं का दल आ पहुँचा। राजपूतों की ताजी टुकड़ी गुफाओं और कन्दराओं से निकलकर उस पर टूट पड़ी और जल्दी ही उसकी भी वही दशा कर दी जो पहले शत्रु दल की हुई थी। अन्तर केवल इतना रहा कि पहली टुकड़ी का सरदार मुहम्मद खॉं मारा गया था किन्तु इसका तहब्बर खॉं ने आत्म-समर्पण कर दिया वह बन्दी बना लिया गया।

एक रात बीतने के बाद अकबर शाह का दल पहुँचा। उसे रास्ते में ही पहले दोनों टुकड़ियों की दशा का समाचार मिल चुका था। अस्तु उसने घेरा पड़ते ही आत्म-समर्पण कर दिया। अधर्म पर धर्म की और अन्याय पर सत्य की विजय हुई।

वीर दुर्गादास लौटकर जोधपुर पर पुनः टूट पड़ा किन्तु अधिक युद्ध न करना पड़ा। जोधपुर के मुगल शासक दिलावर खॉं ने जोधपुर की सत्ता दुर्गादास को सौंप दी। इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष और अकूत बलिदान के बाद परतन्त्र हुआ जोधपुर स्वतन्त्र हुआ। राजधानी से बादशाही झण्डा उतारकर राजपूती झण्डा फहरा दिया गया।

सरदारों ने उत्सव और समारोह मनाने का उत्साह प्रकट किया। किन्तु दुर्गादास ने सबको धैर्य रखने के लिये कहकर सारा प्रबन्ध स्वयं किया और बादशाह से युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्होंने कहा, अभी विजय अधूरी है। बादशाह का अन्तिम आक्रमण होना है, साथ ही पूरा मारवाड़ स्वतन्त्र कराना है, अभी उत्सव का समय नहीं आया है।

वीर दुर्गादास का कथन चरितार्थ हुआ। कुछ दिनों बाद ही बादशाह औरंगजेब ने ढाई लाख सेना से जोधपुर पर चढ़ाई की। यह समाचार राजपूताने और सम्पूर्ण मारवाड़ में आग की तरह फैल गया। वहाँ के सारे राजे, महाराजे और देशभक्त दुर्गादास की सहायता के लिये आ-आकर जोधपुर में जमा होने लगे। देखते ही देखते राजपूतों की कई लाख सेना एकत्र हो गई। बादशाह औरंगजेब

आया किन्तु राजपूत सेना ने उसे रास्ते में ही घर दबाया। बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। पचास हजार सेना का बलिदान हो गया किन्तु राजपूत अपने प्राणों की बाजी लगा कर लड़ते रहे और अन्त में उन्होंने देववाड़ी की पहाड़ियों में मुगल सेना को घर दबाया और भयंकर युद्ध का मार्ग खोल दिया। औरंगजेब घबरा गया। उसने अपना झण्डा गिरा दिया और किसी प्रकार सारी सेना को अनाथ छोड़कर गुफाओं, कन्दराओं और जंगलों में छिपता हुआ कुछ सरदारों के साथ दिल्ली की ओर भाग गया। दुर्गादास की पूर्ण विजय हुई। उन्होंने मारवाड़ के सारे राज्यों को स्वतन्त्र कर जोधपुर में एक विशाल सभा की। उस सभा में देश के लगभग सभी हिन्दू राजा एकत्र हुए। सभा में दुर्गादास ने कहा—आज, अब थोड़ा-सा काम छोड़कर मेरा कर्तव्य पूरा हो गया है। मारवाड़ स्वतन्त्र हो गया अब शेष देश को स्वतन्त्र कराने की बारी है। यह बात सही है कि अब मेरा शरीर अधिक सेवा के योग्य नहीं रहा है तथापि देश में हजारों दुर्गादास पैदा होंगे और एक इस दुर्गादास से सैकड़ों गुना प्रयत्न कर मातृभूमि भारत को आततायियों से मुक्त करायेंगे।

सारी सभा और राजाओं ने वीर दुर्गादास को एक ऊँचे आसन पर बैठाकर पूजा की और चाहा की जोधपुर की गद्दी पर उनका तिलक कर दिया जाये, तभी वे उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर बोले—इसका अधिकारी मैं नहीं। इसका अधिकारी महाराज जसवन्त सिंह का पुत्र अजीत सिंह है जो गुप्त रूप से डुगवा ग्राम में पाला जाता रहा है और अब जिसे मैंने यहाँ बुला लिया है। आप लोग उत्तराधिकारी राजकुमार का राज्याभिषेक करें।

इतना कहकर वीर दुर्गादास ने अजीत सिंह को बुलाकर गद्दी पर बैठाया और विधिवत् राजतिलक कराकर महाराज जसवन्त सिंह की लोहे की पेटी खोली। उसमें से जोधपुर का पैतृक राजमुकुट निकाला, जिसे दुर्गादास ने अपने हाथों राजकुमार अजीत सिंह को पहना कर प्रणाम किया। सभी ने महाराज अजीत सिंह की जयकार की और एक स्वर से उसे जोधपुर का राजा और मारवाड़ का महाराज स्वीकार कर भेट दीं।

वीर दुर्गादास ने पुनः हाथ जोड़कर सबसे कहा—आज मेरा व्रत, मेरी प्रतिज्ञा और मेरा कर्तव्य पूर्ण हुआ, इसके लिये भगवान् तथा आप सब लोगों के साथ दिवंगत वीरों को धन्यवाद तथा श्रद्धांजलि देता हूँ। अब इस संसार में मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया है। शेष जीवन भगवत् भजन में लगाकर परलोक का चिंतन करूँगा। मैं आज

२.१४ मरकर भी अमर हो गये जो

अभी ही काशी जा रहा हूँ । इतना कहकर वह विजयी वीर चल पड़ा ।

दुर्गादास ने देश-रक्षा के लिये जो आत्म-त्याग किया था और युद्ध-क्षेत्र में जो वीरता दिखाई थी, वह तो इतिहास में प्रसिद्ध ही है और अनेक लेखकों ने उसका प्रेरणादायक वर्णन किया है, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता हमको यह निःस्वार्थता और निस्पृहता ही जान पड़ती है । जबकि वर्तमान समय के 'देशभक्त' कोई झूठ-मूठ का सेवा कार्य कर देने पर भी अपने नाम का डंका पिटवाना चाहते हैं और उसके बदले में किसी ऊँचे पद या धन-मान की अभिलाषा रखते हैं—अनेक बार तो उसके लिये निर्लज्जतापूर्वक दूसरों से लड़ते-झगड़ते और नीच कृत्य करने पर भी उतारू हो जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों को वीर दुर्गादास के चरित्र से यह शिक्षा मिल सकती है कि परोपकार

और सेवा का सच्चा महत्त्व तभी होता है जब निःशून्य भावना से किया जाये और किसी प्रकार के बदले की अभिलाषा न रखी जाये । ऐसा होने पर उनको स्थायी प्रतिफल प्राप्त हो सकेगा । यदि दुर्गादास अपनी सेवा के बदले कोई बड़ी जागीर या मारवाड़ की गद्दी प्राप्त कर लेते तो आज उनका नाम और यश उससे चौथाई भी सुनने में नहीं आता, जो उनको प्राप्त हो चुका है, यद्यपि वे महाराज जसवन्त सिंह के एक साधारण जागीरदार थे और जिन महाराज अजीत सिंह को उन्होंने गद्दी पर बैठाया था, उन्होंने भी उनका कुछ सम्मान न किया, पर आज उन दोनों महाराजाओं का नाम कोई नहीं लेता, पर दुर्गादास को एक राष्ट्र-रक्षक के रूप में पूजा जाता है । ऐसा स्थायी और सार्वजनिक सम्मान देश और समाज के सच्चे सेवकों को ही मिला करता है ।

स्वतन्त्रता के महान उपासक : महाराणा प्रताप

सन् १५७६ का वर्ष था । मेवाड़ (राजस्थान) के हल्दीघाटी नामक पर्वतीय प्रदेश में मुगलों और राजपूतों की सेनायें संघर्ष के लिये आमने-सामने डटी हुई थीं । दिल्ली के बादशाह अकबर ने एक छोटे से राज्य द्वारा अपनी आज्ञा की अवेहलना करने पर एक बहुत बड़ी सेना सुप्रसिद्ध सेनानायकों की अधीनता में उसे कुचल डालने को भेजी थी । उधर मेवाड़ के महाराणा प्रताप ने भी अपनी संस्कृति, जातीयता, धर्म की अवमानना सहन करने के बजाय स्वतन्त्रता देवी की वेदी पर बलिदान हो जाने का निश्चय कर लिया था । इसलिये वे अपने साधनों के अल्प होने तथा गृह-कलह की कठिनाइयों के होते हुए भी इतनी शक्तिशाली सेना से लोहा लेने को तैयार हो गये ।

आरम्भ में तो मेवाड़ी-दल यह प्रतीक्षा करता रहा कि मुगल सेना हल्दीघाटी के संकीर्ण भाग में आ जाये तो उस पर पहाड़ के ऊपर से हमला करके मार भगाया जाये, पर जब इस तरह बहुत समय बीत गया तो राजपूतों ने अपनी तरफ से आक्रमण कर दिया ।

यह तो कहा ही जा चुका है कि मुगलों की सेना महाराणा प्रताप की सेना की अपेक्षा कई गुनी थी । उसके सेनापति आमेर के महाराज मानसिंह थे जो युद्ध काल में बहुत बड़े-चढ़े माने जाते थे । स्वयं प्रतापसिंह के सगे भाई शक्तिसिंह और जगमल भी उनके सहायक थे । सैय्यद हशीम, सैय्यद अहमद खॉं, मुहब्बत खॉं आदि बड़े-बड़े मुसलमान सरदार सेना के संचालन में सहयोग दे रहे थे ।

फिर भी राजपूतों ने ऐसे जोश और वीरता से आक्रमण किया कि थोड़ी देर में ही मुगलों में भगदड़ मच गई । हजारों सिपाही काट डाले गये और बड़े-बड़े वीरों को मौत के घाट उतार दिया । उसी समय कुछ नई बादशाही सेना सहायतार्थ आ गई और मानसिंह ने तोपखाने को पूरी शक्ति से गोलावारी करने का आदेश दिया । इस पर पासा पलटने लगा और राजपूतों के दल के दल तोपों के गोलों से प्राण देने लगे । यह देखकर महाराणा बड़े रोष में आ गये और उन्होंने अपने सिपाहियों को तोपें छीन लेने का आदेश दिया । तुरन्त आत्म-बलिदानी वीरों के दल तोपों की तरफ दौड़े और मृत्यु का उपहास करते हुए उन्होंने तोपचियों का सफाया कर दिया । कई-सौ गज का मैदान मुर्दों से भर गया, पर उन्होंने केवल तलवार और भालों के बल पर आग उगलती तोपों का मुख अपने शरीरों से बन्द कर दिया ।

पर अब राजपूत सैनिकों की संख्या बहुत कम रह गई थी और मुगल सेना उनको चारों तरफ से घेर कर नष्ट कर डालने की कोशिश कर रही थी । यह देखकर महाराणा स्वयं उनके बीच में कूद पड़े और मुगलों को गाजर-मूली की तरह काटने लगे । वे खास तौर से मानसिंह को ढूँढ़ रहे थे, जिसने बादशाह अकबर को भड़का कर आक्रमण कराया था । अन्त में काफी दूर पर उनको सैनिक दलों से घिरे और एक बड़े हाथी पर सवार मानसिंह की झलक दिखाई दी । इतने बड़े सेना दल को चीरकर मानसिंह पर

आक्रमण करना सहज तो न था, पर प्रताप ने प्राणों की परवा न करके अपने घोड़े चेतक को उसी तरफ दौड़ाया। चेतक भी उनकी मन्त्रा को समझ गया और कूदकर मानसिंह के हाथी पर जा पहुँचा। महाराणा ने अपना बरछा चलाया पर शीघ्रता में वह महावत के लगा और उसके मरते ही हाथी पीछे की तरफ भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार मानसिंह के प्राण बच गये।

इधर प्रतापसिंह दुश्मनों के अपार सेना दल में पूरी तरह घिर गये और उन पर चारों तरफ से अस्त्र-शस्त्र चलाये जाने लगे। वे पूरी ताकत से उनका मुकाबला करने लगे, पर इतनी देर में बहुत थक चुके थे। इस दृश्य को कुछ दूर से झाला सरदार ने देखा और समझ लिया अब प्रताप अधिक देर नहीं टिक सकेंगे। वह बिजली की तरह लपककर उनके पास पहुँचा और उनके सिर पर से राजकीय चिन्ह 'छत्र' को उठाकर अपने सर पर रख लिया। उसने कहा "महाराणा अब आप यहाँ से निकल जायें अन्यथा आपका अन्त हो जाने से मेवाड़ अनाथ हो जायेगा।"

इधर तो मुगल सैनिक महाराणा समझ कर झाला सरदार पर आक्रमण करने लगे और उधर महाराणा युद्ध क्षेत्र से निकलकर नदी की तरफ चले। उस समय तक वे और घोड़ा घावों से चकना-चूर हो रहे थे, पर इस तरफ ध्यान न देकर ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी भूमि में तेजी से आगे बढ़े चले जा रहे थे। दो मुगल सिपाहियों ने उनको इस प्रकार जाते हुए पहचान लिया और वे भी उनको मारने के उद्देश्य से पीछे दौड़े। यह दृश्य एक तीसरे व्यक्ति—प्रताप के भ्राता शक्तिसिंह ने देखा। अब प्रताप की देशभक्ति और कर्तव्य परायणता देखकर उसका मन बदल चुका था, अतएव उन्होंने भी उनकी रक्षा के लिये घोड़ा उसी तरफ दौड़ा दिया। कुछ ही देर में महाराणा नदी के पास जा पहुँचे और चेतक बहुत घायल होने पर भी महाराणा को लेकर उस पार पहुँच गया। वे वहाँ से कुछ ही गज आगे बढ़े होंगे कि पीछे से आवाज आई—"ओ नीला घोड़ारा असवार" महाराणा ने पीछे मुड़कर देखा तो शक्तिसिंह को अपनी तरफ आते देखा, पहले तो उन्होंने यह समझा कि वह इस समय मौका देखकर पुरानी शत्रुता का बदला लेने आया है। पर जब शक्तिसिंह ने लड़ने के बजाय अपना मस्तक उनके चरणों पर रख दिया और बतलाया कि मैं आपका पीछा करने वाले उन मुगल सैनिकों को मारकर यहाँ आया हूँ तो दोनों के दिल का मैल धुल गया और वे प्रेमपूर्वक गले मिले।

उसी समय महाराणा के घोड़े चेतक ने अपने स्वामी को सुरक्षित स्थान में पहुँचाकर उनके मुख की तरफ देखते

हुए प्राण त्याग दिये। वह मानसिंह के हाथी पर आक्रमण करते समय मरणान्तक रूप से घायल हो गया था और हाथी के मस्तक पर लगी एक कील भी उसके पैर में गढ़ गई थी। अभी तक वह युद्ध की तीव्रता और जोश के कारण अपनी पूरी शक्ति से दौड़ता रहा था। पर अब महाराणा के नीचे उतर जाने पर उसका शरीर शिथिल होकर भूमि पर गिर पड़ा। अपनी रक्षा करने वाले चेतक को इस प्रकार परलोक्त जाता देखकर प्रताप का हृदय रो उठा और उन्होंने घोड़े के मस्तक को अपनी गोद में रख लिया। घोड़े की अपूर्व स्वाभिभक्ति को देखकर शक्तिसिंह पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भी उसके लिये रोने लग गया। कुछ दिन बाद राणा ने चेतक के प्राण त्याग करने के स्थान पर एक स्तम्भ स्मारक के रूप में बनवा दिया जो अभी तक मौजूद है। अपना कर्तव्य इतनी निष्ठा के साथ पालन करने से पशु होते हुए भी चेतक का नाम अमर हो गया।

आरम्भिक जीवन

जिन महाराणा प्रताप ने अपने थोड़े से साधनों से स्वाभिमान और देश के गौरव की रक्षा के नाम पर भारत-सम्राट कहलाने वाले अकबर की विशाल सेना का मुकाबला किया उनका जन्म सन् १५४० में हुआ था। उनके पिता महाराणा उदयसिंह निर्बल प्रकृति के व्यक्ति थे और जब अकबर ने अपना विजय-ध्वज फहराने के लिये चित्तौड़ पर हमला किया तो वे अपने महान् पूर्वज महाराणा समर सिंह, कुम्भा और संग्रामसिंह (राणा सांगा) की कीर्ति पर कालिमा लगाकर पहाड़ और जंगलों में भाग गये। पहाड़ी प्रदेश में उन्होंने अपनी नई राजधानी उदयपुर बसाई और वहीं पर सन् १५७२ में उनका देहान्त हो गया। वे एक विलासप्रिय राजा थे। जिनके अनेक रानियाँ तथा २५ पुत्र थे।

आश्चर्य की बात है कि जिन राणा उदयसिंह को मेवाड़ के समग्र राजवंश में निम्नश्रेणी का व्यक्ति माना गया, इतिहास में जिनका नाम उपेक्षा के साथ लिया गया और जिनके २४ पुत्र भी स्वार्थ की जिन्दगी बिताने में ही प्रवृत्त हुए, उन्हीं का पच्चीसवाँ पुत्र प्रताप इतना स्वाभिमान, स्वाधीनताप्रिय और मातृभूमि के गौरव का रक्षक हुआ कि इतिहास में उनका नाम अमर हो गया और स्वर्णाक्षरों से लिखा गया। यद्यपि मेवाड़ के सिसौदिया वंश के शासकों में बप्पारावल जैसे विजयी वीर हुए जिनके विषय में किम्बदन्ती है कि काबुल, कंधार, ईरान-तूरान पर भी उनका झण्डा फहराया था। उसी वंश में राणा सांगा हुए जिन्होंने सर्वप्रथम मुगल आक्रमणकारी बादशाह बाबर के

२.१६ मरकर भी अमर हो गये जो

छक्के छुड़ा दिये और जिनके विषय में “टाड राजस्थान” में लिखा है कि उनके शरीर पर घावों के अस्सी निशान उनकी वीरता के प्रमाणस्वरूप मौजूद थे। पर ऐसे महावीरों को भी इतिहास में वह स्थान न मिल सका जितना ऊँचा और श्रद्धायुक्त स्थान महाराणा प्रताप ने प्राप्त कर लिया। ‘आधुनिक ढंग के आलोचक चाहे उनको “संकीर्णतावादी” सिद्ध करने में अपनी बुद्धिमत्ता समझें, पर प्रत्यक्ष तथ्यों के सामने उनके निरर्थक तर्क-वितर्क चल नहीं सकते। भारत के राष्ट्रीय वीरों में महाराणा प्रताप और शिवाजी ने अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लिया है और पिछले सौ वर्षों में हिन्दी तथा भारतीय अन्य भाषाओं में उनके सम्बन्ध में अनेक प्रशंसात्मक रचनायें प्रकाशित हुई हैं।

भारतीय लेखकों ने ही नहीं कर्नल टाड और विंसेण्ट स्मिथ जैसे विदेशी इतिहासकारों ने भी राणा प्रताप की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। विंसेण्ट स्मिथ ने अपने “अकबर का जीवन चरित्र” में लिखा है कि “अकबर की चढ़ाई के समय राणा प्रताप अपने प्राण अर्पण करने को पूर्णरूप से तैयार थे। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि वे अपने वंश के रक्त को विदेशियों के संसर्ग से कभी दूषित न होने देंगे और उनका देश सदा स्वाधीन लोगों का निवास स्थान बना रहेगा।” प्रताप की इन्हीं विशेषताओं ने इस देशभक्ति के युग में प्रताप को एक महान “राष्ट्रीय वीर” का दर्जा दिला दिया। इतना ही नहीं प्रताप सिंह के पूर्वजों ने बड़ी-बड़ी विजय प्राप्त करके विदेशी आक्रमणकारियों को मार भगाया था और उनके बाद महाराणा राजसिंह ने भी औरंगजेब जैसे प्रबल और अत्याचारी बादशाह को पदावनत कर दिया था, पर वे लोग भी उतनी प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके जितनी कि अकबर की सेनाओं से बराबर हारते जाने और पर्वतों तथा वनों में छिपकर जीवन व्यतीत करने पर भी प्रतापसिंह को प्राप्त हो गई। इसका कारण यही है कि संसार में केवल सफलता को ही सम्मान नहीं मिलता बल्कि उससे भी ज्यादा मान्यता किसी ऊँचे आदर्श के लिये त्याग, बलिदान और समर्पण की भावनाओं को दी जाती है। महाराणा प्रताप में ये गुण इतनी अधिक मात्रा में थे कि अनेक लेखकों ने उनके जन्म को किसी महान दैवी-विघ्न का अंग मान लिया है।

“पिता के अनुपयुक्त रहने पर भी प्रतापसिंह में यह असाधारण क्षमता कहाँ से आ गई? कैसे वे स्वार्थ एवं त्याग की इतनी उज्ज्वल पराकाष्ठा दिखाने में समर्थ हुए? किन कारणों से स्वदेशाभिमान उनके हृदय में जागृत हो उठा? स्वदेश प्रेम की यह सुखद सरिता उनकी नस-नस में कैसे बहने लगी और किस तरह वे इतने भयानक कष्ट सहन करने में समर्थ हुए? गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने

कहा है—“धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।” यह सर्वमान्य है कि ईश्वर की प्रेरणा से भिन्न इस संसार का कोई भी कार्य संसाधित नहीं होता और यह भी सभी मानते हैं कि अपने-अपने संस्कारानुसार मनुष्य का कर्म तथा ज्ञान भी होता है। उस समय क्षत्रिय जाति विलासिता में डूबने लगी थी, वह अपना धर्म त्यागकर यवनों से विवाह-बन्धन में बँधने लगी थी। कूटनीतिज्ञ अकबर इसी तरह अपना प्रभाव भारत भर में फैलाने के लिये राजपूतों से विवाह सम्बन्ध करने लगा था। उस समय एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी, जो उन्हें सावधान कर दे कि तुम अपना कर्तव्य भूल रहे हो, कुराह पर जा रहे हो।”

इसमें सन्देह नहीं कि राणा प्रताप ने जातीय सम्मान और कर्तव्यनिष्ठा के क्षेत्र में जो आदर्श उपस्थित किया उसका प्रभाव बहुत समय तक जनमानस पर पड़ता रहा। तब यह कहना कुछ भी गलत नहीं है कि राजपूत नरेश जो एक-एक करके मुगलों के अनुयायी बन रहे थे, उन पर प्रताप के उदाहरण से रोक लग गई और आगे चलकर बहुसंख्यक राजपूत सरदारों ने विदेशियों से संघर्ष भी किया। महाराणा प्रताप के विरुद्ध राजा मानसिंह, भगवान दास, जगन्नाथ आदि के प्राणपण से लड़ने का एक उद्देश्य यह भी था कि उनको प्रताप के उदाहरण से अपने हीनतापूर्ण कर्म अर्थात् मुगलों से विवाह सम्बन्ध करने पर लज्जा आती थी। वे चाहते थे कि प्रताप भी उनके ही जैसे बन जायें या फिर उनको नष्ट कर दिया जाये। प्रताप ने इस चुनौती को स्वीकार किया और त्याग तथा कष्ट सहने के आधार पर वह काम कर दिखाया जिससे स्वाभिमान की रक्षा हो सकी और अस्तित्व भी बना रहा। उन्होंने यह दिखला दिया कि सांसारिक सुख और वैभव वहीं तक ठीक है जब तक उनका उपयोग धर्म, नीति, संस्कृति की रक्षा करते हुए किया जा सके। पर जिस सुख और सम्पत्ति के लिये मानवता के इन श्रेष्ठ गुणों का बलिदान करना पड़े उसको विष के समान त्याज्य समझना चाहिये।

प्रताप के समय में देश की कुछ ऐसी ही हालत हो गई थी। एक समय था कि विदेशी आक्रमणकारी अपने देश, धर्म का नाश करने वाला समझा जाकर शत्रु-भाव से देखा जाता था। उनको पूरी शक्ति से नष्ट करने या हटाने की चेष्टा की जाती थी, पर अकबर ने एक नई चाल चली। उसने अनुभव किया कि इस देश में सदैव विदेशी और आक्रमणकारी की स्थिति में बने रहना लाभदायक नहीं है। यदि हमको सदा यहाँ के निवासियों से लड़ते-भिड़ते ही रहना पड़ा तो हम चाहे कुछ समय के लिये विजयी भी हो जायें तो भी हमारी स्थिति डौवाबोल ही रहेगी। ऐसी हालत में डाकू और लुटेरे जिस प्रकार बहुत-सा-माल पा

जाने पर आराम की जिन्दगी नहीं बिता सकते, वरन् उनके भीतर धुकड़-धुकड़ ही लगी रहती है वही हालत एक विदेशी विजेता की भी बनी रहती है। इसलिये उसने बुद्धि से काम लेकर इस देश के रहने वालों, खासकर यहाँ की लड़ने वाली मुख्य जाति राजपूतों से मेल-जोल बढ़ाना आरम्भ किया और शीघ्र ही कितने ही लोगों को अपना साथी और अनुयायी बना लिया, जिनमें आमेर के राजा मानसिंह प्रमुख थे। ये अपने समय के बहुत बड़े सेनानायक थे और कुछ ही बरसों में उन्होंने बंगाल से अफगानिस्तान तक अनेक लड़ाइयाँ जीतकर मुगल साम्राज्य की बहुत कुछ वृद्धि की थी।

अकबर की यह नीति सामान्य दृष्टि से तो राजा और प्रजा के लिये हितकारी थी। पर उस समय की परिस्थिति में जबकि मुसलमान विजेता और हिन्दू विजित समझे जाते थे और बहुत समय से उनके धर्म और जातीयता पर आक्रमण होते आये थे। मुसलमानों से एक दम मिल-जुल जाना भारतीय संस्कृति की दृष्टि से खतरनाक था। महाराणा प्रताप ने इस तथ्य को समझा और निश्चय किया कि राजपूती शक्ति साधनों का जो बहाव मुगल-सत्ता की वृद्धि के लिये बढ़ता चला जा रहा है उसको रोका जाये। यह प्रत्यक्ष था कि इस उद्देश्य की पूर्ति में अकबर जैसे साधन सम्पन्न और कूटनीतिज्ञ सम्राट का विरोध मोल लेना पड़ेगा और उसके कारण मेवाड़ जैसे छोटे और साधन रहित राज्य के अक्षिपति को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ सकता है, पर प्रताप ने इस खतरे को स्पष्ट देखते हुए भी देश और धर्म की रक्षार्थ अपने सुख और वैभव का बलिदान करने में संकोच न किया, यही उनकी बहुत बड़ी महानता है, जिसके लिये चार सौ वर्ष पश्चात् आज भी हम उनका स्मरण और सम्मान करते हैं।

मानसिंह से झगड़ा

महाराणा प्रताप और अकबर की लड़ाई के लिये महाराज मानसिंह को उत्तरदायी बतलाया जाता है। कहा जाता है कि जब वे शोलापुर को जीतकर दिल्ली वापस जा रहे थे तो रास्ते में महाराणा प्रताप से मिलने मेवाड़ के कमलमीर नामक—स्थान में ठहर गये। दिखाने को तो वे शिष्टाचार बंश ही भेंट करने गये थे, पर उनका आन्तरिक उद्देश्य बही था कि महाराणा को अकबर के अनुकूल बनाने की कोशिश की जाये। यह भी सम्भव है कि स्वयं अकबर ने उनको ऐसा संकेत किया हो। पर महाराणा उस समय चित्तौड़ की परतन्त्रता को देखकर बहुत दुःखी और रोषपूर्ण हो रहे थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब तक मैं चित्तौड़ को स्वतन्त्र न कर लूँगा तब तक महलों को त्यागकर

झोंपड़े में रहूँगा, पलंग के बजाय जमीन पर सोऊँगा और सोने-चाँदी के बर्तनों के स्थान पर पत्तल पर भोजन करूँगा। ऐसी भावना के कारण उनका मन मुगल बादशाह और उनके सहयोगियों की तरफ से बहुत विरक्त हो रहा था। फिर भी अतिथि-धर्म का ख्याल करके उन्होंने मानसिंह के स्वागत-सम्मान की उचित व्यवस्था कर दी थी और भोजन के अवसर पर कुँवर अमरसिंह को उनके साथ बैठने को भेज दिया। मानसिंह को इसमें अपना अपमान जान पड़ा और उसने कहा कि मेरे साथ भोजन करने को महाराणा को आना चाहिये। सरदारों के बहुत कुछ समझाने बुझाने पर भी जब वे न माने और क्रोध करने लगे तो प्रतापसिंह ने आकर स्पष्ट कह दिया कि जिस किसी ने मुसलमानों से विवाह-शादी का सम्बन्ध कर लिया है, उनके साथ हमारा खान-पान नहीं हो सकता। इस पर मानसिंह का गुस्सा और भी भड़क उठा और वह बिना भोजन किये ही बदला लेने की धमकी देता हुआ वहाँ से चला गया।

इस घटना में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसे असम्भव या असत्य कहा जाये, पर हमारी सम्मति में इतने बड़े और आजीवन चलने वाले संग्राम ऐसी सामान्य घटनाओं पर आधारित नहीं होते। फिर अकबर जैसा इतिहास प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ साथ में भोजन न करने की घटना को लेकर लाखों फौज और करोड़ों की सम्पत्ति को युद्ध में झोंक दे और दस वर्ष तक अपनी शक्ति को सौ-पचास मील के पहाड़ी और जंगली भू-भाग के लिये नष्ट करता रहे, यह कोई समझदारी का प्रमाण नहीं है, इसलिये मेवाड़ पर उसकी चढ़ाई का मूल कारण यह धारणा ही थी कि राणाप्रताप की टेक और प्रतिज्ञा का प्रभाव समस्त राजपूत जाति पर पड़ रहा था और भी कितने ही राजा मुगलों के विरोधी बनने लग गये थे। इस बात की आशंका थी कि जिस प्रकार अकबर ने अनेक राजपूत राजाओं को प्रलोभन देकर अपना एक दल बना लिया है उसी प्रकार देशभक्ति और जातीयता की रक्षा के लिये प्रताप के निकट भी अन्य राजपूत नरेशों का एक गुट बन जायेगा, जिससे निबटना बाद में कठिन होगा। इसलिये उसने आरम्भ में ही राणा प्रताप को 'सुधार' कर अपने पक्ष में मिला लेने या मटियामेंट कर देने का निश्चय कर लिया।

हल्दीघाटी का युद्ध

राजा मानसिंह ने दिल्ली जाकर अकबर से प्रताप के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट सुनाई उसका स्वाभाविक परिणाम था मेवाड़ पर जोर-शोर से चढ़ाई की तैयारियाँ। यद्यपि

२.१८ मरकर भी अमर हो गये जो

भारतवर्ष के विस्तार को देखते हुए मेवाड़ का प्रदेश जरा-सा भू-भाग था, पर वहाँ के सिसौदिया वंश के शासकों ने विदेशी और विघर्मी आक्रमणकारियों से लोहा लेने और विजय प्राप्त करने की जो परम्परा कायम की थी, उससे हिन्दू संसार में उनका सम्मान बहुत किया जाता था, उनको 'हिन्दूपति' के नाम से पुकारा जाता था। इसी प्रकार चित्तौड़ का दुर्ग सबसे प्रमुख या शानदार नहीं था, पर उसने भी सैकड़ों वर्ष तक पठान और मुगलों का मुख्य लक्ष्य बने रहने के कारण देश भर में अपूर्व ख्याति प्राप्त कर ली थी। इसलिये मेवाड़ पर आक्रमण किसी छोटे-मोटे राज्य को जीतने का प्रश्न न था वरन् हिन्दू जातीयता के एक सुदृढ़ प्रतीक को नष्ट कर देना था। अकबर तथा अन्य सभी मुस्लिम शासक मन में तो यह भावना सदा ही रखते आये थे, पर हिन्दुओं को भी सन्तुष्ट रखने के ख्याल से उसे नम्र रूप में प्रकट नहीं करते थे। अब जब कि मानसिंह जैसे हिन्दू नरेश स्वयं ही कुल्हाड़ी के बेंट बनकर उसके लिये जोर दे रहे थे और राणा प्रताप पर चढ़ दौड़ने के लिये कटिबद्ध हो रहे थे, तो अकबर उसके लिये कैसे इन्कार कर सकता था।

इस सेना का प्रमुख सेनापति मानसिंह ही बनाया गया था। उसके साथ राजा जगन्नाथ और प्रताप के ही सगे भाई शक्तिसिंह थे जो पारस्परिक झगड़े के कारण अकबर के यहाँ चले आये थे। इसके सिवा और भी कई मुसलमान सरदार थे। मानसिंह चाहते थे कि प्रतापसिंह उनसे लड़ने मैदान में आये तो अपनी विशाल सेना से उनकी छोटी-सी सेना को पीस डालें, पर प्रताप भी ऐसे अनजान न थे। उन्होंने अपना मोर्चा हल्दीघाटी में जमाया जो उनकी सुरक्षा के लिये सर्वोत्तम स्थान था। इसकी दुर्गम स्थिति का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है—

“इस स्थान में जाने की राह भी बड़ी विचित्र है। संकीर्ण पतली-पतली पहाड़ी राहों के अतिरिक्त दूसरा मार्ग इनमें प्रवेश का नहीं है। यह हल्दीघाटी कुम्भलमेर के पास पड़ती है। अजमेर के प्रभृति स्थानों से आने वाली मुगल फौज इसी राह से पहाड़ी प्रदेश में घुस सकती है। इसलिये प्रतापसिंह ने वही स्थान मुगल फौज को रोकने के लिये उपयुक्त समझा और इसी स्थान पर वे अपनी फौज लेकर डटे थे। हल्दीघाटी के बगल में ही उनकी बाईस हजार सेना शत्रु की राह देख रही थी। इस पहाड़ी प्रदेश में मीना और भील ही अधिक संख्या में रहते थे। इनमें भील प्रमुख थे और वे राणा के पक्के भक्त थे। जिस समय प्रताप की सेना शत्रु का संहार करने के लिये हल्दीघाटी के निचले भाग में उपस्थित थी ये भीलगण अपने तीर-कमान लेकर पहाड़ियों के ऊपर डट गये। उनके पास बड़े-बड़े पत्थरों

का ढेर भी था। उन्होंने निश्चय कर रखा था कि वे शत्रु सेना का तीरों और पत्थरों द्वारा संहार कर डालेंगे।”

यह तो कहा जा चुका है कि मुगल सेना संख्या में प्रताप की सेना की अपेक्षा बहुत अधिक थी। कई इतिहासकारों ने उसकी संख्या दो लाख तक लिखी है। इस प्रकार वह मेवाड़ी वीरों की अपेक्षा आठ दस गुनी थी पर इसीलिये प्रताप ने युद्ध के लिये ऐसा स्थान चुना था जहाँ वह सेना मैदान के अभाव से चारों तरफ फैलकर छोटी सेना को घेर नहीं सकती थी। “अकबर नामे” के अनुसार यह युद्ध जून सन् १५७६ में खमनौर नामक स्थान में आरम्भ हुआ। प्रताप के सेनानायक बहुत समय तक शत्रु की राह देखते-देखते उकता गये थे। इसलिये वे एक बार तो मुगल सेना पर ऐसे टूटकर झपटे कि उसमें भगदड़ मच गई। राजपूतों की तलवार की मार को मुगल सैनिक सहन न कर सके। कुछ ही समय में हजारों मारे गये पर मानसिंह ने युद्धनीति के अनुसार कई कुन्डियों इधर-उधर छिपा रखी थीं। इसलिये नई सेना के आने से पुनः मुगलों में हिम्मत आ गई, लेकिन राजपूत गण इससे भयभीत न होकर शत्रुओं का संहार कर रहे थे। स्वयं प्रताप ने इस अवसर पर जो वीरता दिखाई उसका वर्णन करते हुए एक लेखक ने कहा है—

“प्रतापसिंह इस समय मानसिंह की तरह एक जगह बैठकर सैनिकों का युद्ध करना नहीं देख रहे थे, वे अपने घोड़े चेतक पर सवार होकर प्रबल वेग से युद्ध कर रहे थे। महाराणा का वीरभाव, उग्रमूर्ति और अतुलनीय साहस देखकर उनके सैनिक और भी उत्साहित हो रहे थे। वे सदा अपनी सेना के आगे ही दिखाई देते थे और जगह-जगह आक्रमण करके मुगल सेना के ब्यूह को भंग करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे विशेष रूप से मानसिंह को ढूँढ़ रहे थे। उसने उदय सागर के महल में भोजन सम्बन्धी विवाद में प्रताप से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। प्रताप आज रणक्षेत्र में उससे मिलकर उस इच्छा को पूर्ण करना चाहते थे पर मानसिंह उनके सामने आते कैसे? वे तो हजारों रक्षकों से घिरे ऊँचे हाथी पर बैठकर सेना के अन्तिम भाग से ही उनका संचालन कर रहे थे। पर आगे बढ़ते-बढ़ते वे प्रताप को दिखाई दे ही गये। इतने रक्षकों को मारकर मानसिंह के पास पहुँचना थोड़े से व्यक्तियों के लिये सम्भव न था, पर प्रताप तो एक बार उसका सामना करने का संकल्प कर चुके थे। इसलिये सबको काटते-छोटते मानसिंह के हाथी तक पहुँच ही गये।”

मानसिंह और प्रताप में कैसी निपटी इसका वर्णन तो हम आरम्भ में ही कर चुके थे। प्रताप भारतीय युद्धनीति

के अनुसार स्वयं युद्ध में भाग लेकर सैनिकों के सामने उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। यही कारण था कि उनके बीस हजार सैनिक शत्रु के दो लाख सैनिकों के लिये भी भारी पड़े और उसकी बहुत अधिक हानि हुई। उधर मानसिंह स्वयं लड़ने से दूर रहकर अन्य सरदारों को उधर से उधर जाने का आदेश दे रहा था। वह सैनिक चालों द्वारा सफलता प्राप्त कर लेना चाहता था, जबकि प्रताप प्राणों की बाजी लगा कर लड़ रहे थे। यही कारण हुआ कि जब लड़ते-लड़ते अधिकांश मेवाड़ी सेना कट गई तो अपनी बची सेना के कारण जीत मुगलों की हुई, पर उस युद्ध का वर्णन तब से आज तक इसी प्रकार किया गया कि प्रताप की सेना हार कर भी जीत गई और सच्ची बात भी यही थी कि जब प्रताप की सेना युद्ध क्षेत्र से पीछे हटी ही नहीं, लड़ते-लड़ते वहीं पर मर मिटी तो उसको हारना कैसे कहा जाये? ऐसे वीर लोग ही तो युद्ध और इतिहास ग्रन्थों में अमर पद पाते हैं, उन्हीं के कारनामे स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते हैं। अनुमान से प्रताप के तीन चौथाई सैनिक उस कुछ घण्टों के युद्ध में ही मारे गये और शेष भी बहुत घायल अवस्था में जैसे-तैसे सुरक्षित स्थानों पर पहुँच सके। उनकी सेना में शायद ऐसा सैनिक तो एक भी नहीं बचा था जो शत्रु पर वार करता हुआ घायल न हुआ हो पर मानसिंह ने अपनी सेना कई जगह छिपा रखी थी, इसलिये उनके दुगुने सैनिक मारें जाने पर भी उनको सहायता मिलती रही और उन्होंने अपनी जीत का समाचार बड़ी शान के साथ दिल्ली भेज दिया।

पर वास्तव में जीत किसकी हुई यह इतिहास के ग्रन्थों से पृच्छिये। उनका कहना है कि हल्दीघाटी जैसा युद्ध संसार में एक ही स्थान पर और हुआ था और वह था यूनान का “थर्मोपोली” का संग्राम। यह घटना ईसामसीह से भी कई सौ वर्ष पुरानी है जब एक छोटे से यूनानी राज्ज स्पार्टा के राजा ‘लियोनिडाज’ ने कुछ सौ सैनिक को लेकर फारस-सम्राट की एक विशाल सेना को ‘थर्मोपोली’ की घाटी में रोक दिया था और आत्म-बलिदान देकर एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया था जिसकी चर्चा आज तक संसार के इतिहास में की जाती है। यदि तीन-चार सौ व्यक्ति एक लाख सेना का दो-चार दिन भी सामना करते रहें और हजारों को मारकर आत्म-बलिदानियों की गति पा जायें और इतिहास में अमर बन जायें तो उनको ‘विजयी’ ही कहा जाता है। उनके विरोधी की चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, उपेक्षा की जाती है।

यही परिणाम हल्दीघाटी संग्राम का हुआ। कहने को मैदान बादशाही फौज के हाथ रहा, उसने उदयपुर की भूमि पर अधिकार कर लिया, पर इससे क्या मिला? आज तक

राजा मानसिंह को किसी लेखक ने प्रशंसा के साथ याद नहीं किया। उल्टा प्रताप जैसे देशभक्त को नष्ट करने का बीड़ा उठाने के कारण सब उनके नाम पर घृणा ही प्रकट करते हैं। दूसरी तरफ महाराणा प्रताप की मूर्तियाँ बना-बनाकर उनको देश और संस्कृति का महान् संरक्षक घोषित किया जाता है। यद्यपि मानसिंह ने धन, वैभव और राजकीय सम्मान इतना अधिक प्राप्त किया कि उसके फलस्वरूप जयपुर का राज्य परिवार अभी तक राजस्थान के राजाओं में सबसे अधिक वैभवशाली माना जाता रहा है। उधर महाराणा प्रताप को उन्हीं दिनों जंगली फल-फूलों और वहीं पाये जाने वाले बीजों की रोटी खानी पड़ती थी, पर स्वतन्त्रता देवी की आराधना का परिणाम ऐसा आश्चर्यजनक होता है कि महाराणा प्रताप उसी समय से क्षात्र धर्म के आदर्श और मातृभूमि के उद्धारकर्ता के रूप में पूजे जाने लगे, उनके वंशधर धन-वैभव की दृष्टि से सामान्य रहने पर भी राजपूतों के सिरमौर माने जाते रहे, पर जयपुर वाले अपनी शान-शौकत और राजधानी की अनोखी सुन्दरता के होते हुए भी कभी जनता की निगाह में गौरव और सम्मान के पात्र नहीं बन सके। वास्तव में चाहे राजा हो या प्रजा, चिरस्थायी कल्याण और जीवन के सार्थक होने का एकमात्र मार्ग स्वार्थ का त्याग और कर्तव्य पर आत्म-समर्पण ही होता है।

वनवास का जीवन

हल्दी घाटी की लड़ाई के पश्चात् राणा जी का २१ वर्ष का जीवन वन और पर्वतों में ही व्यतीत हुआ। उनकी सेना का एक बड़ा भाग और आर्थिक साधन हल्दीघाटी के युद्ध में समाप्त हो गये थे। बादशाही सेना सदैव उनके पीछे पड़ी ही रहती थी। ऐसी दशा में खुले मैदान में रहकर शत्रु का मुकाबला कर सकना कैसे सम्भव था? यदि वे जरा भी झुकने को तैयार होते और अकबर को मुँह से ही “भारत-सम्राट” स्वीकार कर लेते तो वे बहुत सम्मान के साथ अपने देश में सुख से निवास कर सकते थे, पर उन्होंने जब अकबर को मातृभूमि का घातक और धर्म पर प्रकट या अप्रकट प्रहार करने वाला समझा तो वे उसका विरोध कैसे छोड़ सकते थे? बस उन्होंने जंगलों में रहकर आधे पेट खाना या भूखा रह जाना स्वीकार किया, पर अकबर को विदेशी और विधर्मी मानकर, उसके सामने मस्तक झुकाने को तैयार न हुए। हल्दीघाटी के पश्चात् वे कैसे घोर जंगलों में जाकर जीवन-यापन करते थे, इस सम्बन्ध में एक खोज करने वाले अन्वेषक ने लिखा है—

“हल्दीघाटी से हटकर महाराणा अपनी बची हुई सेना और घायलों के साथ गोगुन्दा चले गये, जो घाटी से लगभग

२.२० मरकर भी अमर हो गये जो

२० मील दूर है। यहाँ से आगे बढ़कर वे गौहाणा के बीहड़ रास्ते से झाड़ोल होते हुए कोल्यारी नामक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये। यहाँ १५० घायलों की चिकित्सा की गई। कोल्यारी उस समय बहुत निरापद स्थान था। यह हल्दीघाटी से करीब साठ मील की दूरी पर दुर्गम पहाड़ी श्रेणियों के बीच में है। इसका एक तंग रास्ता गोगुन्दा की ओर से था, जिसमें बीहड़ जंगल तथा कठिन नदी-नाले आते थे। इन्हें पार करना सेना के लिये आसान नहीं था। दो रास्ते उदयपुर से भी आते थे पर वे ऐसे भयंकर थे कि कोई बड़ी सेना उस पर नहीं चल सकती थी। इन सबसे बढ़कर बात यह थी कि यह पूरा क्षेत्र शत-प्रतिशत आदिवासी ही था। वहाँ के भील राणा के पक्के सहायक थे और दूर की खबर राणा को बहुत शीघ्र पहुँचा देते थे, अतएव राणा ने कोल्यारी को ही निवास स्थान बनाया। उन्होंने अपनी सेना तो कोल्यारी ग्राम में रखी और स्वयं पहाड़ों के ऊपर बने सुरक्षित स्थान में आश्रय लिया, जहाँ आजकल कमलनाथ का स्थान है और मेला लगता है। वहाँ अब भी राणा के हाथियों के बाँधने के स्थायी-चिन्ह दिखाई देते हैं। यह स्थान करीब दो हजार फीट की ऊँचाई पर है।”

यद्यपि मुगल सेना का राजपूतों की अपेक्षा बहुत अधिक नुकसान हुआ तो भी मानसिंह आगे बढ़े और उन्होंने गोगुन्दा पर अधिकार कर लिया। पर वहाँ सरदार श्रीचन्द्र के नेतृत्व में अल्प संख्यक राजपूतों ने उसका मुकाबला किया और कई गुना मुगल सैनिकों को मारकर आत्म-बलिदान कर दिया। उनकी मान्यता थी कि अपनी मातृभूमि को पराधीन देखने की अपेक्षा लड़कर मर जाना कहीं अच्छा है।

मानसिंह चार महीने तक गोगुन्दा में ठहरे रहे और यह प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार प्रताप पकड़ा या मारा जाये पर उस समय राणा ऐसे स्थान पर थे, जहाँ जाने का साहस मुगल सिपाही कर नहीं सकते थे। अब राणा के पास बहुत थोड़ी सेना थी, इसलिये वे खुलकर लड़ने की बजाय इधर-उधर मिल जाने वाले बादशाही सेना के किसी दल पर आक्रमण करके उसका सफाया कर देते या बादशाह के पक्षपाती किसी छोटे राजा या सरदार को लूट लेते। वे दिल्ली से सूरत (गुजरात) आने-जाने वाले शाही खजाने तथा व्यापारियों को लूटकर भी अपने खजाने की कमी को पूरा करते रहते थे।

मुगल-राज्य में मानसिंह का बड़ा आदर था। उन्होंने अनेक प्रान्तों को दिल्ली के अधीन करके बड़ा नाम कमाया था। वे जहाँ कहीं गये, वहाँ से सफल होकर ही लौटे।

किंवदन्ती तो यहाँ तक है कि उन्होंने लंका पर चढ़ाई करके उसे भी जीतने का विचार किया था। इस पर एक चारण ने उनको एक पद्य सुनाया जिसका आशय था कि “श्री रामचन्द्रजी ने विभीषण को ब्राह्मण समझ कर लंका नगरी दान के रूप में दे दी थी, तो फिर तुम उसी सूर्यवंश के वंशज होते हुए दिये गये दान को वापस लेने का विचार कैसे कर सकते हो?” पर जब मानसिंह, राणा को पकड़ने में असफल हो गये तो अकबर उनसे बहुत नाराज हो गया और उसने उनको दरबार में बुलाना बन्द कर दिया।

अकबर का मेवाड़ पर सैनिक अभियान

अब अकबर ने स्वयं ही राणा पर आक्रमण करने का निश्चय किया, जिससे उनकी हार में किसी प्रकार का सन्देह न रहे, वह एक बहुत बड़ी सेना लेकर अजमेर पहुँच गया। राणा प्रताप जैसे साधनहीन शासक के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान देखकर लोग चकित रह गये। वे कहने लगे कि ‘जिस प्रताप के पास न तो थोड़े से सैनिक हैं, न खाने के लिये अन्न है, न निवास करने के लिये सामान्य स्थान है, वह बादशाह अकबर के इस विशाल दल-बल का सामना क्या करेगा?’ पर अकबर और प्रताप दोनों एक-दूसरे को पहचान गये थे। अकबर को निश्चय हो गया था कि राणा अपनी आन और प्रतिज्ञा का पक्का है, वह सहज में कभी वशीभूत नहीं हो सकता। उधर राणा स्वयं अकबर को आया देखकर समझने लगे कि वास्तव में उनकी प्रतिज्ञा का भी कुछ महत्त्व है, वह साधारण बात नहीं है। इससे उत्साहित होकर वे फिर से अपनी सेना का संगठन करने लगे और आस-पास के शासकों में से अपने सहायक ढूँढने लगे। उन्होंने भी अकबर की चालों का जबाब कूटनीति से देने का निश्चय किया और ईडर, सिरौही, जोधपुर के शासकों को अकबर के विरुद्ध भड़का दिया। ढूँडी का राजकुमार दुर्जनपाल अपने पिता को छोड़कर प्रताप का सहयोगी बन गया। इस प्रकार जब अकबर को प्रताप के सिवाय कई तरफ और भी विद्रोह दिखाई पड़ने लगे तो उसकी शक्ति बँट गई। उसे अपने कई सरदार फौज के साथ ईडर, सिरौही आदि भेजने पड़े और स्वयं गोगुन्दा की तरफ चला, जिस पर मानसिंह के हट जाने पर राणा ने फिर अधिकार जमा लिया था। वहाँ पर राणा के पास दो हजार से अधिक सेना न थी, पर उसने ऐसा विकट संग्राम किया कि दस हजार मुगल कुछ ही घण्टों में मारे गये। अन्त में राणा को वहाँ से भी हटना पड़ा, पर वीरता की कद्र करने वालों ने उनकी इस हार को भी विजय ही माना और वास्तव में वे मानसिक दृष्टि से अकबर से कब हारे थे? वह तो सेना की कमी से उनको अवसर के अनुसार

इधर से उधर हट जाना पड़ता था पर शीघ्र ही अनुकूल अवसर हाथ आने पर वे फिर बादशाह की सेना और सामग्री पर आक्रमण करके उसे तंग करने लगते थे। अकबर ने बांसवाड़ा, डूंगरपुर, मोही आदि सभी रजवाड़ों को, जो प्रताप के सहायक थे, आक्रमण करके अपने अधीन कर लिया और अपनी सेना को समस्त मेवाड़ में मकड़ी के जाले की तरह फैला दिया। उसे आशा थी कि इस प्रकार चारों तरफ से घिरकर और साधनों से वंचित होने पर राणा उसकी शरण आ जायेगा। पर उसकी यह आशा कहाँ तक सफल हुई, इस सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा गया है—

“राणा प्रताप न तो अकबर की शरण में आये और न कहीं छिपकर बैठे रहे। हाँ, अपने परिवार की रक्षा के लिये अनेक बार गरीब भीलों की झोंपड़ियों में रातें व्यतीत करनी पड़ीं। जंगल की झाड़ियों में विश्राम करना पड़ा, अरावली पर्वत की गुफाओं में भूखे-प्यासे रह कर समय बिताना पड़ा। पर फिर भी जब मौका लगता मुगल सेना की मेवाड़ भर में बिखरी टुकड़ियों में से किसी पर अचानक हमला कर देते थे। इनके पास न सेना थी, न किला था और न धन था। केवल इने-गिने साथी रह गये थे। उन्हीं की सहायता से वह मुगल सेना की नाक में दम किये हुए थे। दिल्ली से सूरत जाने का मार्ग भी सुरक्षित नहीं था। राजा भगवानदास और मानसिंह से लेकर मुगल सेना के बड़े-बड़े सरदारों ने मेवाड़ का कोना-कोना छान डाला, लेकिन वे राणा प्रताप को न पा सके।”

“मेवाड़ से अकबर के चले जाने पर राणा ने फिर जोर पकड़ा। उन्होंने मुगलों द्वारा अधिकृत किलों पर फिर कब्जा करना प्रारम्भ किया। किलों में पड़ी हुई मुगल सेना को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। उसका रसदपानी बन्द हो गया। जब तक मानसिंह की राजपूत सेना रही तब तक मुगल किसी तरह बचे रहे। उसके अन्यत्र जाते ही मेवाड़ी वीरों ने आक्रमण कर दिया। मोही का मुगल सरदार मारा गया। गोगुन्दा तथा उदयपुर में तैनात सैनिक भी मारे जाने लगे। जब यह समाचार अकबर ने सुना तो वह बड़े तैश में आया और फिर एक बड़ी सेना शाहबाज खाँ के नेतृत्व में भेजी। राजा भगवान दास, मान सिंह, सैय्यद कासिम, सैय्यद हाशिम, मुहम्मद प्यादा खाँ, गाजी खाँ आदि अनेक शक्तिशाली सरदार भी साथ में भेजे। जब यह फौज मेवाड़ पहुँची तो राणा फिर जंगलों में चले गये।”

राणा का सबसे मुख्य आश्रय स्थल था अरावली पर्वत का दुर्गम क्षेत्र, जो कई सौ मील तक फैला है। इसके बीच-बीच में राजपूतों ने छोटे-छोटे दुर्ग बना रखे थे। राणा प्रताप इन्हीं में से किसी में चले जाते थे। शाहबाज

खाँ ने भी तैयारी करके उसी क्षेत्र में प्रवेश किया। उस समय राणा कुम्भलगढ़ के किले में थे जो बहुत सुरक्षित माना जाता था। इसका रास्ता ऐसा चक्करदार है कि वह जल्दी समझ में नहीं आता। शाहबाज खाँ ने इस पर आक्रमण किया और बहुत सी सेना कटवाकर अधिकार कर लिया, पर राणा गुप्त रूप से कमलमीर चले गये। शाहबाज खाँ वहाँ भी पहुँचा, पर वहाँ की बीहड़ और ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ना और भी कठिन था। आस-पास के किसी देश-द्रोही सरदार ने लालचवश शाहबाज खाँ को सलाह दी कि कमलमीर में पानी की बहुत कमी है। कुछ पहाड़ी स्रोतों के पानी से ही वहाँ का काम चलता है। अगर उन स्रोतों में जहर डलवा दिया जाये तो राणा बेबस हो जायेगा। यह उपाय पसन्द आया और जल-स्रोतों में जहर डलवा दिया गया। इससे अनेक राजपूत मर गये। तब राणा उस स्थान को छोड़ कर बांसवाड़ा चले गये।

शाहबाज खाँ शीघ्र ही बांसवाड़ा भी पहुँच गया तो राणा सूर्य महल के किले में जा पहुँचे। वहाँ आक्रमण होने पर वे भीषमगढ़ चले गये। पर शाहबाज खाँ तो राणा को पकड़ने की प्रतिज्ञा करके आया था, अतएव सब तरह की कठिनाइयाँ सहकर वह भी भीषमगढ़ जा पहुँचा और उसे घेर लिया। उस समय किले में केवल पाँच सौ राजपूत थे और मुगलों की संख्या कई हजार थी। अब राणा प्रताप के परिवार की रक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल हो गया। भीषमगढ़ के सरदार तेज सिंह ने अपने पुत्र चन्दन सिंह से कहा—“बेटा, इस समय राणा की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। वे ही जाति और देश के लिये संघर्ष कर रहे हैं। इसलिये तुम आज रात्रि भर अपने साथियों को लेकर मुगलों का सामना करते रहो तो मैं राणा और उनके परिवार को गुप्त रास्ते से कहीं दूसरे स्थान में पहुँचा दूँ।”

चौदह वर्ष के चन्दन सिंह ने उस रात मुगलों को उस किले में न घुसने देने की प्रतिज्ञा की। मुगल सेना किले की दीवार तोड़कर भीतर पहुँचने की कोशिश करती रही, पर चन्दन सिंह ने बार-बार उसे पीछे हटा दिया। प्रातःकाल होने पर चन्दन सिंह ने देखा कि किले के चारों तरफ मुगल सेना फैली हुई है। वह अपने साथियों को लेकर उस पर टूट पड़ा, बहुत थोड़ी संख्या में होने के कारण उसकी विजय हो सकनी तो असम्भव थी पर हजारों शत्रुओं को मारकर उसने अपने प्राण दिये। भीषमगढ़ पर शाहबाज खाँ का अधिकार हो गया, पर वह राणा को न पा सका। उस समय राणा चौधपुर नामक स्थान पर बैठे थे। वह उस जगह भी पहुँचा तो राणा घोर जंगल में चले गये। वह जंगलों में भी उनके पीछे फिरता रहा, पर भीलों की

२.२२ मरकर भी अमर हो गये जो

सहायता से तुरन्त इधर से उधर निकल जाने वाले राणा का पता लग सकना वहाँ किसी प्रकार सम्भव न था ।

बन्ध-जीवन के कष्ट

अन्त में राणा के पीछे फिरते-फिरते शाहबाज खाँ परेशान हो गया और इस बीहड़ जंगली प्रदेश से पीछा छुड़ाने का विचार करने लगा । इस बीच में यद्यपि उसने अपनी मुत्तैदी से पचास किलों पर बादशाही झण्डा फहरा दिया था । इनमें कुम्भलगढ़ जैसा किला भी था जो इसके पहले कभी किसी शत्रु के कब्जे में नहीं आ सका था । यही तब तक राणाप्रताप का मुख्य आश्रय स्थान था । अब महाराणा के पास कोई भी किला न था, इसलिये उनको जंगली स्थानों में या पहाड़ों की गुफाओं में समय व्यतीत करना पड़ रहा था । वहाँ उनकी कैसी परिस्थिति थी इस सम्बन्ध में कहा गया है—

“जंगल में राणा और उनके बच्चों को कन्द-मूल के सिवाय कुछ नहीं था । वृक्षों के पत्ते शाक का काम देते थे । बाजरे की मोटी रोटी भी कभी नहीं मिल पाती थी । कितने ही दिन बिना खाये ही रह जाना पड़ता । भोजन बनाने का मौका ही नहीं लगता । कई बार बनाया हुआ भोजन छोड़ना पड़ा, क्योंकि शत्रु के आने का हर दम भय बना रहता था । सुख की नींद सोये बरसों यों ही बीत गये । घास-फूस ही गड़े का काम देते । महारानी भी इन सब कष्टों को धैर्यपूर्वक सहन कर रही थीं । भोजन बनाना, पानी भरना तथा गृहस्थी सम्बन्धी सभी काम उनको अपने हाथों से करने पड़ते थे । चलते-चलते पैरों में छाले पड़ जाते, काँटे गड़ जाते । जंगलों में राणा के सहायक भील ही थे । वे राणा को देवता मानकर उन पर प्राण निछावर करने को तैयार रहते थे । एक बार कई सौ मुगलों ने राणा पर आक्रमण कर दिया । उस समय वे बच्चों के साथ एक जगह बैठे थे । उनके पास दस-पाँच भीलों के अतिरिक्त और कोई न था । अपनी रक्षा की तो उनको कोई चिन्ता न थी पर बच्चों की समस्या ने उनको व्याकुल कर दिया । उस समय भील बच्चों को जंगल के भीतर ले गये और टोकरियों में रखकर पेड़ों की डालों में टाँग दिया । कुछ लोगों को वहाँ देख-भाल के लिये छोड़कर अन्य लोग राणा के पास आ गये उस समय राणा अकेले ही युद्ध कर रहे थे, बहुत से सैनिकों के मारे जाने पर मुगल दल भाग गया । महाराणा ने बच्चों का समाचार पूछा तो भीलों ने बताया कि महारानी और कुमार सकुशल हैं आप उनकी चिन्ता न करें । कहते हैं कि सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी अभी तक उन पेड़ों में लोहे के कड़े और कीलें गढ़ी दिखाई पड़ती हैं ।”

इसमें सन्देह नहीं कि त्याग और बलिदान ही ऐसे गुण हैं जिनके आधार पर किसी व्यक्ति को महानता और स्थायी मान्यता प्राप्त हो सकती है । प्राचीन काल में भी जिन लोगों ने धन-वैभव के बल पर कीर्ति और मान्यता प्राप्त करनी चाही उनकी नामवरी उनके जीवन काल तक ही सीमित रही । जब तक वे अपना ठाठ-बाट दिखाते रहे और खुशामद करने वालों को रुपया पैसा देते रहे तभी तक बहुत से लोग “धर्म मूरत” और “अन्नदाता” कहकर उनको ऊँचा चढ़ाते रहे, पर जैसे ही उनका निधन हुआ या किसी कारणवश उनकी सम्पत्ति का अन्त हो गया तो लोगों ने भी उसी समय आँखें फेर लीं पर प्रताप जैसे महामानवों का यश, धन और वैभव से जरा भी सम्बन्ध नहीं, वे तो भूखों रहकर अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे, इसलिये इतना समय बीत जाने तथा उस समय के बहुसंख्य बड़े कहलाने वालों का नाम निशान मिट जाने पर भी, प्रताप की कीर्ति और उनका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता है । हमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि हमारा यश तभी टिकाऊ हो सकता है जब हम समाज के कल्याण को दृष्टिगोचर रखकर कुछ त्याग और बलिदान करेंगे ।

शाहबाज खाँ के चले जाने के बाद राणा कुछ समय तक स्वतन्त्रतापूर्वक रह सके और उन्होंने कुछ सैन्य-संग्रह भी किया । इसकी खबर पाकर अकबर ने उनको दबाने के लिये फरीद खाँ को सेनापति बना कर भेजा । यह भी बड़ा योग्य सेनापति था । इसकी सेना को देखकर प्रताप ने फिर पहाड़ी प्रदेश का आश्रय लिया । अब वे छप्पन नाम के प्रदेश में पहुँच गये जहाँ केवल भील रहते थे और जहाँ पहुँचना बाहरी सेना के लिये बड़ा कठिन था । पर फरीद खाँ पता लगाता-लगाता वहाँ भी जा पहुँचा । अब प्रताप के लिये कोई भी स्थान शेष न बचा था और इसलिये उनके कष्ट बहुत बढ़ गये थे । तो भी उन्होंने हार मानने अथवा अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने का कभी ख्याल नहीं किया । इसके विपरीत वे छापामार युद्ध से शत्रुओं का नाश करने लगे । वे अकस्मात् किसी पहाड़ी की चोटी पर दिखाई देते और यह समाचार पाकर मुगल सेना उस तरफ बढ़ती । पर थोड़ी दूर पहुँचते ही भील अपने तीरों से सैकड़ों वीरों को मार डालते अथवा पत्थर लुढ़का कर दो-चार सौ को यमलोक भेज देते । राणा स्वयं भी अकस्मात् मुगलों पर आक्रमण करके और सौ-पचास को मारकर गायब हो जाते थे । मुगल सेनापति तो समझते कि अब प्रताप हार कर कहीं बाहर चले गये और इसलिये वे आनन्द मनाने लगते और बादशाह के पास भी अपनी जीत का सन्देश भेज देते । पर दो-चार दिन बाद ही

उनको पुनः राजपूत सेना का सिंहनाद सुनाई पड़ता और मुगल सैनिकों के रक्त से मेवाड़ की भूमि रंग जाती। एक बार तो राणा ने एक बड़ी सेना को ऐसी युक्ति से घेरा कि एक भी सैनिक बचकर न जा सका कि फरीद खाँ को समाचार तो दे सके।

पृथ्वीराज का पत्र और महाराणा की दृढ़ता

वर्षा ऋतु में जब नदी-नालों के भर जाने से अधिकांश मार्ग बन्द हो जाते थे तो मुगल सेना का अधिकांश भाग दिल्ली वापस चला जाता था। पर जब बसन्त में मौसम बदल जाता तो फिर नई सेना आ जाती। इस प्रकार कई वर्ष तक राणा मुगल सेना के छोटे-बड़े आक्रमणों का मुकाबला अपने साहस और सहिष्णुता के बल पर ही करते रहे। उनके साधन नाम मात्र को रह गये थे, पर उन्होंने न तो कभी अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ा और न मुगल सेना को चैन से रहने दिया। कहा जाता है कि एक बार उनकी छोटी कन्या के हाथ से एक जंगली बिल्ली आधी रोटी लेकर भाग गई, जिस पर वह बहुत रोने लगी। राणा का हृदय राजवंशीय बच्चों की ऐसी दीन-दशा देखकर व्यथित हो गया और उन्होंने उसी मानसिक स्थिति में अकबर के पास सन्धि का प्रस्ताव लिखकर भेज दिया। अकबर तो उसे पाकर फूला नहीं समाया, पर एक राजपूत सरदार पृथ्वीराज ने उस पत्र की सत्यता पर सन्देह किया और उसकी जाँच करने की इच्छा प्रकट की। अकबर के स्वीकार करने पर उसने एक पद्यबद्ध पत्र राणा को भेजा जिसके दो पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सुजल ।
मेवाड़ो तिन माह, रहियो राणप्रताप सी ॥
हिन्दू पति परताप, पत राखो हिन्द आणरी ।
सहो विपत सन्ताप, सत्य सपथ कर आपणी ॥

अर्थात्—“अकबर एक ऐसे समुद्र के समान है जिसमें राजपूतों ने अपने शौर्य-वीर्य को डुबो दिया है। केवल मेवाड़ के राणा ही उसमें कमल पत्रवत् बच सके हैं। हे हिन्दूपति ! महाराणा प्रताप—अब आप ही हिन्दुओं के सम्मान की रक्षा करने वाले हैं, हमको पूरा विश्वास है कि आप सब प्रकार की विपत्तियों को सहकर भी अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करेंगे।”

कुछ लोग इस घटना को भ्रमपूर्ण मानते हैं और कहते हैं कि प्रताप ने अकबर को किसी तरह का पत्र कभी नहीं लिखा, वे तो उसकी तथा मानसिंह की बातों का उत्तर तलवार से ही दे रहे थे। वास्तव में यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जहाँ अकबर बड़े-बड़े राज्यों और सुबों को देखते-देखते अपने आधीन कर रहा था और

राजपूताने के अनेक राजा उसके कृपा कटाक्ष के अभिलाषी बन रहे थे, अकेले प्रतापसिंह उसके मुकाबले पर डटे रहे और अन्त में उसी को पीछे हटने के लिये विवश कर दिया। इसी आधार पर प्रताप को वह गौरवशील और चिरस्थायी पद प्राप्त हुआ है जो आठ सौ वर्ष के मुस्लिम शासन में महाराज शिवाजी को छोड़कर किसी अन्य को नहीं मिला। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ प्रताप ने महान् कष्ट सहकर यह कीर्ति अर्जित की और बाह्य दृष्टि से वे अन्तिम समय तक भी असफल ही बने रहे, वहाँ शिवाजी ने अकबर की अपेक्षा कट्टर शत्रु औरंगजेब को नाकों चने चबवा दिये और उसके सामने ही एक नया शक्तिशाली राज्य स्थापित करके दिखा दिया। पर इसमें तत्कालीन वातावरण का भी बहुत बड़ा हाथ था। अकबर के समय तक हिन्दुओं में जागृति बहत कम आ पाई थी और वह सद्भावना द्वारा बहुसंख्यक हिन्दुओं को अपना साथी बनाकर अपनी शक्ति को बढ़ाता जा रहा था। इसके विपरीत औरंगजेब ने अपनी कट्टरता और धार्मिक पक्षपात को नग्न रूप से प्रकट करके केवल मराठों को ही नहीं वरन् सिख और दुर्गादास जैसे राजपूत नेताओं को भी अपना शत्रु बना लिया था। इस प्रकार जब देश भर के हिन्दू उसकी दुर्नीति से असन्तुष्ट होकर विरोधी बन गये तो उसकी शक्ति का घट जाना और शिवाजी का उसके मुकाबले में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर लेना कोई कठिन बात न थी।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो औरंगजेब के इस प्रकार के पतन में महाराणा प्रताप का कष्ट सहन भी बहुत काम कर रहा था। उन्होंने स्वाधीनता तथा देशभक्ति का जो आदर्श उपस्थित किया वह अप्रत्यक्ष रूप से अन्य हिन्दू शासकों तथा जनता को प्रभावित करता रहा और जब मुगल बादशाहों की नीति में परिवर्तन हुआ तो उनके प्रति भारतीय नेताओं और जनता का रोष प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो गया। राणा प्रताप ने राजा होते हुए भी देश के लिये एक त्यागी और तपस्वी का जीवन बिताया और दिल्ली की बादशाहत के सुख-सम्पत्ति के भारी प्रलोभनों को ठुकरा दिया। यह कोई साधारण बात न थी। ऐसा त्याग कभी व्यर्थ नहीं जा सकता। जनमानस पर उसका प्रभाव स्वयमेव पड़ता है और वह अज्ञात रूप में लाखों व्यक्तियों को अपना अनुयायी बना लेता है। वर्तमान युग में महात्मा गाँधी का व्यक्तिगत प्रभाव हम अपनी आँखों से देख चुके हैं। जब उन्होंने देशोद्धार के लिये सब प्रकार के कष्टों और प्राणों का भी भय बिल्कुल त्याग दिया और ब्रिटिश साम्राज्य की तोपों के सामने सीना खोलकर खड़े हो गये तो जनता पर उनका ऐसा जादू चला कि सारा देश एक साथ उनका अनुयायी बन गया। जिन

२.२४ मरकर भी अमर हो गये जो

लोगों से किसी प्रकार के त्याग की आशा न थी वे भी अपना घर-बार और स्वार्थ त्यागकर हैंसते हुए जेल चले गये । सामान्य लोगों ने अंग्रेजी रायफलों की गोलियाँ खाकर प्राण देने में जरा भी भय नहीं किया । यह एक असाधारण दृश्य था जिसकी कल्पना पर पहले कोई विश्वास नहीं करता था । उसी युग में क्रान्तिदल के वीरों ने भी अपूर्व साहस और आत्म-त्याग दिखलाया था, पर तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उसका प्रभाव सामान्य जनता तक पहुँचने में अधिक समय लग गया ।

यही बात राणा प्रताप के सम्बन्ध में हुई । आरम्भ में तो लोगों को वे अपने राज्य के लिये संघर्ष करने वाले एक शासक मात्र ही जान पड़े, पर जैसे-जैसे वे अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये कष्ट-सहन करते गये और प्राणों का मोह पूरी तरह त्याग दिया तो लोग उनको एक महान देशसेवक के रूप में देखने लगे । क्योंकि राज्य और शासन का उद्देश्य तो सुख सम्पत्ति की प्राप्ति ही होता है । पर जब उसको सामने देखकर भी मनुष्य सिद्धान्त के पालन को प्रमुखता देता है और निःस्वार्थ भाव से प्राणों को होमने के लिये तैयार रहता है, वह भी एक दिन नहीं, जीवन के अन्तिम क्षण तक तो उसे एक महामानव या महापुरुष मान लिया जाता है । महापुरुषों का चरित्र सदैव अनुकरणीय होता है, वे जन साधारण के लिये प्रकाश-स्तम्भ का काम देते हैं । यह राणा प्रताप की महान तपस्या का ही परिणाम था कि उनके पास धन-सम्पत्ति का सर्वथा अभाव होने पर, इतना ही नहीं भोजन और वस्त्र का ठिकाना न रहने पर भी, उनको लगातार राजपूत और भील सहायक मिलते रहे, जो उन्हीं की तरह कष्ट सहकर बिना वेतन के सैनिक और कार्यकर्त्ताओं का कर्त्तव्य पूरा करते रहे । स्वामी-सेवक अथवा नेता और अनुयायी का इस प्रकार का निःस्वार्थ आत्मत्याग एक ऐसा स्वर्गीय दृश्य होता है, जो कभी-कभी ही संसार में दिखाई देता है ।

शाहबाज खॉँ और फरीद खॉँ के आक्रमणों से सुरक्षा को खतरा देखकर राणा चावण्ड के पहाड़ों में चले गये । यह स्थान उदयपुर से तीस-पैंतीस मील है पर इसका मार्ग ऐसा भयंकर है कि पैदल मनुष्य भी उसे कठिनाई से पार कर सकता है । उन दिनों केबड़े की नाल नामक स्थान को पारकर कर सकना सबसे मुश्किल था । राणा ने उसी स्थान पर शत्रु सेना को रोकने के लिये मोर्चबन्दी की थी, जिसके चिन्ह अभी तक मौजूद हैं । अन्तिम दो वर्षों में जगन्नाथ कुछुआ बादशाही फौज के साथ उनका पीछा करता रहा । उस समय से राणा ने अपना स्थायी निवास चावण्ड में ही बना लिया और जीवन के अन्त तक वहीं रहे, बादशाही सेना का कोई सेनापति वहाँ नहीं पहुँच सका, क्योंकि उस

तंग और चारों तरफ पहाड़ों से रुके रास्ते में पैर रखना जानबूझ कर मृत्यु को बुलाना था । वह एक ऐसा प्राकृतिक दुर्ग था जिसकी रक्षा बड़ी-बड़ी गिरिमालायें करती थीं । जब बादशाही सेनायें निराश होकर चली गईं और अकबर भी अन्य प्रदेशों की तरफ युद्ध में फँस गया तो राणा ने वहीं अपने निवास के लिये एक सामान्य भवन बनवाया और “चावण्ड माता” का एक मन्दिर भी निर्माण कराया । इतिहासकारों का कथन है कि अपने जीवन के अन्तिम ग्यारह वर्ष उन्होंने इसी स्थान पर शान्तिपूर्वक बिताये । उस समय सल्तनत के अन्य भागों में अशान्ति बढ़ जाने से अकबर का ध्यान मेवाड़ की तरफ से हट गया था । दूसरी बात यह भी कही जाती है कि महाराणा प्रताप की अप्रतिम देशभक्ति का प्रभाव अकबर के अनेक दरबारियों पर भी पड़ा था और उनके आग्रह पर मेवाड़ को अकेला छोड़ देने की नीति अपनाई गई थी । केवल चित्तौड़, मांडलगढ़ आदि दो-तीन किलों पर ही उसने अपना अधिकार जमाये रखा ।

भामाशाह की देशभक्ति

महाराणा प्रताप के चरित्र में भामाशाह का नाम भी स्वर्णाक्षरों में लिखा है और उसने वास्तव में एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जिसकी तुलना भारतीय इतिहास में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती । जब महाराणा प्रताप अपने को सर्वथा असहाय समझकर और अपने शत्रु का दबाव चारों तरफ से बढ़ता देखकर मेवाड़ को त्यागने का विचार कर चुके थे और उसकी सीमा पर पहुँच चुके थे तो यह समाचार भामाशाह ने सुना । वह जाति का वैश्य था तथा राज्य कार्य तथा व्यापार आदि के द्वारा उसके पूर्वजों ने पर्याप्त सम्पत्ति इकट्ठी कर रखी थी । राणा के कष्ट सहन तथा मेवाड़ की दुर्दशा का जब उसको ध्यान आया तो उसने निश्चय किया कि अपनी सम्पत्ति इस कार्य के लिये अर्पित कर दी जाये, अन्यथा देश के पराधीन हो जाने पर उसका क्या महत्त्व रहेगा ? इसलिये राणा के देश त्याग का समाचार सुनकर वह उनके पास पहुँचा और उनसे कहा कि वे उसकी सम्पत्ति के द्वारा पुनः सैनिक तैयारी करके शत्रु का सामना करें यदि सफलता मिल जाये तो ठीक अन्यथा जहाँ ‘स्वामी’ वहीं ‘सेवक भी चलेगा । पराधीन मेवाड़ में रहने से क्या सुख और शान्ति मिल सकेगी ।’ कहा जाता है कि भामाशाह के भण्डार में उस समय इतना धन था कि पच्चीस हजार सेना का खर्च बारह वर्ष तक चलाया जा सकता था । भामाशाह की प्रशंसा करते हुए एक लेखक ने सत्य कहा है—

“जिस तरह मेवाड़ की अन्य घटनायें अपूर्व हैं उसी तरह भामाशाह की यह स्वामिभक्ति भी अभूतपूर्व तथा

अतुलनीय है। उनके स्वार्थ त्याग ने उनका नाम अजर-अमर कर दिया। कर्तव्य का दायित्व बड़ा कठिन होता है। इस तरह जब देश के सभी प्राणी उसके लिये स्वार्थ त्याग करने को प्रस्तुत हो जाते हैं और अपनी सम्पत्ति धन-बल, जन-बल, सर्वस्व को देशसेवा के लिये अर्पण कर देते हैं तो वह देश परतन्त्र नहीं रह सकता।”

वास्तव में भामाशाह का उदाहरण अद्वितीय है। उस जमाने में जबकि भारतवर्ष अनेक टुकड़ों में बँटा था और लोगों के सामने राष्ट्रीयता का कोई स्पष्ट रूप नहीं था, भामाशाह जैसे पहाड़ और जंगलों से घिरे क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति के हृदय में, देश-प्रेम की ऐसी उदात्त भावना का उत्पन्न होना, एक बहुत ही दुर्लभ बात थी। उस समय तो बहुसंख्यक व्यक्ति मुसलमान बादशाहों को ही देश का वास्तविक हितचिन्तक मानने लगे। हजारों ऊँची श्रेणी के हिन्दू उनका साथ दे रहे थे, स्वयं राजपूत राजा अकबर के सम्बन्धी बन गये थे, ऐसी दशा में महाराणा प्रताप की हारी हुई बाजी पर अपना सर्वस्व झोंक देना असाधारण देशभक्ति और स्वतन्त्रता प्रेम की परिचायक था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भामाशाह का उदाहरण अभी सैकड़ों वर्ष तक लोगों को श्रेष्ठ कार्यों के लिये स्वार्थ त्याग की प्रेरणा देता रहेगा।

मुगल सेना की पराजय

भामाशाह से आर्थिक सहायता प्राप्त होने पर राणा ने अपनी सेना के पुनर्संगठन का कार्य आरम्भ किया, मेवाड़ के राजपूत तो स्वयं ही अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिये व्याकुल थे, पर मुगलों के लगातार आक्रमण से राणा जी के विवश हो जाने पर वे निराश होकर बैठ गये थे। अब नये साधनों की प्राप्ति से उत्साह की एक नवीन लहर फैल गई। थोड़े समय में एक बड़ी सेना शस्त्रास्त्र सहित खड़ी हो गई। पर एक जबर्दस्त शत्रु का सामना करना है यह सोचकर यह कार्य बहुत सावधानी और गुप्त रूप से किया जा रहा था। सैनिक अभियान में अकस्मात् आक्रमण का भी बड़ा महत्त्व होता है। इस समय भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति बन गई थी। इधर तो शाहबाज खाँ मेवाड़ के एक सुदृढ़ दुर्ग में बैठा विचार कर रहा था कि सम्भवतः महाराणा मेरे आतंक से मेवाड़ को त्यागकर कहीं चले गये इसी से उनका कोई समाचार नहीं आ रहा है। अगर ऐसी ही हालत रही तो मैं शीघ्र ही समस्त मेवाड़ को मुगल-सत्तन्त्र के झण्डे के नीचे लाकर बादशाह के सामने अपनी वीरता का प्रमाण उपस्थित कर सकूँगा। उधर राणा जी बहुत धीरे-धीरे और कौशल के साथ उनके शिविर की तरफ बढ़ रहे थे कि उसे उनकी भनक भी सुनाई न पड़े।

जब राजपूती सेना किले के निकट पहुँच चुकी तो उसने मुगलों पर अकस्मात् इतने प्रबल वेग से आक्रमण किया कि उनके होश-हवास गुम हो गये। शाहबाज खाँ वीर सेनापति था, पर उसके सिपाही ऐसे घबरा गये कि उन्हें भागने के सिवा और कुछ न सूझा। तो भी वे भागकर कहाँ जाते। मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश में ऐसी सीधी सड़कें तो बनी नहीं थीं कि वे सीधे अपने किसी अन्य सैनिक-शिविर में चले जाते। वे इधर-उधर से निकलने का प्रयत्न करने लगे, पर चारों तरफ से राजपूत सेना ने घेर रखा था। परिणाम यह हुआ कि शायद ही कोई बच सका। एक प्रकार से महाराणा ने आज हल्दीघाटी के युद्ध का बदला पूरी तरह चुका लिया। इसके बाद तो राजपूत सेना दुगुने उत्साह से बढ़ने लगी और उसने एक के बाद एक बत्तीस किलों में से मुगलों को भगाकर अपना अधिकार जमा लिया।

“इस बार सचमुच ही गिरि-निर्झरिणी की भाँति राजपूत सेना ऐसे प्रबल वेग से अग्रसर हुई कि मुगलों की फौज किसी भी तरह सम्भल न सकी। वह सम्भलने का उद्योग कर ही रही थी कि राणा प्रतापसिंह ने एकाएक कुम्भलमेर पर आक्रमण कर दिया। वहाँ की रक्षा का भार सिपहसालार अब्दुल्ला पर था। राजपूत सेना प्रबल धारा की भाँति अग्रसर होती हुई किले वालों पर टूट पड़ी। उनकी तलवारों के आघात से शत्रु के दल नष्ट होने लगे। सफलता मनुष्य के साहस को बराबर आगे बढ़ाती जाती है। इस बार प्रताप की सेना को जिस तरह लगातार सफलता प्राप्त होती जाती, उससे उसका साहस और बल भी खूब बढ़ता जाता था। इसी कारण जिस समय सिपहसालार अब्दुल्ला इनका मुकाबला करने को तैयार हुआ उस समय राजपूतों की प्रतिहिंसा ऐसी जाग्रत हो गई थी कि वे मुगल सैनिकों को देखते ही मार-मार कहकर इस तरह उन पर टूट पड़ते कि मुगलों का बचना कठिन हो जाता था। एक बार प्रताप ने जिस प्रकार मेवाड़ को उजाड़ कर दिया था, उसी प्रकार इस बार वे उसे बसाने के लिये शत्रुओं के रक्त से सींचने लगे। प्रताप को जर्जरित, पीड़ित और गृहत्यागी देखकर इस समय मानसिंह मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, इस कारण उससे बदला लेने की इच्छा प्रतापसिंह के हृदय में भी जाग रही थी। अतः उसी अवसर पर उन्होंने अम्बर राज्य के वाणिज्य प्रधान नगर मालपुरा को छपा मारकर लूट लिया।

यद्यपि इस समय भी राणा की सेना की अपेक्षा मुगल फौज की संख्या काफी ज्यादा थी और उसके पास साज-सामान तथा हथियार तो बढ़िया थे ही। पर दस-बारह वर्ष तक राणा प्रताप द्वारा की गई तपस्या तथा

२.२६ मरकर भी अमर हो गये जो

कष्ट सहन का परिणाम यह हुआ कि लोग हृदय से उनके भक्त और प्रशंसक बन गये। सच है किसी का भी त्याग और बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। कम समझ लोग चाहे उसके प्रभाव को अनुभव न कर सकें और अदूरदर्शी भी तुरन्त उसका कोई परिणाम न देखकर उसे व्यर्थ बतलाने लगें, पर तत्त्ववेत्ता इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि इस जगत में छोटे से छोटे काम की भी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। तब कोई महान त्याग अथवा निस्वार्थ बलिदान व्यर्थ चला जाये यह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध बात है। इस नियम को दृष्टिगोचर रखकर और कर्म सिद्धान्त की वास्तविकता को समझकर हमारा कर्तव्य है कि हम सदा शुभ और श्रेष्ठ कर्मों में ही अपनी शक्ति खर्च करें। सुख-दुःख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता का बहुत कुछ आधार तो तत्कालीन परिस्थितियों पर रहता है, पर हम जो कुछ कर्म करेंगे उसका फल शीघ्र या विलम्ब से मिलेगा अवश्य।

महाराणा प्रताप यदि चाहते तो बादशाह अकबर से साधारण सन्धि करके आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। उनके वंश की वीरता को समझकर सभी बादशाह तथा मुसलमान सरदार भी मन में उनके प्रति आदर का भाव रखते थे। इसलिये यदि वे केवल मुँह से भी बादशाह के प्रति सम्मान का भाव प्रकट कर देते तो अपने प्रदेश में निष्कण्टक राज्य कर सकते थे। पर प्रताप ने अपने सुख या आराम की परवाह न करके भारतवर्ष अथवा राजपूत जाति के गौरव को स्थिर रखने के लिये संघर्ष के मार्ग को अपनाया। इसके लिये उन्होंने जैसा कष्टपूर्ण जीवन बिताया और प्राणों का कुछ भी मूल्य न समझा यह एक ऐसा दृश्य था जिससे मेवाड़ ही नहीं आसपास के राजपूत भी उनके प्रशंसक बन गये। हम भामाशाह के त्याग और थोड़े समय में बीस-तीस हजार की सेना एकत्रित हो जाने का श्रेय राणा के इसी त्याग और तपस्या को देते हैं। फिर समस्त जनता की सहानुभूति भी ऐसे स्वार्थत्यागी को ही प्राप्त हो सकती है और वह भी विजय का एक बड़ा कारण होता है।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि राणा स्वभाव से युद्धप्रिय थे अथवा वे मुसलमान जाति से द्वेष-भाव रखते थे। उनके चरित्र से यही विदित होता है कि वे एक उदात्त चरित्र और भावनाओं के महापुरुष थे और नीति तथा न्याय का सदैव पूरा ध्यान रखते थे। कुछ लोग राणा के चरित्र की समीक्षा करते हुए यह प्रतिपादन करते हैं कि अकबर का उद्देश्य तो भारतवर्ष को छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा रहने के बजाय उसका एकीकरण करके एक मजबूत साम्राज्य की स्थापना थी, जिससे इस समस्त भू-भाग में शान्ति की स्थापना होकर जनता प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सके।

पर महाराणा प्रताप ने अपनी टेक और क्षत्रियत्व अहंकार के वशीभूत होकर उसका विरोध किया, जिसके फलस्वरूप उनको तथा उनकी लाखों प्रजा को बहुत अधिक संकटों में होकर गुजरना पड़ा। सम्भव है अकबर की योजना सद्भावपूर्ण हो, पर इस प्रकार के कार्य तलवार के जोर से नहीं होते। अकबर ने आरम्भ में ही हमला करके चित्तौड़ पर अधिकार जमा लिया और यह बात मेवाड़ी वीरों के लिये एक बड़ी चुनौती की तरह थी, क्योंकि वे चित्तौड़ को केवल पत्थर और चूने से बना एक दुर्ग मात्र नहीं समझते थे, वरन् वह उनके आत्म-गौरव के प्रतीक की तरह था, यदि महाराणा प्रताप अपनी जनता की इस भावना को मान्यता देकर उसे सफल बनाने का प्रयत्न न करते तो वे अपने कर्तव्य से च्युत समझे जाते। इसलिये राणा का मेवाड़ की स्वाधीनता के लिये संघर्ष करना और उसके लिये सर्वस्व की बाजी लगा देना सब प्रकार से स्वाभाविक और शोभनीय था और इसी से वे क्षत्रिय जाति के आदर्श बन गये।

जिस जमाने में महाराणा प्रताप तथा अकबर का संघर्ष हुआ था, तब मुसलमानों की संख्या काफी हो चुकी थी। लाखों मुसलमान तो यहाँ बाहर से आ गये थे और उससे भी अधिक यहाँ की निम्न वर्ग की जनता में से साम-दाम-दंड-भेद के द्वारा बना लिये गये थे। उस स्थिति में यह तो हो नहीं सकता था कि मेवाड़ के कस्बों में और आसपास की रियासतों में मुसलमान निवासी न हों। पर हमको इतिहास के किसी ग्रन्थ में यह नहीं मिलता कि राणा ने कहीं पर मुसलमान नागरिकों को मारा हो अथवा इन पर अत्याचार किया हो। इसके विपरीत हमको यह मिलता है कि हल्दीघाटी के संग्राम में जहाँ अकबर की सेना के अग्रगामी दल का नायक एक राजपूत था वहाँ राणा की सेना के अग्रभाग का नायक जालौर का शासक ताज खॉ था, जो राणा का पड़ोसी और मित्र होने के नाते उनका साथ दे रहा था। इसमें असम्भव कुछ भी न था, क्योंकि अकबर के पिता हुमायूँ ने शेरशाह के जिस वंशज को हटाकर दिल्ली पर कब्जा किया था, उसके द्वारा नियुक्त अनेक पठान शासक अभी देश के विभिन्न भागों में मौजूद थे और अकबर से संघर्ष कर रहे थे। मानसिंह ने पठान शासकों को हटाकर ही बंगाल, बिहार, गुजरात के कई भागों को अकबर के अधीन किया था। इस प्रकार महाराणा प्रताप की लड़ाई मुसलमान और हिन्दू की दृष्टि से न थी वरन् भारतीय और विदेशी आक्रमणकारी की दृष्टि से थी। मुगल उस समय भारत पर नये आक्रमणकारी के रूप में थे, इसलिये पठान भी, जिनको भारत में रहते पाँच सौ वर्ष बीत चुके थे, उनका प्रतिरोध करते थे।

अन्तिम समय तक देश की स्वाधीनता की चिन्ता

अब मेवाड़ का अधिकांश भाग पुनः राणा के अधिकार में आ गया था और मुगल सेना का कोई नया आक्रमण न होने से जनता शान्तिपूर्वक अपना काम-काज भी करने लग गई थी। पर चित्तौड़ के किले पर अभी मुगलों का अधिकार था और वह ऐसे ढंग का बना था कि घेरा डालने पर भी उस पर शीघ्र अधिकार नहीं किया जा सकता था। उसके भीतर भोजन और जल की पर्याप्त व्यवस्था थी जिससे हजारों सेना वर्षों तक उसमें रहकर लड़ सकती थी। वह तो राणा प्रताप के पिता उदयसिंह ने अपनी स्वाभाविक कमजोरी और आराम पसन्दगी की आदत के कारण उसे भयभीत होकर ही छोड़ दिया था, अन्यथा अकबर उस पर उतनी जल्दी अधिकार नहीं कर सकता था। अब जब वह मुगलों के कब्जे में था और उसके भीतर उनकी सेना जमी हुई थी तो राणा प्रताप का उसमें घुस सकना उतना ही कठिन था। फिर राणाजी लगातार बारह वर्ष तक शत्रुओं से अकेले लड़ते-लड़ते थक भी गये थे, न जाने कितनी बार वे शत्रुओं के आघात से घायल हो चुके थे, इसलिये अब नया युद्ध छेड़ने की उनमें शक्ति भी न थी। पर उन्होंने चित्तौड़ के उद्धार की जो प्रतिज्ञा की थी उसकी पूर्ति न

होने से वे अशान्त और उद्विग्न अवस्थ रहते थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में जमीन पर सोने, पत्तल में खाने और बाल न बनवाने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका भी पालन वे कर रहे थे, उनकी इस विशेषता के कारण उनको मेवाड़ का ही नहीं राजस्थान का मान-रक्षक कहा गया था।

महाराणा प्रतापसिंह का चरित्र आज भी उतना ही प्रेरणादायक है। यह संसार संघर्ष-भूमि है, प्रत्येक मनुष्य के जीवन में समय-समय पर कठिनाइयाँ, आपत्तियाँ आती ही रहती हैं। उस समय जो अपने सिद्धान्तों पर, डटे रहते हैं, वे ही लोगों की निगाहों में आदरणीय और माननीय होते हैं। दूसरी विशेषता है अपने स्वार्थ को त्यागकर या कम करके दूसरों के उपकार के लिये प्रयत्न करना। शास्त्रों में भी कहा गया है कि अपने हित के लिये तो सभी जीते और परिश्रम करते हैं, पर श्लाघनीय जीवन उन्हीं का है जो दूसरों के लिये जीते हैं, अन्य लोगों के हित का भी ध्यान रखते हैं। महाराणा प्रताप में ये दोनों विशेषतायें भरपूर मात्रा में थीं, इसी से सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज हम उनका गुणगान करके अपने जीवन को उच्च और श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करते हैं। महापुरुषों के कल्याणकारी कार्यों को स्मरण करने का यही सबसे बड़ा लाभ है।

शौर्य और धर्म-निष्ठा के प्रतीक : वीर शिवाजी

शास्त्रों का यह वचन—कि 'बच्चे के संस्कारों का निर्माण गर्भकाल से ही होने लगता है'—सर्वथा सत्य एवं माननीय है। साथ ही इतना और जोड़ा जा सकता है कि वातावरण तथा परिस्थितियों का प्रभाव भी उस पर कम नहीं पड़ता। गर्भकाल में माता-पिता के और विशेष तौर से माता के आचरण विचार का प्रभाव, बच्चे के संस्कारों पर अपनी गहरी छाप छोड़ता है। जन्मोपरान्त वह उनके आचरण तथा विचार और चारों तरफ की परिस्थितियाँ एवं वातावरण से तदनुसार तत्त्वों को ग्रहण करता रहता है। बच्चे को जिस आचरण, आचार-विचार और मनोभावों का बनाना अभीष्ट हो, माता-पिता को चाहिये कि वे स्वयं वैसे बनें और तदनुकूल वातावरण बच्चे के आसपास उपस्थित रखने का प्रयत्न करें।

कौन कह सकता है कि छत्रपति महाराज शिवाजी के निर्माण में उनके माता-पिता तथा तत्कालीन उनके आसपास का वातावरण और परिस्थितियों का सहयोग न रहा हो। उनकी माता एक वीर स्वभाव तथा धर्मपरायण

महिला थीं। दृढ़ता, धैर्य और साहस उनके जीवन की अमूल्य निधि थी। उनके पिता एक साहसी सैनिक, सेनानायक और नीतिज्ञ राज्य-संचालक थे। उपस्थिति के प्रति प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समयानुकूल सूझ-बूझ के साथ-साथ उन्होंने विवेक बल पर अपनी दूर दृष्टि, और भविष्य-भावना को एक अच्छी सीमा तक विकसित तथा प्रखर बना रखा था। गुणों के कारण ही तो वे एक साधारण कृषक से राजा और सामान्य मनुष्य से शाही दरबारों में ऊँचे मनसबदार बन सके थे।

उस समय की परिस्थिति के वातावरण में चारों ओर यवन शासकों के अत्याचारों, धर्म संकट और हिन्दुओं, हिन्दु सभ्यता, संस्कृति, धर्म तथा प्रतिष्ठा की रक्षा की चिन्ता व्याप्त थी। चारों ओर युद्ध, ध्वंस, विनाश, रक्तपात, अस्थिरता, आतंक उत्थान तथा पतन की घटनायें हो रही थीं। राज्य बनते-बिगड़ते अधीन और स्वाधीन हो रहे थे। एक छत्र शासन के अभाव में देश भर में अराजकता पूर्ण मनमानी का दौर-दौरा था। सन्धि, विग्रह, संगठन

२.२८ मरकर भी अमर हो गये जो

एवं विघटन एक सामान्य आचरण जैसा बन गया था । चातुर्य, चापल्य तथा चौकसी आवश्यक थी ।

शिवाजी के माता-पिता को भी वातावरण तथा इन्हीं परिस्थितियों के बीच संघर्ष एवं साहस का जीवन बिताना पड़ा था । ऐसे माता-पिता के माध्यम से और इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित वातावरण में छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ था । निदान, उनका साहसी, वीर, धीर, दृढ़ी, उत्साही, दूरदर्शी, सहिष्णु, सतर्क एवं हिन्दुत्ववान् होना कोई आश्चर्य अथवा संयोग की बात नहीं थी । उनके माता-पिता, उनकी परिस्थिति और तत्कालीन वातावरण उनके उस रूप का बड़ा कारण रहे हैं । इसके अतिरिक्त जो आवश्यक और शेष था उसका सृजन अपनी बुद्धि, विवेक और आत्मा से उन्होंने स्वयं कर लिया था ।

शिवाजी का जन्म चुनार के अन्तर्गत शिवनेरी दुर्ग में १० अप्रैल सन् १६२७ को हुआ था । उनके पिता शाहजी की जागीर तथा उनका स्थायी निवास पूना और सूया में था । किन्तु उस समय वे निजामशाही दरबार में मनसबदार थे और उसी की ओर से मुगलों के विरुद्ध युद्ध में संलग्न थे । शाहजी के श्वसुर लखूजी जादवराय भी पहले निजाम शाह के ही सहायक थे, किन्तु अपनी बेटी जीजाबाई के बलात् विवाह के कारण वे निजामशाह और अपने जामाताशाह जी दोनों से द्वेष मानता था । अपने इसी व्यक्तिगत विद्वेष के कारण लखूजी जादवराय उस युद्ध संकट के समय निजामशाह और उसके योद्धा शाहजी का साथ छोड़कर मुगलों से जा मिला था । वह इस अवसर का लाभ उठाकर शाहजी को बन्दी बनाना और अपने द्वेष को पूरा करना चाहता था । व्यक्तिगत हानि-लाभ और द्वेष-प्रेम से प्रभावित पुरुष इसी प्रकार तो देश का अहित कर इतिहास में कपटी और विश्वासघाती के नाम से कलंकित किये जाते हैं ।

अपने श्वसुर लखूजी जादवराय की इस अनीति के कारण शाहजी को माहुली का किला खोकर वहाँ से अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर भागना पड़ा था । शाहजी जीजाबाई को घोड़े पर बिठाकर ले चले । पर गर्भ सम्भार के कारण उनको घोड़े पर कुछ दूर चलना भी असम्भव हो गया । शाहजी के सामने एक समस्या खड़ी हो गई । वैसे तो उनको किसी और साधन अथवा घोड़े से ही धीरे-धीरे ले जा सकते थे, किन्तु उस समय वे वैसा कर सकने की स्थिति में नहीं थे । लखूजी जादवराय बड़ी तेजी से उनका पीछा कर रहा था । दुश्मन के हाथ में पड़कर अपमानित होना उन्हें किसी प्रकार भी सह्य न था और गर्भवती जीजाबाई को क्षति अथवा कष्ट पहुँचना भी अयोग्य

तथा अवांछित था । बड़ी विषम स्थिति थी । किन्तु साहसी व्यक्ति निराश अथवा हीन-हिम्मत हो जाने से विवेक मन्द हो जाता है और प्रत्युत्पन्न बुद्धि नष्ट हो जाती है । जिससे फिर न कोई उपाय सूझ पड़ता है और न तन-मन काम देता है । मनुष्य किर्तव्यमूढ़ होकर संकट की भेंट चढ़ जाता है । उन्होंने जीजाबाई को हिम्मत रखने को कहा और क्षण भर सोचकर बचाव तथा बनाव का मार्ग खोज लिया ।

चारों ओर के मार्गों और भौगोलिक भूमिका पर दृष्टिपात करते ही उन्हें स्मरण हो आया कि पास ही चुनार का किला है जिसका जागीरदार श्रीनिवास राव उनका एक मित्र है । बस फिर क्या था उन्होंने तुरन्त घोड़े की बाग चुनार की ओर मोड़ दी । कुछ ही देर में वे चुनार जा पहुँचे । श्री निवासराम अपने माननीय मित्र को अकस्मात् आया देखकर प्रसन्न हो उठा और उनके स्वागत तथा निवास विश्राम के लिये आदेश देने लगा पर शाहजी ने उसे तुरन्त रोकते हुए कहा—एक क्षण का भी समय नहीं है । लखूजी पीछा कर रहे हैं—बस यह अमानत तुम्हें सौंपता हूँ इसकी साज-सँभाल करना । इतना कह कर उन्होंने जीजाबाई को श्री निवासराम को सौंपा और तुरन्त किले से निकलकर अभीष्ट दिशा की ओर तिरोधान हो गये । श्री निवास राव ने जीजाबाई को सुरक्षित और साधनपूर्ण शिवनेरी के दुर्ग में भेज दिया ।

शिवनेरी में जीजाबाई अभी आश्वस्त भी न हो पाई थीं कि तब तक लखूजी जादवराय आ पहुँचा । लोगों ने सूचना दी कि शाहजी तो यहाँ से तत्काल चले गये । किले में केवल उनकी पत्नी जीजाबाई ही हैं । द्वेष मूढ़ पिता ने उस समय अपनी बेटी को केवल शाहजी की वंशधारिका पत्नी समझा और बोला मैं उसको ही अपने साथ ले जाऊँगा । निश्चय ही उस समय वैसा कहते हुए उसके मन में यह दुर्भाव रहा कि जब वह शाहजी की पत्नी को गिरफ्तार करके ले जायेगा और मुगलों की बन्दनी बनाकर यातनाओं की व्यवस्था करेगा तो शाहजी अपनी पत्नी तथा गर्भवस्थ सन्तान की रक्षा-भावना से मेरी शरण अवश्य आयेगा और तब मैं उससे अपना प्रतिशोध ले लूँगा । धिक्कार है उस ईर्ष्या और द्वेष को जो मनुष्य को इस सीमा तक मूढ़ तथा क्रूर बना देता है और खेद है उस दयनीय व्यक्ति पर जो विवेक के शत्रु इन दुर्भावों को प्रश्रय दिया करता है ।

लोगों ने उसके कथन के पीछे प्रच्छन्न मनोभाव को समझ लिया और विनीत वाणी में आश्चर्यपूर्वक बोले—“लखूजी! आप यह क्या कह रहे हैं ? अपनी बेटी को बन्दी

बनायेंगे ? शत्रु तो आपके शाहजी हैं । जीजाबाई तो सर्वथा निरपराधिनी हैं । उस बलात् विवाह में उनका क्या दोष है ? आपने उस रंग-पंचमी के दिन साथ-साथ खेलते-हँसते अबोध बालक-बालिका शाहजी और जीजाबाई को देखकर निवेदन में कह दिया कि कैसी सुन्दर जुगल जोड़ी है— जीजाबाई क्या तुझे यह दूल्हा पसन्द है ? आपके उस विनोद को पकड़ कर, शाहजी के पिता मालोजी ने, उपस्थित खम्बों के समर्थन से वाग्दान का स्वरूप दे दिया । आपने तब भी उसे विनोद ही समझा और यथार्थ में विवाह करने से इन्कार कर दिया । इसीलिये तो अनबूझ विनोद और अनावश्यक वक्तव्य का शास्त्रों में निषेध किया गया है क्योंकि यदा-कदा देशकाल और व्यक्ति के आधार पर बात का बतंगड़ और विनोद का विग्रह बन जाया करता है । मालोजी ने स्थिति का लाभ उठाकर वही किया और अन्त में निजाम शाह को प्रेरित कर आपके निषेध को विवश स्वीकृति में बदलवा दिया । आप निजाम शाह के अधीन और प्रभाव में थे न चाहते हुए भी अपनी पुत्री जीजाबाई को मालोजी के पुत्र शाहजी से व्याहना पड़ा । इसमें बेचारी जीजाबाई का क्या दोष ? आप तो बुद्धिमान् हैं । सोचना चाहिये कि आप जीजाबाई को बन्दी बनाकर शाहजी से जिस अपमान का बदला लेना चाहते हैं, मुगलों द्वारा अपमानित आपकी बेटी उस अपमान से लाखों गुने बड़े अपमान की साक्षी न बनेगी । ऐसी दशा में क्या आपकी आत्मा शान्त रह सकेगी ? आपका स्वाभिमान उस अपमान को सहन कर सकेगा ? आप जीजाबाई के पिता हैं, यह न भूलना चाहिये और फिर इसमें शाहजी का भी क्या दोष है ? बात तो आप और मालोजी के बीच की है । वह इस संसार से चले गये । अपना द्वेष भी निकाल फेंकिये और उस विवाह को दैवयोग अथवा ईश्वरीय इच्छा समझिये । जो होना था हो गया और सच पूछा जाये तो कुछ बुरा भी नहीं हुआ । हम लोगों का तो यही मत है आगे आप मालिक हैं जो ठीक समझें करें ।

बात उपयुक्त थी । जीजाबाई के प्रति लखूजी का द्वेष मिटा और उनका विवेक वापस आया । अब वे प्यार पूर्वक बेटी के पास गये और बोले—“जीजा चल मेरे साथ घर चल । वहाँ आराम से रहना । यहाँ असहाय की तरह पड़े रहने से, इस दशा में बड़ा कष्ट होगा । पर जीजाबाई तो पतिभक्ता वीर पत्नी थीं उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया । युद्ध के संकट में पड़े पति के कष्ट-क्लेशों का विचार न कर स्वयं अपने लिये सुख-सुविधा की इच्छा करना उन्होंने धिक्कार के समान समझा । लखूजी जादवराव विवश होकर वापस चले गये ।

इस स्थिति, परिस्थिति और मनःस्थिति के बीच शिवाजी का जन्म हुआ था । फिर भला क्यों न उनमें समयोपयुक्त संस्कारों का सृजन होता और वे क्यों न वैसे बन जाते ? आगे चलकर जैसे वे बने । शिवनेरी दुर्ग की अधिष्ठात्री देवी शिवाई के नाम पर ही माता ने उनका नाम शिवा रखा क्योंकि धर्मनिष्ठा जीजाबाई ने अपने बेटे को देवी का ही प्रसाद समझा ।

भविष्यानुकूल जन्म के साथ-साथ शिवाजी की शिक्षा-दीक्षा भी उसी के सामानान्तर होती चली गई । जीजाबाई एक सुशिक्षित महिला थीं और उन्होंने अपनी शिक्षा का उपयोग पुत्र के संस्कार ढालने में किया । उनकी इच्छा थी कि उनका बेटा धीर, वीर, साहसी और धर्म-रक्षक बने । निदान उन्होंने बालक शिवा को प्रारम्भ से ही वीर-गाथाओं और गीतों को लोरी के रूप में सुनाना प्रारम्भ कर दिया और जब वह कुछ बड़े हो गये तो स्वयं ही अक्षर ज्ञान कराया, आप ही अर्थ और यथार्थपूर्वक उनको रामायण, महाभारत तथा गीता आदि का पारायण कराया । इसके अतिरिक्त वे शिवाजी को धर्म के तत्व, उसकी वर्तमान दशा और उसकी रक्षा की आवश्यकता भी बतलाती रहती थीं । उन्होंने शिवाजी को भारत में एकछत्र स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य का स्वप्न भी दिया । चरित्र और आचरण की शक्ति से सज्ज बनाकर संगठन और रीति-नीति के महत्त्व से अवगत कराया । इस प्रकार जीजाबाई ने शिक्षा की ऐसी कोई दिशा न छोड़ी जो शिवाजी के अभ्युदय के लिये आवश्यक थी । ऐसी विदुषी तथा बुद्धिमती माता का पुत्र धीर, वीर, धर्म-रक्षक न बनकर और क्या बन सकता था ? शिवाजी की निर्विकार तथा अनुकूल मनोभूमि पर माता के बोये बीज जी भर कर प्रस्फुटित, पल्लवित और सफलीभूत हुए । जिनको चरितार्थ कर वे इतिहास के पृष्ठों में सदा-सर्वदा के लिये अमर तथा आदृत हो गये ।

मुगलों तथा बीजापुर की सम्मिलित शक्ति ने निजामशाही को परास्त कर दिया और शाहजी से सन्धि कर ली । सन्धि के अनुसार अहमदनगर का इलाका मुगल साम्राज्य में चला गया और शाहजी को अपनी पूना और सूया की जागीर के साथ बीजापुर के दरबार में मनसब मिल गया । उन्होंने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी को और पत्नी जीजाबाई को पूना भेज कर वहाँ की जागीर का प्रबन्ध दादाजी कोणदेव नाम के वयोवृद्ध योग्य व्यक्ति को सौंप दिया । इस प्रकार शिवाजी अपनी माता के साथ दादाजी कोणदेव की संरक्षता में, और शाहजी स्थायी रूप से बीजापुर में रहने लगे ।

२.३० मरकर भी अमर हो गये जो

दादाजी कोणदेव बड़े ही दूरदर्शी तथा देशभक्त व्यक्ति थे। यवनों के धार्मिक अत्याचार देख-सुनकर उनको बड़ा दुःख होता था। वे चाहते थे कि भारत के हिन्दू राजा एक होकर देश से यवन-सत्ता को समाप्त कर एकछत्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करें। इसके लिये उन्होंने यथासाध्य प्रयत्न भी किया। किन्तु पाया कि स्वार्थ और दम्भ ने हिन्दू नरेशों को न केवल निर्बल ही बना दिया है बल्कि हतबुद्धि भी कर दिया है। उनका विवेक और धर्म-निष्ठा समाप्त हो गई है। उनकी इच्छा थी कि कोई ऐसा तेजस्वी नायक उत्पन्न करें जो देश-धर्म की रक्षा के लिये निःस्वार्थ भाव से प्रयत्न करे। टूटते हुए देवालयों और उतरते हुए शिक्षा-सूत्रों की रक्षा करे।

तभी शिवाजी को अपने संरक्षण में पाकर उनके मन में आशा का संचार हो उठा और वे सोचने लगे कि क्यों न बालक को वैसे ही संस्कारों, आचरण तथा भावनाओं में ढाला जाये जिस प्रकार के चरित्र की इस समय आवश्यकता है। यदि चाणक्य एक सामान्य बालक को चन्द्रगुप्त मौर्य बना सकते थे तो उन्हीं प्रयत्नों द्वारा मैं क्यों बालक शिवा में उन योग्यताओं का विकास नहीं कर सकता? सत्य से संचालित प्रयत्नों में अमोघ शक्ति रहती है। जन-कल्याण की ज्वलन्त भावनाओं में अनन्त सम्भावनायें। मुझे अपना कर्तव्य करना चाहिये और मैं करूँगा भी, आगे प्रभु की इच्छा। फलाफल का निर्णय उसके हाथ में है। निदान उन्होंने शिवाजी की शिक्षा-दीक्षा का शुभारम्भ उसी दिशा में कर दिया।

माला जीजाबाई ने बीज बोये थे। दादाजी कोणदेव ने खाद-पानी देकर उन्हें विकसित करना प्रारम्भ किया। जीजाबाई ने वीरतापूर्ण गीत और गाथायें सुनाई थीं। दादाजी कोणदेव ने उनका अभ्यास कराया। सबसे पहले उन्होंने बालक शिवा को तलवार से परिचय कराया। एक छोटी-सी कृपाण देकर और एक खुद लेकर कहते, हाँ भाई हमारा-तुम्हारा द्वन्द्व-युद्ध हो जाये और वे इस प्रकार बहुत देर तक उन्हें तलवार का खेल खिलाते रहते। छोटी-सी कमान और छोटे-छोटे तीर देकर चलाना और निशाना मारना सिखाते। बर्छी की पकड़ और प्रक्षेपण का अभ्यास कराते। छोटे-से घोड़े पर चढ़ाकर उन्हें अपने साथ सैर कराने ले जाते और तभी उन्हें देश का इतिहास, भूगोल तथा राजनीतिक दशा को कहानी की तरह सुनाते और उनमें यह भावना प्रौढ़ करते कि आगे चलकर उनको अपने इस भारत भू-खण्ड को एकछत्र करना है और इसके इतिहास का कलंक धोना है। उसी अवसर पर वे तल्लीन बालक शिवा को राजनीति, राज्य-प्रबन्ध और राजनीतिक मोहरों और मोर्चों का स्वरूप ज्ञान भी कराते थे।

दादाजी कोणदेव कभी-कभी उन्हें जंगल में ले जाते और अपनी सतर्कता में अकेला छोड़कर उनमें साहस, धैर्य तथा प्रत्युत्पन्नता उत्पन्न करते थे। उनमें जंगलों तथा पहाड़ों में रास्ता खोजने और बनाने की योग्यता का विकास करते। उनके समवयस्क साथियों को लेकर सेना संगठन, संचालन, विभाजन, नियुक्ति, ब्यूह, आक्रमण तथा संग्राम के खेल खिलाते। दादाजी कोणदेव की इस शिक्षा का फल यह हुआ कि जब शिवाजी सयाने होकर आत्म-अस्तित्व के प्रति सज्जान हुए तो उन्होंने अपने को घोड़े की पीठ पर स्थित एक शस्त्रदक्ष सैनिक तथा सेनापति के रूप में पाया। उन्हें ऐसा लगा मानो उन्होंने इसी सज्जा और इन्हीं योग्यताओं के साथ भूमि पर पदार्पण किया है। उनका आत्म-विश्वास शत सहस्र शाखाओं के साथ वट-वृक्ष की तरह स्थिर तथा स्थायी हो गया।

तेरह-चौदह वर्ष की आयु में आते-आते दादाजी कोणदेव ने शिवाजी को तन, मन, बुद्धि और आत्मा से स्वस्थ, साहसी, सज्ज तथा तेजस्वी बना दिया। अब वे उन्हें उनके पिता की जागीर के माध्यम से राज्य-प्रबन्ध, संचालन, शासन तथा प्रशासन की व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ राजत्व के गुणों में दक्ष बनाने लगे और जल्दी ही इतना योग्य कर दिया कि वे स्वयं अपने आप सारी राज्य-व्यवस्था चला सकें।

चौदह वर्ष की आयु में ही शिवाजी जागीर का बहुत-सा काम खुद करने लगे। वे प्रजा की दशा और उसकी आवश्यकतायें जानने के लिये गाँवों का दौरा करते, वहाँ दरबार लगाते और लोगों की शिकायतें सुनकर झगड़े निपटाते थे। वे क्षेत्रों के प्रभावशाली व्यक्तियों से मिलते और देश-धर्म के प्रति उनका मनोभाव जानने का प्रयत्न करते। जागीर की आर्थिक तथा सामाजिक दशा का पता लगाते और उसके सुधार तथा विकास के लिये योजनार्यें बनाकर देते। इसके अतिरिक्त वे लोगों को जमा करते और उनमें संगठन, साहस तथा देश, धर्म के सेवा करने की प्रेरणा भरते। वे अपराधियों, अन्यायियों तथा आतंकवादियों को समझाते, उन्हें सुधारने का अवसर देते और आवश्यकता पड़ने पर दण्ड भी देते थे। वे प्रसंगों को सुनते और उन पर इतना निष्पक्ष निर्णय देते थे कि लोग आश्चर्य चकित रह जाते थे।

निरालस्य, स्फूर्ति, उत्साह, तत्परता तथा श्रमशीलता जैसे जीवन-विकास में सहायक गुणों को शिवाजी ने अलंकारों की तरह धारण किया हुआ था। नियम, संयम और नियमित उपासना करना उन्होंने नित्यकर्म बना लिया था। कब, क्या और किस तरह करना है? इस बात से

वे कभी अचेत न रहते थे । व्यवहार कुशलता के साथ वाक्पटुता का अभ्यास उन्होंने प्रयत्नपूर्वक किया था । परनिर्भरता और परमुखापेक्षण की दुर्बलता को वे मानव-जीवन पर एक कलंक के समान समझते थे । साथियों, सहायकों तथा सहयोगियों के साथ उनका उपयुक्त व्यवहार लोगों को उनका अभिन्न बना देता था । शिवाजी के इन गुणों को देखकर लोगों को आशा बँधने लगी कि शायद यह तरुण देश—जाति के लिये कुछ कर सके । शिवाजी ने लोगों की यह अपेक्षा कुछ ही नहीं बहुत कुछ करके चरितार्थ कर दिखाई ।

शिवाजी ने अपने इन्हीं गुणों तथा योग्यताओं के बल पर जागीर के सारे तरुण नवयुवक तथा किशोर अपने अनुयायी बना लिये थे । उन्होंने स्थान-स्थान पर इनके संगठन तथा स्वयं-सेवक दल बना दिये । समय-समय पर जाकर वे उनको शस्त्रों तथा देश-प्रेम की शिक्षा देते और धर्म की रक्षा में मर मिटने की प्रेरणा भी । जनता में धर्म तथा राष्ट्र भावना का प्रचार करते, समितियाँ तथा सभायें गठित कराते और सार्वजनिक संचय से जन-निधि की स्थापना कराते । उन्होंने स्थान-स्थान पर देश की रक्षा के लिये सामग्री एकत्रित करने के लिये भण्डार-भवनों की स्थापना कराई और उसके प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिये कार्यकारिणियाँ बनाई । लोगों में शिक्षा तथा धर्म-ग्रन्थों के पठन-पाठन की रुचि पैदा की और उसके पालन के लिये आवश्यक प्रबन्ध भी किया । जगह-जगह उन्होंने गीता, रामायण, महाभारत तथा इतिहास की गोष्ठियाँ बनवाकर उनमें उनका पाठ प्रारम्भ कराया । अनेक प्रचारक तथा प्रवक्ता तैयार करके दूर-दूर तक भेजे जो प्रसुप्त हिन्दू-जाति में जागरण करते और देश-धर्म पर मर मिटने की प्रेरणा देते थे ।

शिवाजी ने बहुत से चुने हुए साथियों की एक स्वयं सैनिक सेना बनाकर युद्ध, व्यूह तथा उसके संचालन का व्यावहारिक अभ्यास कर लिया । वे लोगों को स्वयं शस्त्र तथा युद्ध की शिक्षा देते और सेना के लिये आवश्यक अनुशासन का अभ्यास कराते । इस प्रकार उन्होंने जागीर की लगभग सभी जनता में संगठन तथा सैनिक भावना का जागरण कर दिया । इन कार्यों तथा उसके पीछे सन्निहित देश, धर्म तथा जाति रक्षा के उद्देश्य ने शिवाजी को इतना लोकप्रिय बना दिया कि लोग उन्हें यों ही अपना नेता तथा नायक मानने लगे । क्षेत्र का युवक-वर्ग तो उनके लिये मर मिटने को सदैव तैयार रहने लगा । आगामी संघर्ष की यह एक विशाल तथा उपयुक्त तैयारी थी, जिसमें दूरदर्शी शिवाजी तन, मन और धन से जुटे हुए थे । आराम, आनन्द और विलास विनोद क्या होता है अव्यवसायी शिवा को

इसका भान तक न था । जिसके सम्मुख इतना विशाल कार्य और इतना विस्तृत कार्य-क्षेत्र पड़ा हो व संसार के झूठे आनन्दों में पड़कर अकर्तव्य किस प्रकार कर सकता है ? इस प्रकार का अनुत्तरदायित्व तो वे ही किया करते हैं जो जन्म लेकर भी अपने समाज तथा देश की दुरवस्था से दुःखी नहीं होते । उनकी नाड़ियों का रक्त उनके उद्धार तथा सुधार के लिये तड़प नहीं उठता । शिवाजी को अपने देश धर्म से प्रेम था, वे समाज के सच्चे हितैषी तथा शुभचिन्तक थे । वे तृष्ण के समान सांसारिक भोगों को पवित्र कर्तव्य पर श्रेष्ठता किस प्रकार दे सकते थे ?

शिवाजी के विकास का समाचार उनके पिता शाहजी को बीजापुर में मिलता ही रहता था उन्होंने अब पुत्र को अपने पास बुलाकर राजनीतिक क्षेत्र में परिचित करा देना उचित समझा । निदान उन्होंने शिवाजी को जीजाबाई के साथ बीजापुर बुला लिया । गुणी की विशेषतायें प्रकट होते देर नहीं लगती । शिवाजी के रंग-रूप स्वास्थ्य, विनम्रता, अनुशासन, व्यवहार तथा आचरण के सौन्दर्य ने जल्दी ही सब पर जादू-सा कर दिया । शाहजी का जो भी दरबारी मित्र अथवा सम्मान्त एक बार शिवाजी से बात कर लेता था, उसकी सारी सद्भावनायें उनकी ओर हो जाती थीं । बीजापुर के अमीर उमरा तो उनके व्यक्तित्व तथा गुणों से इतने आकर्षित हुए कि दरबार में भी उनकी चर्चा करने लगे । शिवाजी के विषय में सुनकर सुल्तान भी उन्हें देखने के लिये उत्सुक हो उठा ।

अपने मित्र मुरार जी पन्त के बहुत जोर देने पर एक दिन शाहजी ने शिवाजी को साथ में दरबार चलने को कहा और यह भी बतलाया कि दरबार में पहुँचते ही जमीन तक झुक कर बादशाह को कोर्निश करें, बतलाई हुई जगह पर बैठें और बिना पूछे कोई बात न करें । पिता ने समझा कि पुत्र को दरबारी तौर-तरीकों की शिक्षा दे रहा है और पुत्र ने उसे अपनी आत्मा का अपमान समझा । तुरन्त उत्तर दिया—पिताजी ! बादशाह विधर्मी और अत्याचारी है । वह हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म का दुश्मन है । मन्दिर तुड़वाता है और हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाता है । गौ-वध करवाता है । मैं गौ, जाति तथा धर्म का सेवक हूँ । यवन बादशाह को कोर्निश करना तो दूर है, मैं उसकी सूरत भी देखना नहीं चाहता ।”

शाहजी को शिवाजी की बातें सुनकर जरा भी आश्चर्य न हुआ । उन्हें पहले ही यही उत्तर पाने की आशंका थी । शिवाजी के विचार, विश्वास, भावनाओं तथा सिद्धान्त निष्ठा से वे भली प्रकार परिचित थे । उन्होंने शिवाजी से फिर आगे कुछ न कहा । जीजाबाई को समझाने का निर्देश

२.३२ मरकर भी अमर हो गये जो

दिया। माता जीजाबाई ने भी शिवा को बहुत कुछ समझाया और पिता की आज्ञापालन करने को कहा तथापि शिवाजी दरबार जाने को तैयार न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य जरूर है पर कोई अनुचित आज्ञा मानने को मैं तनिक भी तैयार नहीं हूँ। दरबार के लिये दी गई उनकी आज्ञा मेरे सिद्धान्त, स्वाभिमान तथा धर्म के विपरीत है। मैं दरबार जाकर उस म्लेक्ष शासक को कदापि कोर्निश नहीं कर सकता। जीजाबाई बेटे का यह स्वाभिमान तथा दृढ़ता देखकर ही मन ही मन प्रसन्न होकर पुलक उठीं। उन्हें इस बात का सन्तोष हुआ कि शिवा पर उनका प्रयत्न ठीक और वांछित दिशा में फलीभूत हुआ है। उन्होंने दिखावे के लिये एक-आध बार शिवा से दरबार के विषय में पिता की आज्ञा पालन करने को कहा और फिर मौन हो गई। उन्होंने पति से कह दिया कि लड़का मेरे समझाये न मानेगा।

शाहजी ने मुरार पंत से सारी बात बतलाई और कहा—मैं कहता था न कि शिवा बड़ा स्वाभिमानी है। वह दरबार में आने और बादशाह को सलाम करने को तैयार न होगा। उसने साफ कह दिया कि मैं उस विधर्मी बादशाह की सूरत भी नहीं देखना चाहता।” मुरार पंत ने कहा—“अभी लड़का ही तो है। हित-अनहित नहीं समझ सकता। मैं उसे समझा दूँगा।”

दूसरे दिन मुरार पंत शाहजी के घर गये और शिवाजी को बुलाकर कहा—“बेटे ! तुम्हें दरबार में चलना ही चाहिये। वहाँ जाने से बड़ा लाभ होगा। बादशाह खुश हो जायेगा तो खिताब और ओहदा देगा, जागीर बख्सेगा। अपने बड़े लाभ के लिये बादशाह को एक बार सलाम कर लेने में क्या हर्ज है ? मतलब के लिये मनुष्य क्या नहीं करता ? इस दुनियाँ में तो ऐसे ही काम चलता है। इस समय तो सारे भारत पर ही यवनों की सत्ता छाई हुई है। ईश्वर की ऐसी इच्छा है तो हम लोग कर ही क्या सकते हैं ? सभी लोग उन्हें सलाम करते और लाभ उठाते हैं, तब तुम भी यदि अपनी उन्नति तथा सुख-सुविधा के लिये सलाम कर लोगे तो क्या घट जायेगा ? गौ-वध हमारे तुम्हारे बन्द कराये तो नहीं बन्द हो जायेगा। जब समय आयेगा और भगवान् की इच्छा होगी तो बन्द हो जायेगा। अवसर देखकर काम करना ही बुद्धिमानी है। मेरी मानो और दरबार में चलो। हम सब बादशाह से तुम्हारी सिफारिश करेंगे और तुमको ओहदा और जागीर मिल जायेगी। सुख से अपना जीवन-यापन करना। इन सब नाहक के विरोधों तथा खेदों में क्या रखा है ?”

मुरार पंत की बात सुनकर किशोर शिवा बड़ी देर तक उनका मुँह देखते रहे और सोचते रहे कि ऐसे ही स्वार्थ तथा सुख लिप्सुओं के कारण ही देश व धर्म की यह दशा है। फिर बोले—“खेद है चाचा कि आप ऐसे विद्वान् तथा योग्य व्यक्ति होकर ऐसी ओछी बात कहते हैं। बादशाह से चादुकारिता में पाये जिस पद और जागीर को लाभ बतलाते हैं, उसे मैं भिक्षा से भी अधिक गया गुजरा समझता हूँ। अपने बाहुबल और सत्कर्मों द्वारा उत्पादित सम्पत्ति को ही मैं ग्राह्य तथा वांछनीय मानता हूँ। देश और धर्म पर होते अत्याचार पर दृष्टिपात न कर केवल अपने स्वार्थ की ओर ही देखते रहना अमानवीय प्रवृत्ति है, जो किसी भी स्वाभिमानी आदमी को शोभा नहीं देती। यह बात सही है कि मनुष्य के जीवन में स्वार्थ का भी एक स्थान है किन्तु उस स्वार्थ को निकृष्टता ही कहा जायेगा जिसका सम्पादन अथवा जिसकी पूर्ति देश, धर्म अथवा समाज को जरा भी क्षति पहुँचाता है। यह यवन बादशाह हिन्दुओं को इसी प्रकार ही तो लालच में डालकर अपने अत्याचार में उनका विरोध और अनुमोदन पाते हैं। रोटी के टुकड़ों की तरह जागीरें सामने डालकर स्वानवृत्ति जगाते और भाई से भाई का गला कटवाते हैं। दुनियाँ में हेय तथा हीन बनकर ही तो काम नहीं चलता। यह तो मनुष्य की अपनी कमजोरी और सोचने का ढंग है कि अन्यायियों के तलवे चाटने से ही काम चलता है वैसे इतिहास, अनुभव, दृष्टान्त तथा उदाहरण साक्षी है कि संसार में एक से एक बढ़कर स्वाभिमानी तथा सिद्धान्त के धनी व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने सिर दे दिया, जीवन दे दिया, पर स्वाभिमान नहीं दिया। उन्होंने यश पाया, गौरव पाया, मान और सम्मान पाया। लक्ष्मी तो ऐसे श्रेय-पुरुष के पीछे-पीछे चलती है। देश में यवनों की सत्ता को ईश्वर की इच्छा मानना कायरता ही नहीं नास्तिकता भी है। ईश्वर ऐसे अत्याचारी तथा धर्म-द्वेषी लोगों को सत्तावान देखने की इच्छा नहीं कर सकता। जल्दी ही वह इनको और इनके जोर-जुल्म को मिटा देगा। भारत में यवनों की सत्ता बिल्कुल असंगत है। यह और कुछ नहीं केवल हिन्दुओं की वीरता और धर्म-निष्ठा की कसौटी है, उनके स्वाभिमान के लिये एक परीक्षा, एक चुनौती है। ऐसी ही कायर भावनाओं वालों ने ‘दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा’—अश्रवणीय वाक्य जनता को देकर उसे यवन बादशाहों की गुलामी करने के लिये हतचेत बताया है।”

“और आपका यह कहना कि हम लोग कर ही क्या सकते हैं ? एक दुर्भाग्यपूर्ण निराशा की सूचना है। आदमी क्या नहीं कर सकता ? जिस प्रकार आप विधर्मियों के पक्ष में युद्ध करते और कष्ट उठाते हैं क्या उसी प्रकार धर्म रक्षा

के लिये संघर्ष नहीं कर सकते हैं ? जरूर कर सकते हैं । पर कमी यह है कि आप लोगों की आत्मायें कुधान्य खाते-खाते और दरबारों की चमक-दमक में रहते, तेजहीन हो चुकी हैं । विवेक पर मोह का आवरण आ गया है । अपने को हीन विधर्मियों को श्रेष्ठ समझने का अभ्यास हो गया है । तेतीस करोड़ हिन्दुओं के बीच यह मुट्ठी भर यवन सिंह की तरह शासन करें यह बड़ी लज्जाजनक बात है । पर यह असम्भव सम्भव इसलिये दिखलाई दे रहा है कि हिन्दुओं की जाति भावना और आत्म-गौरव अस्त हो गया है । पारस्परिक फूट, स्वार्थ तथा विश्रामपूर्ण जीवन की कायरता ने उन्हें तेजहीन बना दिया है ।”

यवन बादशाहों को सभी सलाम करते हैं इसलिये मैं भी कहूँ यह बात तो कोई अर्थ नहीं रखती । निकृष्टताओं का अनुकरण करना श्रेयस्कर नहीं होता । यदि अनुकरण ही करना होगा तो संसार में श्रेष्ठताओं और श्रेष्ठ व्यक्तियों की कमी नहीं है । यवनों द्वारा दी हुई अपनी ही भूमि का एक टुकड़ा पाकर उसे अहोभाग्य मानने से बढ़कर ना समझी की कोई बात हो ही नहीं सकती—यह समग्र भारत भूमि अपनी है । इस पर यवनों का अधिकार एक बलात्कार है जो किसी प्रकार भी सद्म नहीं होना चाहिये । जिसका धर्म, जिसका इतिहास, जिसका स्वाभिमान और जिसका समाज संकट की स्थिति से गुजर रहा है, यदि उसको अन्यायियों की दी जमीन पाकर सुख-सुविधापूर्ण जीवन यापन की लालसा सताती और प्रेरित करती है तो निश्चय ही उसकी नाड़ियों से गंगा और यमुना का पानी सूख गया है । आर्यत्व उसे मृत मानकर छोड़ गया है । यह अवसर यवन बादशाहों के दरबारों में बैठकर चाटुकारी करने का नहीं है । यह समय है एक हाथ पर प्राण और एक हाथ में कृपाण लेकर देश-धर्म की रक्षा के लिये जूझने का । चाचा मैं तो उस दरबार में जाकर चाटुकारी न कर सकूँगा । मैं देश की धूल छानूँगा और धर्म रक्षा में अपने प्राण दे देने के लिये कटिबद्ध होकर दूसरों को भी बलिदान के लिये तैयार करूँगा । यही मेरा सुख है, यही मेरा कर्त्तव्य और यही मेरा जीवन लक्ष्य है । आशा है आप मुझे इस स्पष्टवादिता के लिये क्षमा करेंगे । मुरार पन्त शिवाजी की बातें सुनकर पहले तो कुछ अप्रसन्न हुए, फिर सोचने समझने पर वे उनके विचारों की प्रशंसा करने लगे और फिर समझाया कि वार-नीति के अन्तर्गत ही सही दरबार में चलो जरूर । ऐसा करने से वहाँ हिन्दुओं की आवाज में बल आयेगा । शिवाजी को मुरार पन्त का दृष्टिकोण बदलते देखकर प्रसन्नता हुई और उन्होंने विचार करने का वचन दे दिया ।

पर शिवाजी की आत्मा दरबार में जाना स्वीकार न कर सकी और वे बराबर बात टालते रहे । एक दिन शाहजी बड़े चिन्तित तथा उदास घर आये । कारण पूछने पर उन्होंने जीजाबाई को बतलाया—“दरबार में नित्य-प्रति शिवा की चर्चा चलते रहने से बादशाह उनको देखने के लिये बहुत उत्सुक हो उठा है । आज उसने आदेश की भाषा में शिवा को लाने के लिये कहा है और यह भी कहा कि यदि कल मैं उसे लेकर दरबार में न आऊँ तो यही समझा जायेगा कि मैं उसे दरबार में जानबूझ कर नहीं ले जाना चाहता । तुम्हारा हठीला बेटा तैयार नहीं और बादशाह जिद कर रहा है । वह इस बात में किसी दुरभिसन्धि की कल्पना करने लगा है । इस सब का परिणाम यह होगा कि जल्दी ही बात बिगड़ जायेगी और मैं बैठे बैठे किसी संकट में पड़ जाऊँगा । समझ में नहीं आता क्या किया जाये ? एक बार भी यदि वह दरबार हो आता तब भी बात ज्यादा नहीं बिगड़ती ।”

जीजाबाई ने शिवाजी को पिता की पीड़ा तथा स्थिति बतलाई और एक बार दरबार में हो आने का पुनः अनुरोध किया । शिवाजी ने सोचा कि अब ऐसी दशा में मेरा सिद्धान्त दुराग्रह बन जायेगा और उसके पिता पर संकट आ जायेगा । यहाँ पर अवसरानुकूल मुझे कुछ नम्र हो ही जाना चाहिये । आगे बहुत काम करना है और उसके लिये तैयारी भी । अभी से अपने को आपत्ति में डालकर गतिरोध उत्पन्न कर लेना दूरदर्शिता नहीं होगी । उन्होंने निश्चय कर लिया कि कल पिता के साथ दरबार जायेंगे और देश काल के अनुसार जो उचित होगा वही करेंगे ।

शाहजी शिवाजी को रास्ते भर दरबारी रीति-रिवाज समझाते और व्यवहार की रूपरेखा बतलाते गये । फिर भी जब वे दरबार में पहुँचे तो सर्वोच्च आसन पर यवन बादशाह को बैठा देखकर उनका खून खौल उठा, आत्मा विद्रोह कर उठी । उनका विक्रान्त हाथ तलवार की मूठ पर गया पर पिता की स्थिति सोचकर सहसा रुक गया । उनकी दृष्टि-भंगिमा बदल गई और वे बिना कोर्निश दिये पिता के पास जाकर बैठ गये । बड़ा भयानक साहस था । दरबार सिहर उठा । पर शिवाजी को अपने ऊँचे स्वाभिमान के कारण उसमें कुछ भी अन्यथा अनुभव न हुआ । वे निडर दृष्टि से बादशाह की ओर देखने लगे ।

बादशाह की नजर घूमि, और उसने मुरार पन्त पर प्रश्लात्मक दृष्टि डाली । मुरार पन्त अदब के साथ खड़े हुए और दरबारी भाषा में बोले—‘हुजूर ! यह शाहजी का ही लड़का शिवा है । आज पहले-पहले दरबार में आया है । दरबारी तौर-तरीकों से नावाकिफ है । आपको मुजरा न

२.३४ मरकर भी अमर हो गये जो

करने की गुस्ताखी कर बैठा है। आलम पनाह ! बच्चे की इस पहली नाजानकारी को मुआफ़ फरमायें। आइन्दा ऐसी गलती नहीं करेगा। शिवाजी की इच्छा हुई कि वे अभी उठें और शेर की तरह दहाड़ कर पूरे दरबार और इस म्लेच्छ बादशाह को बतला दें कि मुरार जी का वक्तव्य गलत है। उन्होंने कोर्निश करनी ही नहीं चाही और न वे आगे ही करेंगे—क्योंकि वह अनुचित है और उनके स्वाभिमान के विरुद्ध है किन्तु वीर होने के साथ-साथ वे धीर भी थे और देशकाल के अनुसार अपने आवेगों को नियन्त्रित करना भी अच्छी तरह जानते थे। उनमें भावनाओं को वश में रखने की शक्ति थी। यही तो वह धीरता है जो ऊँची मनोभूमि और समतल घरातल वाले वीर पुरुषों की एक शोभा है। यही धीरता और विचार सन्तुलन की शक्ति सत्त्वान को आततायी अथवा शक्ति-मत्त हो उठने से रोकती है जिससे उनके उठाये हुए कदम ऊँचे-नीचे न पड़कर ठीक स्थान पर ठीक दिशा में पड़ते हैं। बादशाह ने मुस्कराकर सिर हिला दिया। बात टल गई। बादशाह ने एक कीमती खिलत और बहुत से वेश-कीमती जवाहरात शिवाजी को देकर अपनी प्रसन्नता तथा प्रेम प्रकट किया। शिवाजी अब प्रायः नित्य ही दरबार में जाने लगे।

पर वे कोर्निश कभी नहीं करते। साधारण-सानमस्कार करके अपने स्थान पर जाकर बैठ जाते थे। कई दिन देखते रहने के बाद आखिर एक दिन बादशाह पूछ ही बैठा—‘शिवा क्या तुमको दरबारी तौर-तरीके बतलाये नहीं गये? प्रत्युत्पन्न बुद्धि शिवाजी ने स्थिति समझ ली और बड़े सामान्य भाव से बोले—

“पिताजी ने मुझे दरबार के सारे रीति-रिवाज भली प्रकार बतला दिये हैं। पर मैं आपको बादशाह से अधिक अपना गुरुजन समझता हूँ। पिता के समान मानता हूँ। आपको कोर्निश करने में मुझे बनावट जैसी बात मालूम होती है। मैं आप में और अपने पिता में कुछ अन्तर समझूँ तो मुजरा अदा करूँ। मेरा निवेदन है कि आप मुझे मुजरे के बनावटी शिष्टाचार न करने की छूट देकर क्षमा करें।” शिवाजी का उपयुक्त उत्तर सुनकर बादशाह और भी खुश हो उठा। उन्हें दरबार में कोर्निश न करने की छूट मिल गई। शिवाजी ने चतुर बुद्धि का प्रयोग कर सौंप मारकर भी अपनी लाठी बचा ली। यही तो बुद्धि का वह खेल है, राजनीति की वह चाल है जो छली, कपटी और दुष्ट दुरात्माओं से बचाती और पार लगाती है।

पर यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। सच्ची भावनाओं वाला तेजस्वी पुरुष चातुर्य अथवा कौटिल्य को

अधिक प्रश्रय न दे पाता। दुरंगे दुपट्टे की नीति से उसे स्लानि होने लगती है और जल्दी ही वह अपना वास्तविक रूप उद्घाटित कर देता है। जिससे शत्रु अथवा मित्र कोई धोखे में न रहे और उसके उज्ज्वल कर्तव्य पर प्रवंचना का कलंक न लगने पावे। विडम्बनापूर्ण जीवन की तुलना में सच्चे सत्पुरुष मृत्यु को अधिक अंक दिया करते हैं।

शिवाजी जिस रास्ते पिता के साथ राजदरबार जाया करते थे उस पर कसाइयों की बहुत सी दुकानें पड़ती थीं। उनमें गौ-मांस बिका करता था। कभी-कभी किसी गऊ का कटा हुआ सिर भी टंगा हुआ दिखाई देता था। एक दिन एक कसाई को उन्होंने गौ-वध करते हुए पीट दिया और दूसरे दिन से दरबार में जाना छोड़ दिया।

शाहजी फिर धर्म संकट में पड़ गये। उन्होंने इस बार शिवाजी की बहुत कटु आलोचना की और कहा कि इस तरह सरेआम किसी आदमी को पीटना एक सरदार के लड़के को शोभा नहीं देता। तुम्हारी यह उद्धतता निश्चय ही हमारी इज्जत ले लेगी और हम भीख माँगने के योग्य हो जायेंगे।

शिवाजी को पिता की बात सुनकर बड़ा दुःख हुआ और अनुमति लेकर पूना चले गये। पूना आकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपना संगठन बनाना तथा प्रचार करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले उन्होंने पूना के आस-पास जंगल तथा पहाड़ों में रहने वाली मवाली जाति के लोगों का संगठन किया। मवाली लोग बड़े वीर और विनम्र आदिवासी थे। उनमें किसी सदुद्देश्य के लिये मर मिटने की भावना थी। पर उनको अशिक्षा तथा शराब पीने का व्यसन निकम्मा और निर्धन बनाये हुए था। उनकी दशा बड़ी खराब थी। शिवाजी ने उनमें शिक्षा का प्रचार किया और धन से उनकी सहायता भी की। उनके अंधविश्वास तथा निरुत्साह को दूर किया। कुछ दिनों के प्रयत्न के बाद मवाली लोगों में चेतना आ गई। उन्होंने अपना सुधार किया और मानव-जीवन का मूल्य समझा। जल्दी ही वे सब शिवाजी के अनुयायी बन गये और शिवाजी ने उन्हें एक प्रशिक्षित सेना के रूप में बदल दिया।

इधर दादाजी कोणदेव की मृत्यु हो जाने से पूना और सूया की जागीर के सारे अधिकार तथा उसका प्रबन्ध शिवाजी के हाथ में आ गया। जिससे उनकी शक्ति, प्रभाव तथा साधन और भी बढ़ गये। किन्तु उन्होंने अपना सर्वस्व देश, धर्म की रक्षा में ही अर्पण कर दिया।

सेना का संगठन और जागीर पर अधिकार हो जाने के बाद शिवाजी ने स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की नींव डालने का श्रीगणेश कर देने का विचार बनाया और उसके लिये अपने

मित्रों तथा सहयोगियों की एक सभा बुलाकर विचार विमर्श किया। शिवाजी के बाल्य-सखा तीन मवाली नौजवान एसाजी कंक, तानाजी मालसुरे और बाजी पालसकर, जो अपनी मवाली जाति के मुखिया-वर्ग में से थे, ने परामर्श दिया कि अभी राज्य स्थापना का काम प्रारम्भ न किया जाये। इसको कुछ समय के लिये स्थगित रखकर पहले सद्माद्रि पर्वत और जंगलों के रास्तों, गुफाओं, युद्ध के लिये उपयुक्त स्थानों और बचाव स्थलों की खोज और जाँच-पड़ताल कर ली जाये। शिवाजी को अपने इन सहयोगियों का परामर्श बहुत पसन्द आया और उन्होंने उतावली का त्याग कर सबसे पहले वही काम किया। मार्गों तथा मानचित्रों का ज्ञान न होना किसी भी सेना-संचालक के लिये एक हानिकर अयोग्यता मानी गई है। शिवाजी ने कई महीनों अपने विश्वस्त तथा अन्तरंग सहयोगियों के साथ सद्माद्रि तथा आस-पास के जंगलों को मथ डाला और चप्पा-चप्पा भूमि से परिचय प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सभी ओर से सन्नद्ध होकर उन्हें मवाली क्षेत्र के रोहिद दुर्ग से अपने उद्देश्य का प्रारम्भ किया। इस किले में रोहिदेश्वर नाम का एक मन्दिर था। किला और मन्दिर दोनों बीजापुर के नबाव के अधिकार में थे। किलेदार और मन्दिर का पुजारी नबाव बीजापुर का आदमी था। शिवाजी ने उसे पृथक् कर उसके स्थान पर अपना आदमी नियुक्त कर दिया।

समाचार बीजापुर पहुँचना ही था, पहुँचा भी। पर जब तक उस पर कोई कार्यवाही या जबाब तलवी हो, शिवाजी ने अपनी मवाली सेना तोरण के किले की ओर बढ़ा दी। आक्रमण करने से पूर्व शिवाजी ने एसाजी, तानाजी और बाजीजी को किलेदार के पास भेजकर कहलाया कि वह शान्तिपूर्वक किला हवाले कर देगा या उन्हें सैनिक कार्यवाही करनी होगी। शिवाजी की शक्ति और उनकी दृढ़ता देखकर किलेदार डर गया। तोरण पर शिवाजी का अधिकार हो गया। इसकी सूचना भी नबाव बीजापुर के पास पहुँची। उसका माथा ठनका और उसने शिवाजी के पिता को प्रेरित कर घटनाओं का जबाब मँगवाया। शिवाजी ने नीति से काम लिया। सीधे संघर्ष छेड़ देने के स्थान पर उन्होंने कहला भेजा कि दोनों किलों का प्रबन्ध ठीक नहीं चल रहा था। इसलिये उनको अपने संरक्षण में ले लिया है। इससे बीजापुर राज्य की ताकत बढ़ेगी और आय भी। जवाब पाकर नबाव खामोश हो गया।

तोरण का किला पुराना और जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। शिवाजी ने उसका सुधार करने के लिये खुदवाना

प्रारम्भ किया। संयोगवश उसमें उन्हें किसी पुराने नबाव का खाजना गढ़ा मिल गया। उन धनराशि को उन्होंने देवी की देन समझा और उससे सेना, अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद, रसद आदि का प्रबन्ध किया और उसी से पाँच-छः मील दूर एक आवश्यक स्थान पर राजगढ़ नाम का नया किला बनवाकर उसे साज-सज्जा से समर्थ बना दिया। शिवाजी की इस उन्नति से जनता का ध्यान उनकी ओर अधिक हो गया और हजारों नौजवान कम से कम वेतन पर उनकी सेवा में उत्साहपूर्वक भरती हो गये।

शिवाजी के विमातुल सम्भाजी मोहिते को शिवाजी की इस विकसित होती शक्ति से ईर्ष्या होने लगी और उसने उनके उत्थान को वहीं पर दबा देने की सोची। देश में जहाँ एक ओर शिवाजी जैसे लोग धर्म की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगाये हुए थे, वहाँ सम्भाजी मोहिते देशद्रोही उस पुण्य प्रयास में बाधा बनने में अपना भला देख रहे थे। मोहिते ने बीजापुर शिकायत लिख भेजी। शिवाजी ने उस हानिकर तत्व को धर्म-मार्ग से हटा देना उचित समझा और उसके अध्यक्षता एवम् उपाध्यक्षता के चाकण और सूया नामक दो दुर्गों पर आक्रमण कर दिया और साथियों के साथ उसे कैदी बना लिया। शिवाजी के इस काम ने उनका प्रभाव इतना बढ़ा दिया कि आस-पास और दूर-दूर तक के किलेदार उनसे भयभीत होकर उन्हें अपना नायक मानने लगे। इस प्रतिक्रिया के आधार पर जल्दी ही उनका अधिकार चाकण, इन्दरपुर, वारामती, कोडावत और पुरन्दर आदि किलों पर हो गया।

शिवाजी के इस विकास और विस्तार का समाचार जल्दी-जल्दी बीजापुर के नबाव के पास पहुँचने लगा जिससे वह बहुत ही चिन्तित हो उठा। उसने शाहजी पर जोर डाला कि वे शिवाजी को लिखें, उन्हें इस काम से रोकें और हथियाये हुए सारे किले राज्य को वापस दिलायें। शाहजी ने शिवाजी की भर्त्सना करते हुए उन्हें वैसा न करने को लिखा। किन्तु शिवाजी तो अब अपने स्वतन्त्र अभ्युदय की ओर पग उठा चुके थे। उन्होंने पिता को लिख दिया कि बीजापुर दरबार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और न मैं अपने को उसका मातहत ही मानता हूँ। मैं परमात्मा की आज्ञा से देश में स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का अपना कर्त्तव्य कर रहा हूँ। अपने इस पुण्य-कर्त्तव्य में अब मैं किसी का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ। शिवाजी का पत्र बीजापुर राज्य के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह और उसकी शक्ति को एक चुनौती था।

शिवाजी का उत्तर जब तक पहुँचा और नबाव बीजापुर कोई कार्यवाही करने को तैयार हुआ तब तक

२.३६ मरकर भी अमर हो गये जो

शिवाजी ने अपने एक सहयोगी आनाजी सोनदेव को कल्याण के किले पर अधिकार कर लेने का निर्देश दे दिया। आनाजी सोनदेव ने न केवल कल्याण के किले पर ही अधिकार कर लिया, बल्कि कल्याण के किलेदार अहमद को उसकी पुत्र-वधू के साथ गिरफ्तार कर लिया।

शिवाजी के सम्मुख मौलाना अहमद और उसकी पुत्र-वधू बन्दी के रूप में उपस्थित किये गये। अहमद की पुत्र-वधू एक अपूर्व सुन्दरी थी। उसका रूप देखकर सारा दरबार चकित रह गया। शिवाजी भी उसे एकटक होकर देखने लगे। अहमद और उसकी पुत्र-वधू दोनों के चेहरों पर उभरे भाव से यह आभास होता था कि जैसे वे समझ रहे हों कि शिवाजी नारी के रूप पर आसक्त हो उठे हैं। ऐसा ही कुछ विचार दरबारियों की भाव-भंगिमा से प्रकट होता था। आनाजी सोनदेव ने स्वयं यह चाहा कि शिवाजी शत्रु की स्त्री को अपनी सेविका बना लें जिससे कि यवनों द्वारा हिन्दू महिलाओं पर किये जाने वाले अत्याचार का प्रतिकार हो सके।

पर शिवाजी कितने बुद्धिमान् और विवेकशील व्यक्ति थे इसका अनुमान वहाँ उपस्थित व्यक्तियों में से कोई न कर सका। सभी ने उन्हें उस तराजू पर तोलने का प्रयत्न किया जिस पर लोलुप और कामपुरुष तोले जाते हैं। शिवाजी के हृदय में अपने विचारों के अनुरूप ही संयम तथा चरित्र का प्रकाश मौजूद था जिसके आलोक में वे बड़े पवित्र भाव से उस नारी का दर्शन कर रहे थे।

बड़ी देर तक देखते रहने के बाद वे बोले—'कैसा अनुपम तथा प्रशंसनीय रूप है। यदि मेरी माता भी इसी की तरह सुन्दर होती तो मैं भी आज कितना सुन्दर होता?'

शिवाजी की बात सुनकर सभा के लोगों को अपने कुत्सित विचार पर बड़ी स्नानि हुई और उनके मुख से सहसा ही 'धन्य-धन्य' के शब्द निकल पड़े। मौलाना अहमद तो श्रद्धा-विभोर होकर रो पड़ा और उसकी पुत्र-वधू कह उठी—'जो आदमी इतना नेक, ईमानदार और पाकचलन है, जो दुश्मन की औरत के साथ इतना इज्जत भरा सुलूक कर सकता है—वह एक दिन जरूर बड़ा आदमी होगा और दुनिया उसके नाम को सिजदा किया करेगी।'

कोकण प्रदेश का राजापुर नामक एक नगर बहुत समय से हजियों के अधीन चला आ रहा था। वहाँ की जनता उनके आततायी शासन में बहुत पीड़ित थी। यह विदेशी हब्बी उनकी सभ्यता और संस्कृति पर अघात करते हुए उसे मिटाकर अनार्यता का समावेश करने की कोशिश कर रहे थे। वहाँ के समाज-चिन्तक और जन-हितैषी लोग यथासाध्य उसका विरोध करते हुए तलवार के घाट

उतर रहे थे। परिस्थितियाँ अनानुकूल होने के कारण जन-आन्दोलन सफल नहीं हो पाते थे। इधर शिवाजी के अभ्युदय की सूचना सारे देश में फैलती जा रही थी। वह समाचार राजापुर भी पहुँचा। जनता को मानो डूबते हुए थाह मिल गई। उनके हृदय आशा से आलोकित हो गये। उन्होंने शिवाजी को अपनी यातनाओं का समाचार भेजा और उद्धार की प्रार्थना की। शिवाजी ने तुरन्त तैयारी करके राजापुर पर आक्रमण करके उसे अपने संरक्षण में ले लिया। शिवाजी की इस विजय से सारे देश में हर्ष की लहर दौड़ गई और सारा देश ही उनकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखने लगा।

कल्याण के किलेदार मौलाना अहमद और उसकी पुत्र-वधू को जब शिवाजी ने आदरपूर्वक मुक्त कर बीजापुर भेज दिया तो वह अपना स्पष्टीकरण देने वहाँ के नबाव आदिलशाह के दरबार में गया और सारी घटना कह सुनाई। दरबार में उपस्थित सारे लोगों ने शिवाजी के चरित्र की प्रशंसा की किन्तु आदिलशाह उस प्रशंसा में शामिल न हो सका। उसे अपने उन किलों की चिन्ता थी जिन्हें शिवाजी ने अपने अधिकार में ले लिया था। उसके स्वार्थी हृदय ने शिवाजी के पिता शाहजी को पुत्र कार्यवाहियों में सम्मिलित समझा। नबाव ने उन पर दबाव डाला के वे अपना दोष स्वीकार करें और जैसे भी हो शिवाजी की कार्यवाहियों को रोकें।

शाहजी ने बहुत कुछ अपनी निर्दोषता का प्रमाण दिया और कहा कि लड़का मेरे हाथ से बाहर हो गया है। उस पर मेरे कहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। पर नबाव के सहज अविश्वासी हृदय ने उनके कथन पर विश्वास नहीं किया। उसने खुद एक पत्र शिवाजी को लिखा और शाहजी से भी लिखवाया जिसका सारांश इस प्रकार था—'तुम्हारी यह हरकतें बहुत आपत्तिजनक हैं। जिसका पिता बीजापुर दरबार का मनसबदार हो उसे ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे दुश्मनी बढ़े। भलाई इसी में है कि सारे किले नबाव को लौटा दिये जायें और शिवाजी पहले की तरह ही बाजीपुर के दरबारी हो जायें।'

पर शिवाजी पर इन पत्रों का कोई प्रभाव न पड़ा। उन्होंने तो देश, धर्म और समाज की रक्षा के लिये स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना का संकल्प ही लिया था। किसी भय अथवा लोभ से विचलित हो सकना उसके लिये सम्भव न था। स्वार्थ अथवा भय से परे होकर ही तो देश धर्म की रक्षा की जा सकती है। शिवाजी ने स्पष्ट लिख दिया—

“मेरे पिता बीजापुर दरबार के मनसबदार हैं मैं नहीं। स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थिति में यह आवश्यक नहीं

कि पुत्र पिता की स्थिति के अनुसार कार्य करे। पिता जिसका मातहत हो पुत्र अपने को उसके अधीन समझे और उसकी आज्ञाओं का वैसे ही पालन करे जैसा कि उसका पिता। मैं बीजापुर दरबार में आ सकता हूँ। पर शर्त यह है कि मेरे जीते हुए किलों पर मेरा अधिकार स्वीकार किया जाये।”

शिवाजी का स्पष्ट तथा निर्भीक उत्तर पाकर नबाब आदिलशाह आपे से बाहर हो गया और चिल्ला पड़ा कि शिवा बागी है। किलों पर उसका अधिकार नहीं माना जा सकता है। उसने उन पर नाजायज कब्जा किया है। मैं उसकी बढ़ती हुई ताकत को कुचल डालूँगा और हमेशा-हमेशा के लिये नेस्तनाबूद कर दूँगा।

कहने को तो नबाब यह कह गया। पर सच्ची बात यह थी कि वह शिवाजी की ताकत, उसकी सच्ची धर्मनिष्ठा और साहसिक वीरता से मन ही मन डर रहा था। वह अच्छी तरह जानता था कि शक्ति के आधार शिवाजी को किसी प्रकार वश में नहीं लाया जा सकता। उसने कूटनीति और छल प्रपंच से काम लेने का निश्चय किया। स्वार्थी, अनीतिवान तथा कायर व्यक्ति के पास छल, कपट के सिवाय और सम्बल ही क्या हो सकता था? उसने धोखे से शाहजी को कैद करा लिया।

शाहजी को धोखे से गिरफ्तार करने वाले जाति द्रोही का नाम था—बाजी घोर पाण्डे बड़ा स्वार्थी तथा निकृष्ट व्यक्ति था। ऐसे व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये शत्रुओं के प्रति तो बड़े सच्चे तथा वफादार रहते हैं, लेकिन अपने देश व समाज के लिये नहीं रह पाते। जिस सच्चाई और भक्ति का प्रमाण वे विपक्षियों का हित साधन में देते हैं, उसका प्रमाण यदि वे देश, धर्म तथा समाज के हित में दें तो उनका अधिक सम्मान और अधिक लाभ हो सकता है। उनका नाम इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों में लिखा जाये। पर जिनका जीवन गर्सित और संस्कार विकृत रहे होते हैं उनकी मनोगति इसी प्रकार विपरीत दिशा में रहती है। उन्हें शत्रुओं की चाटुकारी करने और अपनों को हानि पहुँचाने में ही सुख-सन्तोष अनुभव होता है। ऐसे ही दुर्भाग्य वाले व्यक्ति देश तथा धर्मद्रोही का अपना नाम पाकर इतिहास के कलंकित पृष्ठों में लिखे जाया करते हैं।

बाजी घोर पाण्डे ने शाहजी को छल से एक प्रीति भोज में निमन्त्रित कर अपने घर में उन्हें बन्दी बना लिया। चालक आदिलशाह ने इस विश्वासघात का कलंक अपने किसी जाति भाई पर न आने देकर एक हिन्दू पर ही लगवाया। शाहजी को उसने एक छोटी-सी कोठरी में बन्द कर दिया और उसका द्वार ईटों से चुनवाकर थोड़ी सी सांस

रहने दी। फिर उसने शाहजी को विवश किया कि यदि तुमने चिट्ठी लिखकर शिवा को उसकी हरकतों से रोक कर यहाँ न बुलाया या वह तुम्हारे बुलाने से न आया तो दरवाजे का यह बाकी हिस्सा भी बन्द कराकर तुम्हें इसी में जिन्दा दफन कर दिया जायेगा। इसलिये खैरियत इसी में है कि तुम शिवा को यहाँ आने के लिये लिखकर मजबूर करो।

मजबूर शाहजी के पास और चारा ही क्या हो सकता था? उन्होंने शिवाजी को सारी स्थिति लिखा भेजी। शिवाजी बड़े भयानक विचार संकट में पड़ गये। यदि वे पिता की रक्षा के लिये बीजापुर दरबार को आत्म-समर्पण करते हैं तो न केवल उनके यश को ही कलंक लगेगा बल्कि देश-धर्म की रक्षा के बोये अंकुर नष्ट हो जायेंगे और यदि वे अपने सिद्धान्त की रक्षा करते हैं तो निश्चय ही पिता से हाथ धोना पड़ेगा। वे दिन-रात चिन्तित तथा विमग्न रहने लगे।

गहनतम मानसिक द्वन्द्वों तथा संकल्प-विकल्पों के बाद सार्वजनिक कल्याण भावना पर एक बार पिता के प्रति पुत्र का मोह विजयी हो गया और उन्होंने बीजापुर जाकर आदिलशाह से सन्धि करने का विचार बनाया। इस विचार का प्रतिपादन हिन्दुत्व के भविष्य का घातक था। यदा-कदा मनुष्य का मोह और मानसिक दुर्बलतायें प्रवचना के जाल में फँसा कर उसको गलत दिशा की ओर प्रेरित कर देती हैं। इस मनोसंकट के समय मनुष्य को सावधानतापूर्वक विवेक का ही अवलम्ब लेकर और अपने को तटस्थ बना कर सदस्यता तथा परिणाम की महत्ता के प्रकाश में किसी निर्णय का निर्धारण करना चाहिये। किञ्चित कमजोरी से शिवाजी का व्यक्तिगत मोह ‘सर्वजन-हिताय’ की महानता पर आच्छादित हो गया। तथापि जो अपने जीवन में सच्चा होता है और जिसका संग उत्तम होता है उसके उगमगाते कदम को रोकने वाले संयोग आ ही जाते हैं।

शिवाजी की धर्मपत्नी साईबाई को उनके विचार का पता लगा। उन्होंने अवसर पाकर शिवाजी को उस दुविधा के अन्धकर में प्रकाश दिया। उन्होंने कहा—आपने यह विश्वास किस आधार पर कर लिया कि आपके बीजापुर जाने पर यबन आदिलशाह आपको भी बन्दी नहीं कर लेगा? मेरा आत्मा कहती है कि बीजापुर जाने में कल्याण नहीं है। आदिलशाह पिताजी को तो नहीं छोड़ेगा साथ ही आप पर भी संकट लाकर हिन्दू-जाति का भविष्य ही नष्ट कर देगा। मेरा विनम्र परामर्श है कि आप इस समय दूरदर्शितापूर्ण राजनीति से काम लें। आप दिल्ली के मुगल बादशाह शाहजहाँ का पक्ष ग्रहण करें। उसे लिखें कि यदि वह इस समय पिताजी की रक्षा करने में आप की सहायता

२.३८ मरकर भी अमर हो गये जो

करें तो उसके बदले में आप उसे दक्षिण के मुस्लिम राज्यों का दमन करने में सहयोग देंगे। दिल्ली का बादशाह अपने साम्राज्य विस्तार में दक्षिण के मुस्लिम राज्यों को सबसे बड़ा बाधक समझता है। वे बाधक हैं भी। मेरा विश्वास है कि साम्राज्य लिप्सु तथा स्वार्थी मुगल बादशाह आपको अपने पक्ष में लाने के लिये अवश्य ही आदिलशाह से पिताजी को मुक्त कर देने के लिये विवश करेगा।

शिवाजी को जैसे आधार मिल गया। उनका मानी हृदय पत्नी को धन्यवाद दे उठा। उन्होंने शाहजहाँ को लिखा! साईबाई का अनुमान ठीक निकला शाहजहाँ ने शिवाजी तथा शाहजी का पक्ष पाने के लिये बीजापुर के आदिलशाह को फरमान भेज कर शाहजी को मुक्त करा दिया।

शिवाजी की सफल राजनीति से पराजित होकर बीजापुर का नबाव आदिलशाह और जल गया और अब उसने उनको छल से मरवा डालने की ठानी। उसने फिर किसी विश्वासघाती की तलाश की और बाजी घोर पाण्डे की तरह उसे एक बाजी श्यामराज नाम का जाति द्रोही मिल गया। आदिलशाह ने उसे धन और पद का लोभ दिया और वह उसी क्षेत्र में जाकर घात में लग गया जहाँ शिवाजी उस समय रह रहे थे। बाजी घोर पाण्डे के विश्वासघात और पिता के असावधान विश्वास से शिवाजी शिक्षा ले चुके थे। अस्तु उन्होंने किसी शत्रु पक्षीय अथवा अनबूझ व्यक्ति पर सहसा विश्वास कर लेना राजनीति में एक कमजोरी मान लिया था। निदान उन्होंने गुप्तचरों द्वारा बाजी श्यामराज के रंग-ढंगों का पता लगा लिया। जाति-द्रोही विजातियों से अधिक भयंकर तथा दण्डनीय होता है। शिवाजी ने तुरन्त ही उस दुष्ट श्यामराज पर हमला कर दिया। वह कायर शिवा की मार खाकर जवाली के राजा चन्द्रराव की सहायता से बच निकला और जंगलों की ओर भाग गया।

राजा चन्द्रराव को चाहिये था कि वह उस धर्मद्रोही श्यामराज को बन्दी बनाकर शिवाजी के सुपुर्द कर देता। किन्तु वह स्वयं ही शिवाजी के अभ्युदय से मन ही मन जल रहा था। उसकी यह जलन श्यामराज को सहायता के रूप में प्रकट हो गई और वीर शिवा ने उसे भी धर दबाया। इसके पहले कि ऐसे स्वार्थी तथा अदूरदर्शी राजा को सत्ताविहीन कर दिया जाये, शिवाजी ने प्रयत्न किया कि वह भारत को यवन सत्ता से मुक्त कराने में उनके झण्डे के नीचे आ जाये पर जिसका विवेक स्वार्थ के विष से नष्ट हो चुका हो, ईर्ष्या की आग में जल चुका हो वह इस प्रकार की महानताओं को क्या समझ सकता था? वह तैयार न

हुआ। धर्म-युद्ध में संकट उठाने की अपेक्षा उसने निर्लज्ज भोग-विलास का कीड़ा बना रहना ही ज्यादा पसन्द किया। शिवा ने जवाली पर आक्रमण कर उसे राज्य च्युत कर कह दिया कि जिस देश के उद्धार में जो कायर राजा हाथ नहीं बटा सकता उसे कोई अधिकार नहीं कि वह उसके किसी भूखण्ड पर शासन करे। उन्होंने जवाली के किलों तथा महावालेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और दो मील की दूरी पर प्रतापगढ़ नाम का एक नया किला और अपनी इष्ट देवी भवानी का मन्दिर स्थापित किया।

इस प्रकार अपना बल तथा संगठन बढ़ाकर शिवाजी समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार दक्षिण के मुसलमानी राज्य और दिल्ली के मुगल साम्राज्य के भाग भी जीतने और अपने हिन्दू साम्राज्य में मिला लेने लगे। उन्होंने जल्दी ही अहमदनगर, जुन्नार तथा पेड़ गाँव से मुगल-सत्ता का अन्त कर दिया और इस प्रकार चार सौ मील लम्बे-चौड़े स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की।

इसी समय शाहजहाँ की मृत्यु हो जाने से औरंगजेब जो उस समय कर्नाटक को जीतने, बीजापुर को बर्बाद करने के विचार से दक्षिण आया हुआ था, आदिलशाह से सन्धि करके तख्त के लिये अपने भाइयों से लड़ने दिल्ली वापस चला गया। औरंगजेब के वापस चले जाने के बाद शिवाजी ने कौकण तथा जंजीरा के इलाके मुसलमान सूबेदारों से छीन कर अपने अधिकार में कर लिये।

आदिलशाह जो अब तक शाहजहाँ और शिवाजी की सन्धि के कारण चुप बैठा था, औरंगजेब से सन्धि हो जाने से, शिवाजी के विरुद्ध पुनः सक्रिय हो गया। उसकी आँख में शिवाजी तथा उनका अभ्युदय काँटे की तरह खटक रहा था। वह किसी भी मूल्य पर उनको बन्दी बनवाना या मरवा डालना चाहता था। निदान उसने भरे दरबार में शिवाजी को पकड़ने या मार डालने के लिये एक बहुत बड़े पुरस्कार तथा पदवी की घोषणा कर दी। हिन्दू या मुसलमान कोई भी सरदार अब शिवाजी के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर रहा था। पर कई दिन बाद मौत का मास एक अफजल खॉ नामक सरदार उन पुरुष सिंह शिवराज को पकड़ने या मारने के लिये तैयार हो गया। ठीक ही कहा गया है कि लोभ मनुष्य के विनाश का कारण होता है। बेचारा अफजल बैठे बैठाये उसके जाल में फँस गया और मारा गया।

अपनी यात्रा पर चलते समय वीर शिवा के तेज की कल्पना करके उसका हृदय दहल गया और उसे मरने की शंका होने लगी। उसने सोचा यदि मैं मारा गया तो मेरे पीछे बेगमों का क्या होगा? “विनाश काले विपरीत बुद्धिः”—अफजल ने अपनी एक-सौ त्रैसठ बेगमों को चलते

समय अपनी तलवार से कत्ल कर डाला—ऐसा व्यभिचारी तथा इतनी निरीह नारियों का वध करने वाला एक पापी कामुक पुरुष धर्मनिष्ठ शूरमा को मारने या बन्दी बनाने के लिये पूना की ओर चला—इसे विधि की विडम्बना के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

अपने सिर पर मौत की काली छाया लिये वह यवन सरदार एक बड़ी सेना और अस्त्र-शस्त्र लेकर तुलजापुर के रास्ते मार्ग के देव मन्दिरों, मूर्तियों तथा पवित्र स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करता, गायों तथा जनता को मारता और नगर गाँव लूटता हुआ पूना की ओर रवाना हुआ। उसके आने तथा अत्याचारों का समाचार पाकर शिवाजी ने जवाली आकर प्रतापगढ़ के किले में अपना डेरा डाल दिया। अफजल को जब पता चला तो वह मार्ग बदल कर जवाली से कुछ ही दूर बाई नामक स्थान पर जाकर ठहर गया।

अफजल खाँ और शिवाजी में सम्वादों का आदान-प्रदान होने के बाद यह तय हुआ कि दोनों जवाली में मिलकर सन्धि की शर्तें तय कर लें। अफजल उन्हें उनके जीते हुए इलाके दिला देगा और शिवाजी बीजापुर की अधीनता स्वीकार कर लेंगे। पर दोनों अपनी-अपनी ओर से अपने लक्ष्य तथा मन्तव्य में सतर्क थे। अफजल शिवाजी को अपने निकट बुलाकर धोखे से मार डालना चाहता था और शिवाजी उसको, उसके विश्वासघाती इरादे को धूल में मिला देना चाहते थे।

अनेक कटु अनुभवों ने शिवाजी को किसी भी शत्रु पर किसी भी मूल्य पर विश्वास न करने से दृढ़ बना दिया था। उन्होंने अफजल पर विश्वास तो नहीं किया तब भी अपने गुप्तचरों तथा अफजल के दूत कण्णजी भास्कर को चतुरतापूर्वक अपनी ओर मिला कर उसकी दुर्भावना को प्रमाणित कर लिया। वे सहसा ही किसी आशंका से प्रेरित होकर उसे हानि नहीं पहुँचाना चाहते थे। क्योंकि आशंकावश अच्छे इरादों का बुराई से बदला देना वे मनुष्यता के विरुद्ध समझते थे।

निर्णय के अनुसार अफजल खाँ जवाली आया और एक अलग खेमे में शिवाजी उससे अकेले मिलने के लिये गये। शिवाजी को आया देखकर अफजल बड़ी उत्सुकता से दोनों हाथ फैला कर उनको भेंटने के लिये बढ़ा। शिवाजी भी बढ़ गये। बस भेंट होते ही अफजल ने उन्हें अपनी बगल में कसकर दबा लिया और पीठ के पीछे बैँधी तलवार निकाल कर तुरन्त उसके सिर पर वार कर दिया। पर इस वार का कोई प्रभाव शिवाजी पर नहीं हुआ। उल्टे उसने देखा कि शिवाजी का बायाँ हाथ उसका पेट चीरता हुआ निकल गया। उसने फिर तलवार की नोक शिवाजी के पेट में घुसेड़ी। तब भी कोई असर न हुआ और शिवा की एक

पैनी कटार उसकी कोख में घुस गई। अफजल की सारी आँतें बाहर निकल पड़ीं और वह विश्वासघाती यवन सरदार जमीन पर गिरकर ढेर हो गया।

शिवाजी चलते समय शरीर में कवच और सिर पर पगड़ी के नीचे झिलम पहन कर गये। उन्होंने अपने कमाबखी अँगरेखे के नीचे एक कटार और बायें हाथ में वधनखा पहन रखा था। उनका इरादा अफजल को मारने का नहीं था। फिर भी उसके विश्वासघात का दण्ड देने के लिये वे यह सब प्रबन्ध करके ले गये। शत्रु से सतर्कता ही शूरवीरों को संसार में बड़े-बड़े काम करने के लिये सुरक्षित रखा करती है।

अफजल की मृत्यु और उसकी सेना की पराजय के बाद बीजापुर का आदिलशाह तो ठण्डा पड़ गया पर मुगल बादशाह औरंगजेब के हृदय में आग लग गई। वह दक्षिण में शिवाजी के विस्तार को दिल्ली पर खतरा समझता था। निदान उसने भी उन्हें बन्दी बनाने का षडयन्त्र रचा। उसने जयसिंह नाम के एक हिन्दू राजा को दूत बनाकर शिवाजी के पास भेजा। जयसिंह ने विश्वास दिलाया कि यदि वे उनके साथ चलकर औरंगजेब से मिल लें तो वे उनको उससे महाराजा की उपाधि, जीते हुए इलाके और दरबार में एक ऊँचा पद दिलवा देंगे। शिवाजी ने इसे दिल्ली के बादशाह के निकट रहकर अपने विशाल मन्तव्य के लिये एक अच्छा अवसर समझा और जयसिंह की बातों पर विश्वास कर लिया। सतर्कता से थोड़ा ही असावधान होते ही शिवाजी धोखा खा गये और आगरे में बन्दी बना लिये गये।

जिस समय उनको चेत हुआ उन्होंने अपने को आगरे के किले में बन्दी पाया। किन्तु उस असहाय तथा बन्दी अवस्था में भी धीर-वीर शिवाजी ने आशा, उत्साह तथा विवेक का साथ नहीं छोड़ा और बराबर भय मानने के स्थान पर मुक्ति का उपाय सोचते रहे। सब पहले तो उन्होंने, व्रत, उपवास तथा उपासना के बहाने बहुत-सा दान-पुण्य प्रारम्भ किया। बहुत दिनों तक वे बड़े-बड़े टोकरे भर कर मेवा, मिठाई तथा फल दान करते और उपहार के रूप में दरबार में भेजते रहे। अन्त में उन्होंने अपने बीमार होने की घोषणा की और यह भी कहला दिया कि उनकी हालत बहुत खराब है। शायद ही बचें। साथ ही उन्होंने अन्तिम समय में बहुत-सा दान-पुण्य करने की बात भी कही। उनका पुत्र शम्भाजी जो कि आगरे में ही नजरबन्द था, पिता के दान-पुण्य की सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये नियुक्त किया गया। वह बहुत-से फलों के तथा मिठाइयों के टोकरे पिता के पास ले जाता और उनका स्पर्श कराकर बाहर लाकर गरीबों को बाँट देता। कुछ समय तो बाहर-भीतर जाते-आते टोकरों की तलाशी होती

२.४० मरकर भी अमर हो गये जो

रही। पर जब यह क्रम रात-दिन चलने लगा तो पहरेदार भी थक कर लापरवाह हो गये। टोकरे यों ही बिना तलाशी के बाहर जाने लगे। तभी एक बार भौका पाकर शिवाजी तथा शम्भाजी फलों के टोकरों में बैठकर कैद से बाहर निकल आये और सीमा पर अपने लोगों द्वारा रखे घोड़ों पर बैठ कर आगरा से रास्ता बदलते हुए पूना जा पहुँचे। इस प्रकार पुरुष सिंह अपनी चतुरता से शत्रुओं के पंजे से बाहर निकल गये।

उसके बाद शिवाजी ने मुगलों का और बहुत-सा इलाका जीत लिया और दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना बनाई। किन्तु तभी देश के दुर्भाग्य से चैत्र शुक्ला नवमी, सम्वत् १७३७ को उनका स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास से पूर्व उनके राज्य की जनता तथा सरदार, सामन्तों ने उनका विधिवत् एक विशाल हिन्दू-राज्य के महाराजा के रूप में अभिषेक किया और वे छत्रपति महाराज शिवाजी के नाम से उस यवन-काल में एक स्वतन्त्र हिन्दू शासक तथा धर्म-रक्षक घोषित किये गये। अभिषेक के बाद उन्होंने पुर्तगालियों से बेसीन का क्षेत्र और अंग्रेजों से कर्नाटक छीनकर उनसे चौष दसूल की।

शिवाजी के बाद उनका पुत्र शम्भाजी राजा हुआ। वह एक विलासी तथा कायर व्यक्ति निकला। यदि शम्भाजी संयमपूर्वक अपने वीर पिता के पद चिह्नों पर चला होता, तो तब ही से भारत का इतिहास और ही तरह के नामों, कामों तथा घटनाओं के साथ लिखा जाने लगता।

जिस समय विधर्मी शासकों ने हिन्दू-धर्म और भारतीय-संस्कृति को नष्ट करने का अभियान आरम्भ किया और उसके फलस्वरूप हिन्दुत्व की नींव खोखली होने लगी, तो देश के अनेक भागों में ऐसी स्वाभिमानी और स्वधर्माभिमानी आत्माओं का अविर्भाव हुआ था, जिन्होंने अपने स्वार्थ और कष्टों की चिन्ता छोड़कर अपनी समस्त शक्ति को जाति और देश की रक्षार्थ उत्सर्ग कर दिया। पर इन सबका मार्ग और कार्य-प्रणाली, अपनी प्रकृति और साधनों के अनुरूप ही थी। ऐसी वीरात्माओं में हम महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, दुर्गादास, महाराणा राजसिंह, महाराज छत्रसाल आदि के नाम ले सकते हैं। यद्यपि देशभक्ति और आत्म-त्याग की दृष्टि से इन सबका दर्जा प्रायः समान ही समझना चाहिये, पर उद्देश्य में सफलता प्राप्ति की दृष्टि से शिवाजी को प्रथम स्थान दिया जा सकता है।

पहली बात तो यह थी कि शिवाजी के अतिरिक्त अन्य जितने भी देशभक्तों के नाम हमने गिनाये हैं वे पहले से किसी न किसी रूप में साधन सम्पन्न थे। वे उच्च स्थिति के घरों में जन्मे थे और उनके पूर्वजों की महिमा के कारण

ही जनता उनके प्रति भक्तिभाव रखती थी। पर शिवाजी महाराज सर्वथा नगण्य स्थिति में से उठे थे और उनके पूर्वजों में भी कोई ऐसा न था जिसने महान कार्य करके ख्याति प्राप्त की हो। उनके पास धन-सम्पत्ति के नाम पर भी कोई बड़ी जायदाद या खजाना न था। विद्या, शिक्षा, अनुभव की दृष्टि से भी उनको कोई विशेष सुयोग प्राप्त नहीं हुआ था। पर इन सब अभावों के होते हुए भी उन्होंने केवल अपनी सूझ-बूझ और साहस के बल पर कई बड़े-बड़े राज्यों और दिल्ली की बादशाहत का मुकाबला किया और अपने अल्प साधनों से ही सबको पीछे हटाते हुए अपने राज्य की जड़ जमा दी। उनका शासन-संगठन इतना सुदृढ़ और कार्यक्षम सिद्ध हुआ कि कुछ समय बाद उनके प्रतिनिधि पेशवाओं ने मुगल सल्तनत को जर्जर कर दिया और एक दृष्टि से भारतवर्ष के एक बड़े भाग को विदेशी शासन के प्रभाव से मुक्त कर दिखाया। यद्यपि उसी अवसर पर अकस्मात् यूरोपियन लोगों का हस्तक्षेप हो जाने से नक्शा बदल गया पर महाराज शिवाजी की नीति की प्रशंसा और उनकी महानता आज तक अधुण है।

महाराज शिवाजी की इस अनुपम सफलता का एक प्रधान कारण उनकी समवानुकूल कार्य-प्रणाली और परिस्थिति के अनुसार चलने का गुण था। उस समय जहाँ क्षत्रिय वीर प्राचीन परम्परा का ध्यान रखकर अपनी कई गुनी बादशाही सेना का मुकाबला सामने आकर करते थे और क्षत्रियत्व की आन का पालन करने के नाम पर परिस्थिति का ख्याल न करके सब के सब वहीं पर कट मरते थे, वहाँ शिवाजी ने अपने साधनों को अल्प देखकर आरम्भ में छापा मार युद्ध की नीति का अवलम्बन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र के पहाड़ी इलाके में बड़ी-बड़ी सरकारी सेनायें भी शिवाजी के मुट्ठीभर सैनिकों से मात खा गईं। इससे उसके सहायकों का उत्साह बढ़ता गया और अन्य स्थानों के हिन्दुत्व के अभिमानी भी अप्रत्यक्ष रूप से उसके सहायक बनते चले गये, जिससे अन्त में शत्रु के हौसले पस्त हो गये और उसने शिवाजी के प्रभाव में इलाके को छोड़ देने में ही चैर कमज़ी। दूसरी विशेषता थी उनकी पूर्ण जिस्पृहता। जैसा हम जान चुके हैं कि उन्होंने अपना समस्त राज्य समर्थ गुरु रामदास की झोली में धर्म रक्षा के लिये अर्पण कर दिया था और स्वयं एक व्यवस्थापक के रूप में उसका संचालन करते थे। ऐसी निष्काम भावना तथा समय सूचकता से कार्य करने का ही परिणाम था कि वे मातृभूमि के उद्धार में इतनी अधिक सफलता प्राप्त कर सके।